समराङ्गण-सूत्रधार-भाग-तृतीय

प्रासाद-निवेश

A new light on history of
Temple art & architecture
—Brahmana, Bauddha &
Jaina

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय
संस्कृत विभाग, चण्डीगढ़

समर्पण

प्रासाद निवेश को
मौलिमालायमान कृति
भुवनेश्वर लिंगराज की स्मृति में—

शुक्लोपाह्व
द्विजेंद्र नाथ

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

लेखक की कृतियां —

भगवान् रुद्राधिदेव महादेव एवं भगवती दुर्गा की कृपा से मैंने संस्कृत वाङ्मय के इस अनधीत अनुसन्धत्त शाखा के अवगाहन से भारतीय वास्तु-शास्त्र के सामान्य शीर्षक-दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन को समाप्त कर दिया।

शुभं भूयात् सनातनम्
विदुषां वशंवद

१ वास्तु विद्या एवं पुर निवेश
२ भवन निवेश भाग—१
३ भवन-निवेश भाग—२
४ प्रासाद निवेश भाग—१
५ प्रासाद निवेश भाग—२
६ प्रतिमा विज्ञान
७ प्रतिमा लक्षण
८ चित्र-लक्षण
९ चित्र एवं यन्त्रादि शिल्प भाग—१
१० चित्र एवं यन्त्रादि शिल्प भाग—२

निवेदन

हिन्दी मे वास्तु-शास्त्र पर प्रथम कृतियो का श्रीगणेश मैंने १९५४ ई० में अपने प्रथम प्रकाशन—भारतीय-वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश के द्वारा किया था।

उत्तर-प्रदेश-राज्य की ओर से हिन्दी मे ऐतद्विषयक अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे निम्नलिखित चार ग्रन्थो—

१. भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२. भारतीत वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-विज्ञान

३. भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-लक्षण

४. भारतीय वास्तु-शास्त्र—चित्र-लक्षणम् (Hindu Canons of Painting)—पर अनुदान प्राप्त हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्य में वास्तु-शिल्प के ग्रन्थो के प्रणयन का मुझे प्रथम सौभाग्य एवं श्रेय प्राप्त हो सका। उत्तर-प्रदेश-राज्य की हिन्दी-समिति ने इनमें से प्रथम दो कृतियो पर पारितोषिक भी प्रदान किया। अतएव इस दिशा मे अग्रसर होने के लिये लेखक ने केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-सचिवालय से भी इस प्रकाशन मे साहाय्यार्थ प्रार्थना की। १९५६ में शेष छहो ग्रन्थो के लिये केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से भी अनुदान स्वीकृत हो गया। पुन. नयी उद्भावनाओं एवं सततध्ययनानुसन्धान-गवेषण-मनन-चिन्तनोपरान्त, इन छहो ग्रन्थो को निम्न अध्ययनो में विभाजित किया :—

भवन निवेश (Civil Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

टि० मूल से तात्पर्य मूल-आधार, मूल-परिष्कार एवं मूल-सिद्धान्तो पर

आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य पर नवीन प्रकाश—*a new light on Temple Art & Architecture* है।

टि० २ प्रासाद पद को देव-प्रासाद एवं राज-प्रासाद इन दोनों के रूप में ही लोग गतार्थ करते आ रहे थे, परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार के अध्ययन एवं अनुसन्धान से प्रासाद-निवेश में हम *Palace-architecture* को *Temple architecture* में गतार्थ नहीं कर सके—दे० अध्ययन।

चित्र, यन्त्र एवं शयनासनादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)

भाग प्रथम	अध्ययन एवं अनुवाद
भाग द्वितीय	मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

भगवती सर्वमंगला की कृपा से यह भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक-दश ग्रन्थ अनुसन्धान-प्रकाशन-आयोजन आज समाप्त हो गया और अब दूसरे आयोजन (शिल्प शास्त्र—History of Silpa-Sastra on the lines of History of Dharma-Sastra) का भी श्रीगणेश होने जा रहा है। पंजाब विश्वविद्यालय ने इस प्रोजेक्ट को फर्स्ट प्रारेटी देकर यू०जी०सी० से इस फोर्थ प्लान पीरियड के लिये ग्रांट भी स्वीकृत करा दी। अतः वर्तमान उप-कुलपति-महाभाग लाला सूरजभान जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने संस्कृत-वाङ्मय के इस अनुसन्धान विषय पर बड़ी दिलचस्पी ली।

इस निवेदन में जगद्गुरु-स्वामी शंकराचार्य-काम-कोटि-पीठम्-काञ्ची-पुरम् को नहीं भुलाया जा सकता जिन्होंने प्राची विलासमान्त्र-सदस में मुझे दो बार शिल्प व्याख्यान के लिये निमन्त्रित किया और इसी महाप्रदेश (इलिया-थागुड्डा एवं काञ्चीपुरम) में यह नया अनुसन्धान ठाना।

अस्तु, अन्त में वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज-धाराधिप-भोजदेव विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमें वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन है। यह बड़ा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायों की योजना भी गड़बड़ है। हमारे देश में एक समय था, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल

विशेषकर मन्दिर निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एव प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर मे यह स्थापत्य कौशल निम्न श्रेणियो (शूद्रादि जातियो) मे क्यो चला गया ? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत मे विलुप्त हो गई। दक्षिण मे कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र ज्ञान वहा भी एक प्रकार से परम्परा मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु कोष न कोई वास्तु-सम्बन्धी टीका ग्रन्थ। ऐसी अवस्था मे वास्तु पदावली का अर्थ एव उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बडे ही असमञ्जस एव एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरालोक गूढार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु शास्त्र सागर का मैं यथाकथञ्चित् अपने प्रज्ञापोत् के द्वारा ही सतरण कर सका।

गर्व तो नही परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियो के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि सस्कृत के ये पारिभाषिक एव वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओ एव पौराणिक अतिरञ्जनाओ के आगार नही है जैसा कि तथाकथित पुराविद् हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हे। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एव अनुसधान मे कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथा-निर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव मे इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद मे वास्तव मे बडी कठिनता का अनुभव करना पडा है।

अन्त मे यह भी पाठक ध्यान देवें कि आधुनिक विद्वानो ने जितनी कलम चलाई, उन्होने प्रासाद-स्थापत्य Temple Art-cum-architecture के मूलाधारो एव मूल सिद्धान्तो के क्रोड में इस वास्तु का मूल्याकन नही कर सके। अत यह प्रथम प्रयास है। आशा है विद्वज्जन पाठकजन अनुरागीजन यह अध्ययन पढकर कुछ न कुछ अवश्य इस प्रयत्न का मूल्याकन करेंगे।

छपाई के सम्बन्ध मे प्रत्येक ग्रन्थ मे सकेत किया ही है। अत इस उक्ति के अतिरिक्त और क्या लिखे —

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्यव प्रमादत
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव ।

टि० छापखाने म जल्दबाजी म जो कही २ गडबडिया है उनका अनुक्रमणा म ठीक कर दिया गया है।

मूल का ससकरण —पूर्व प्रकाशित ग्रन्था म एक नवीन व्याख्या से

वास्तु, शिल्प चित्र इन तीनो पदो का अर्थ अवगम्य हो गया होगा। वास्तु का सीमित अर्थ भवन निवेश से है, शिल्प का सीमित अर्थ कला से है (जैसे मृण्मयी, काष्ठमयी, पाषाणी, धातुत्या आदि)। चित्र का भी सीमित अर्थ चित्र-कला से है। अतएव प्रासाद निवेश में ये तीनो अग आवश्यक हैं—प्रासाद-कलेवर, प्रासाद-प्रतिमायें प्रासाद-चित्रण। अतएव प्रासाद-निवेश भारतीय स्थापत्य का मौलिमालायमान तथा चर्मो त्कर्षविमान यहा पर सम्पन्न हुआ। अत. समराङ्गण-सूत्रधार के मूल परिष्कार में हम ने इन अध्यायो को पहले भवन-निवेश से, पुन राज-निवेश एवं राजमी-कलाओ—यन्त्र चित्रादि शिल्प-कलाओ—और अन्त में यथानिर्दिष्ट प्रासाद-निवेश के इस वास्तु-सागर के पारावार पर अपने प्रज्ञापोत से ही उतर सके। अतएव यह अन्तिम सस्करण है। अध्यायो की तालिका के परिमार्जन-पूर्व एक तथ्य और भी उपस्थाप्य है कि यह समराङ्गण-सूत्रधार, वास्तव मे जितने भी वास्तु-ग्रन्थ हैं, शिल्प-ग्रन्थ हैं, चित्र-ग्रन्थ हैं, उनमे यही एक ऐसा विशाल, अपार एवं अधिकृत ग्रन्थ है। अतएव यह उत्तरापथीय वास्तु शिल्प का ही प्रतिनिधित्व नही करता, दाक्षिणात्य —(Southern-Dravida), पौर्वात्य (बगाल, बिहार, आसाम) तथा पाश्चात्य (काश्मीर, नेपाल, तिब्बत आदि २) का भी प्रतिनिधित्व करता है। अतएव इस खण्ड में पाचो प्रासाद-शैलियो—नागर, द्राविड, भूमिज, वावाट, लाट की भरमार प्रासाद-जातियो, प्रासाद-वर्गों, प्रासाद-रचनाओ के अनुसार ये सब विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव इस महादृष्टि से, इस खण्ड को भी हमने नया रूप प्रदान किया है और उसी अनुरूप से यह अध्याय तालिका परिमार्जित की गयी है —

मूल अध्याय		परिमार्जित अध्याय
४६	रुचकादि प्रासाद-लक्षण	६३
५२	प्रासाद-जाति-लक्षण	६४
५४	प्रासाद द्वार-मानादि लक्षण	६५
५३	जघन्य-वास्तु-द्वार-लक्षण	६६
५०	प्रासाद-शुभाशुभ लक्षण	६७

टि० ५१वा राज निवेश मे सम्बन्धित हैं अत वह यहाँ से निकाल दिया गया है।

प्रथम-खण्ड

अध्ययन

विषयानुक्रमणी

द्वितीय-खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल—छाद्य-प्रासाद

द्वितीय पटल –शिखरोत्तम-प्रासाद

तृतीय पटल—भौमिक प्रासाद एवं विमान

चतुर्थ पटल—लाट-प्रासाद

पचम पटल—नागर-प्रासाद

षष्ठ पटल—द्राविड-प्रासाद

सप्तम पटल—वावाट-प्रासाद

अष्टम पटल—भूमिज-प्रासाद

नवम मटल—मण्डप-विधान

दशम पटल—जगती-वास्तु

एकादश पटल प्रासाद-प्रतिमा-लिंग

N B Price as marked Rs 36 is Cancelled & raised to Rs 40 on acct of High cost of Illustrations

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रस्य

वैज्ञानिक-रीत्या विषय-वर्ग-पुरस्सर

प्रासाद-खण्ड-मूल-परिष्कारः

तदनुसृत्य

तस्यानुवादश्च

प्रासाद-स्थापत्यम्—प्रासाद-निर्माणं भारतीय-स्थापत्ये मौलिमानायमानम्। प्रासादोत्पत्तौ साम्प्रतिका स्थापत्यकलाकोविदः-भारतीय-स्थापत्यमधिकृत्य कृतका ग्रन्थ-कर्तारः लेखकाश्च ये येऽवकूताः समालोचिताः ते सर्वे भ्रान्ताः यतोहि शिल्प-शास्त्रेषु प्रासादोत्पत्तौ प्रासादप्रसूतौ ये येऽवकूता सिद्धान्तीकृता तेन्वस्मात् कृते ! नावधारणीयाः। प्रासादं पुरुषं मत्वैव वास्तुशास्त्राचार्याः प्रासादं पुरुष-मधिकृत्य प्रासाद-शिल्पे प्रासाद-निर्माणे च प्रासादाङ्गाना पुरुषाङ्गोपाङ्ग-प्रत्यङ्गैस्साक समवधारिणीकृतवन्तस्सर्वैर्व इमामेव सिद्धान्तधियं निवे-दयन्तो विलोक्यन्ते विशेषतश्च पुराणेषु तन्त्रेषु च। तथाहि भवन्तो विपश्चितः उद्धरणानीमान्यास्वादयन्तु भोः—

> प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेदं निबोध मे।
> धारणां विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम्॥
> तेजस्तत् पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा।
> पाषाणादिष्वेव जलं पार्थिवं पृथिवीगुणाम्॥
> प्रतिशब्दोद्भव शब्दं स्पर्शः स्यात् कर्कशादिकम्।
> शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमन्नादिदर्शनम्॥
> धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता।
> शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथको स्मृतौ॥
> .. .. ।
> एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः॥

अत्र विस्तरेण-सर्वमिदं शास्त्रीयं निवन्धनं विलोकयन्तु सूक्ष्मसिद्धान्तनिपुणाः।

प्रासादस्थापत्यस्यास्यास्मिन्नीयमीमिमां भूमिकां प्रति विमर्शं कथयित्वा शास्त्रा वास्तु-ब्रह्म-दर्शनं प्रति श्रीमतामवधानं दीयमानमभ्यर्थये। यतोहि सर्वाणि शास्त्राणि सर्वांश्च कला दर्शनदृष्ट्या दीप्तान्य दृश्यन्ते। सङ्गीते नादब्रह्म साहित्ये रसब्रह्म व्याकरणे शब्द-ब्रह्म स्फोटब्रह्म वा तथैव शिल्पे वास्तुब्रह्म जेगीयते इदं दर्शनं प्रासाद-स्थापत्ये प्रत्यक्षं दरीदृश्यते।

भारतीये स्थापत्ये वास्तु-पुरुष-विन्यासः स्थापत्यस्य प्रथमं बीजमिदं मया पूर्वमेव सङ्केतितम्। वास्तु-पुरुष एव वास्तु-ब्रह्मणि प्रत्यवनायते। इदं सर्वं मया निजे Vastusastra Vol I नाम्नि ग्रन्थे सातिशयं साभिनिवेशं व्याख्यातमस्ति अतः तत्रैव विस्तरेण श्रीमन्तः परिशीलयन्तु।

प्रासाद शब्दः यद्यपि अमरकोषदिशा "प्रासादो देव भूभुजामिति" कृत्वा प्रासाद राज-भवनानां देव-भवनानां च कृते समदृष्ट्या विभाव्यते परं शिल्प-शास्त्र-दिशा प्रासाद-शब्दः केवलं देवभवनार्थेव चारितार्थ्यते। प्रासाद-शब्दस्य व्युत्पत्तिरपि इममेव सीमितम् अर्थं द्योतयति—अवर्येण सदनम् सादनं वेति प्रासादः। सदन तावद् चितेर्विशेष। वैदिक-चितिरेवात्र प्रासादस्य जननी। वैदिके इष्टो मख्येयं मर्योल्न्येण जिराजतेस्म। पुरणे पूर्ते देवागार-निर्माणमेव सर्वातिशयमूलत्वं भजते स्म। अयमेव पूर्त-धर्मः अस्माकं संस्कृतौ प्रासाद-निर्माणमस्था सर्वेषां कृते—धनिना राज्ञा श्रेष्ठिना भिक्षुकाणां धर्माचार्याणां सर्मेषामेव कृते मूर्धन्यं कर्म बभूव। अतएव सर्वत्रैवास्मिन् देशे दक्षिणापथे, उत्तरापथे, मध्यदेशे, द्राविडेषु वङ्गेषु कलिंगेषु सर्वत्रैव देवागाराणि प्रतिनगरं प्रतिपुरम् प्रतिग्रामं प्रतिपर्वतं देशेदेशे दृश्यन्ते। अयमेव पौराणिक-पूर्त-धर्म-विलासः भारतस्य विकासः संस्कृतेश्च समुल्लासः एकतायाश्च मूर्धन्यतमोपाय:।

विषय-प्रवेशपुरस्सरमिममुपोद्घातं स्वल्पं विधायाधुना पाठकानां सम्मुखे समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रस्य प्रासाद-निवेश-खण्डस्य वैज्ञानिकरीत्या विषय-वर्ग -पुरस्सरं यः परिष्कारः कृतस्तदनुकूलं सर्वप्रथमं मूलाध्यायानां परिमार्जितानामध्यायानाञ्च तालिकेयं कथं प्रस्तूयमाना वर्तते तत्र किमपि प्रवचनमपेक्षते।

महाराजभोजराजाधिराजप्रणीतं समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रमेकमात्र-मेवाय वास्तु-ग्रन्थ यत्र विभिन्नानां शैलीनां विभिन्नानां जातीनां समस्तानां जानपदीयानां प्रासादानां वर्णनं वर्तते। लिपिकारस्य कस्यचन लेखकस्य वा प्रमादादज्ञानाद्वथवा ग्रन्थ-कर्तुरनवधानाद्वा यः विन्यासोऽत्र वर्ततेऽसौ परिमार्जनीयो जायते। परिशीलयन्तु पूर्वप्रकाशितान् मामकान् ग्रन्थान्—भवन-निवेश, समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्—प्रथम भागः; राज-निवेशः समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्—द्वितीय-भाग. येषु भवन-निवेश-परिमार्जनं राज-निवेश-परिमार्जनं राजसंरक्षणे विचसिता चित्रादि—प्रतिमादि-यन्त्रादिकलानामपि यत्परिमार्ज कृत तत्सर्वं वैज्ञानिकं कृतं तदनुसृत्य प्रासाद-निवेश-खण्डोऽपि परिमार्जनायानिवार्यता जातः। अन्यन्तामिना स्वल्पा शास्त्रदिशा सूचयित्वा स्थापत्य शास्त्र-दृष्ट्या स्थापत्यतैल्यनुगामिदृष्ट्या च मूलपरिमार्जनं निम्नलिखितेषु पटलेषु विभावनीयं वर्गेर्नाति। आशासे आधुनिका विद्वांसः परिमार्जनमिदं दृष्ट्वा हर्षिता भविष्यन्तीति दिक्।

प्रथमः पटलः

प्रासादोत्पत्ति-प्रभृति-जाति-वास्त्वपत्र शुभाशुभ-लक्षणम् ।

द्वितीय पटल —शिखरोत्तम-प्रासादा

तृतीय पटल —भौमिक-प्रासाद-विमानानि च

चतुर्थ पटल —लाट-प्रासादा

पंचमः पटलः नागर-प्रासादाः

*५७तम मूलाध्याय अध्यायद्वयो विभाज्य प्रमाणं पुनरावृत्ति बोध्यम् ।

षष्ठः पटलः—द्राविड-प्रासादाः

सप्तमः पटलः—वावाट-प्रासादाः

अष्टमः पटलः—भूमिज-प्रासादाः

नवमः पटलः—मण्डप-विधानम्

दशमः पटलः—जगती-वास्तु

एकादशः पटलः—प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-लक्षणम्

मूलग्रन्थे केवलं त्र्यशीत्यध्याया वर्तन्ते, पूर्वसंकेतानुसारमत्र चतुरशीत्य-ध्यायाः प्रकल्पिताः बभूवुः ।

प्रथमः पटलः

मूल-प्रासादाः

तत्र च प्रसादोत्पत्तिः, प्रासादजातिः स्तम्भबहुला छाद्य-प्रासादाः, प्रासादावयवाः, प्रासाद-शुभाशुभानीत्यमीषां समेषां प्रथमोपन्यासाय .

§ ३ रुचकादि-प्रासाद-लक्षणम्

पुरा ब्रह्मणा सृष्टानि पंच विमानानि तेषां विनियोगः,
सूर्यादीनामुपयोगायान्यान्यपि बहूनि विमानानि स कल्पयामासेति वचनम्,
ब्रह्मसृष्टानां वैराजादीनां पंचानां विमानविशेषाणामाकृतिः,
वैराजभेदानां संज्ञाः,
कैलासभेदानां संज्ञा,
पुष्पकमणिकत्रिविष्टपाख्यविमानत्रयभेदानां संज्ञा ;
एषामुत्तमाधममध्यमानि मानानि,
अथ चतुर्विंशतवैराजभेदानां लक्षणप्रस्ताव ;
तत्र रुचकलक्षणम् ;
चित्रकूटलक्षणम्,
सिंहपञ्जरलक्षणम्,
भद्रलक्षणम्,
श्रीकूटलक्षणम्,
उष्णीषलक्षणम्,
शालाख्यलक्षणम्,
गजयूथपलक्षणम् ;
नन्द्यावर्तलक्षणम्
अवतंसलक्षणम्,
स्वस्तिकलक्षणम्,
क्षितिभूषणलक्षणम्
भूजयलक्षणम्
विजयनन्दशीतरुप्रमदाप्रियाभिधानां चतुर्णां विमानानां लक्षणम्

व्यामिश्रहस्तिजातीयकुबेरवसुधाधाराणां लक्षणम् ;
सर्वतोभद्रविमानाख्यमुक्तकोणानां लक्षणम् ;
अथ दशानां कैलासविमानभेदानां लक्षणप्रस्तावः ;
तत्र वलयदुन्दुभिप्रान्तपद्मकान्ताचतुर्मुखमण्डूकाख्याना सप्ताना विमानाना लक्षणम् ;
अवशिष्टानां कूर्माद्याख्याना त्रयाणा लक्षणम् ;
अथ दशानां पुष्पकविमानभेदाना लक्षणप्रस्ताव-
तत्र भवविशालसाम्मुख्याख्याना लक्षणम् ;
प्रभवशिविरागृहमुखशालद्विशालगृहराजामलविभवाख्याना सप्तानां लक्षणम् ;
चतुरश्रायतानामेषामेव सन्निवेशान्तरप्रदर्शनम् ;
अथ दशानां मणिकभेदाना लक्षणप्रस्ताव
तत्रामोदरैतिकतुङ्गचारुभूत्याख्याना पञ्चाना विमानाना लक्षणम्;
निषेधकनिषेधर्मिहसुप्रभाख्याना लक्षणम् ;
लोचनोत्सवविमानलक्षणम्
अथ दशाना त्रिविष्टपविमानभेदाना लक्षणप्रस्ताव
तत्र वज्रकनन्दनशङ्खवामनमेरुललयमहापद्माना लक्षणम् ;
हंसविमानलक्षणम् ,
व्योमचन्द्रोदयविमानयोर्लक्षणम् ,

६४ प्रासाद-जाति-

टि० दे० द्वि० अ० सनु० पृ० १६-२०
वैराजविमानसामान्यविधि- ,
वैराजविमानप्रभवा प्रासादविशेषा :,
तथ विधा अष्टौ शिखरोत्तमा प्रासादा ,
वराजजन्मनां सर्वेषामेण प्रासादाना सर्वकामफलप्रदत्वकथनम ,
एवंजातिदूषितेषु फलम् ,

६५ प्रासाद-द्वार मानादि लक्षणम्—

टि० दे० द्वि० स०अनु० प० २१-२८
प्रासाद-द्वार-मानम ,
पेद्यामानम् ,
शाखामानम् ,
उत्तराङ्गमानम ,

कूटशालामानम्,
पीठबन्धमानम्,
मरणमानम्,
कपोतामानम्,
रथिकामानम्,
द्वारभूषा,
कपोतादिविधानम्,
परिमण्डलीकरणम्,
पक्षपत्रिकामानम्,
रसनामानम्,
जङ्घामानम्,
मल्लशाखामानम्,
बाह्यशाखामानम्,
द्वारशाखामानम्,
शाखानां निर्गमविस्तारयोर्मानम्,
पिण्डोदुम्बरमानम्,
तलन्यासमानम्,
सिंहमुखमानम्'
त्रिविधपट्टपिण्डमानम्,
क्षीरमहणमानम्,
कुम्भिकोत्कालकयोर्निवेशनप्रकारः,
उत्तरपट्टतद्धोरयोर्मानम्
तदूर्ध्वभागपरिष्करणम्,
मण्डानां लुमानां संज्ञा,
तत्र लुम्बिनीनिष्पादनप्रकारः,
अन्यासां लुमानां निष्पादनप्रकारः,
पञ्चविंशतिवितानानां नामानि
कोलादीनां नागबन्धान्तानां सप्तानां वितानानां स्वनिर्माणप्रकारः,
पुष्पकादीनां विष्णुमन्दारकान्तानां तेषां स्वनिर्माणप्रकारः
दशाष्ट्राद्योदयाः
मन्दपृष्ठच्छाद्योदयाः,

छाद्यक्षेत्रानुसारेण कल्प्यानि लुमामानानि;
छाद्यलुमानां गण्डिकाच्छेदादिकम्,
उत्तमादिप्रासादानां छाद्यनिर्गमाः;
सिंहकर्णलक्षणम्।

६६ जघन्यवास्तुद्वारलक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० २६

जघन्यवास्तुद्वारप्रमाणम्—
तत्र पेद्यापिण्डादीना मानम्,
रूपशाखाखल्वशाखातुङ्गशाखाना मानम्,
तुङ्गाया बाह्यतः क्रियमाणानां शाखानां मानम्,
नलोदयमण्टपादीनां मानम्,
उत्तममध्यमयो प्रासादयोस्तलमानम्,
कुम्भिकादिपु हीनाधिकमानकल्पननिषेधः।

६७ प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० ३०-३१

शुभाकराणां प्रासादाना लक्षणम्,
तद्विपरीतलक्षणेपु प्रासादेपु प्रत्येक फलानि।

द्वितीयः पटलः

शिखरोत्तमा प्रासादा

तेप च ललित-प्रासादा, मिश्रक प्रासादा सान्धारा' निगूढारचेत्य-मीपामुपन्यासाय—

६८ रुचकादिचतुष्षष्टिप्रासाद-लक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० ३५-४३
रुचकादिचतुष्पष्टिप्रासादानां साधारणा विधय —
तेपु रुचकादयः पञ्चविंशतिर्ललितप्रासादा, तेषां सन्निवेश,
सुभद्रादयो नव मिश्रकप्रासादा,
केसर्यादय पञ्चविंशति सान्धारप्रासादा,
लतादय पञ्च निगूढप्रासादा,

केसर्यादिप्रखण्डकसंख्या;
मेरोर्विनियोगः कर्तृनियमादिकञ्च;
ललितप्रासादेषु रुचकभद्रकहंसानां लक्षणम्,
हंसोद्भवप्रतिहंसनन्दननन्द्यावर्तधराधरवर्धमानगिरिकूटानां लक्षणम्;
श्रीवत्सत्रिकूटमुक्तकोणगरुडसिंहाख्यानां लक्षणम्,
भवविभवमालाधाराणां लक्षणम्,
पद्ममलयवज्रकाणां लक्षणम्,
स्वस्तिकशङ्खयोर्लक्षणम्
एषु चतुरश्रतदायतवृत्ततदायताष्टाश्रिप्रासादानां विभागः,
मिश्रकप्रासादेषु सुभद्रादित्रिकूटान्तानां लक्षणम्,
धराधरादिसर्वाङ्गसुन्दरान्तानां लक्षणम्,
मिश्रकप्रासादसामान्यलक्षणम्,
सान्धारप्रासादेषु केसरिलक्षणम्,
सर्वतोभद्रलक्षणम्,
नन्दनन्दिशालयोर्लक्षणम्,
नन्दिवर्धनमन्दिरयोर्लक्षणम्,
श्रीवत्सामृतोद्भवयोर्लक्षणम्,
हिमवद्धेमकूटयोर्लक्षणम्,
कैलासपृथ्वीजयेन्द्रनीलानां लक्षणम्,
महानीलभूधरयोर्लक्षणम्,
रत्नकूटवैडूर्ययोर्लक्षणम्,
पद्मरागवज्रकमुकुटोज्ज्वलैरावतराजहंसानां लक्षणम्,
गरुडवृषभमेरूणां लक्षणम्
निगूढप्रासादेषु लतास्यस्य लक्षणम्,
त्रिपुष्करपञ्चवक्त्रचतुर्मुखानां लक्षणम्,
नवात्मकप्रासादलक्षणम्,
एषु परिवारप्रतिष्ठानियमादिकम्।

६। मेर्वादि-षोडश-प्रासाद-लक्षणम्—
टि० दे० अनु० सा० पृ० ४४–६३
मेर्वादयः षोडश प्रासादाः—मेरु मेरु लक्षणम्,
कैलासलक्षणम्,

सर्वतोभद्रलक्षणम् ,
विमानच्छन्दलक्षणम् ,
नन्दनलक्षणम् ,
स्वस्तिकलक्षणम् ,
मुक्तकोणलक्षणम् ,
श्रीवत्सलक्षणम् ,
हंसरुचकवर्धमानगरुडगजप्रासादानां लक्षणम् ,
सिंहपद्मकयोर्लक्षणम् ,
मेर्वादिप्रासादसामान्यविधय ;
वलभीप्रासादलक्षणम् ;
मेर्वादीनां विनियोग ;
एषु जगत्यादिकल्पननियमा.,
परिवाराणां स्थापनप्रकार.,
द्वारमानविधय ,
स्तम्भहीरग्रहतुलाधारणकुम्भपद्मादीनां कल्पनम् ,
रूपशाखादिप्रकल्पनम् ।

तृतीयः पटलः

भौमिका विमाना·

७० प्रासाद-स्तवनम्—

टि० दे० अनु० ग० पृ० ६७
विश्वकर्मणो ब्रह्मणा दत्तेषु विमानादिचतुष्षष्टिप्रासादेषु—
वास्तुदेवतापूजनादिक्रम ,
एषां प्रासादानां विनियोगः ,
तत्र शिवस्य समुद्दिष्टा अष्टौ प्रासादा ,
विष्णो प्रासादा ,
ब्रह्मण प्रासादा ,
सूर्यस्य प्रासादा ,
चण्डिकाया प्रासादा ,
विनायकस्य प्रासादा·
लक्ष्म्या प्रासादा ,
सर्वदेवसाधारणा प्रासादा

७१ विमानादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद लक्षणम्—

टि० नं० अनु० न० पृ० ६८-८०

समनन्तरोक्तचतुष्षष्टिप्रासादेषु विमानलक्षणम्

सर्वतोभद्रलक्षणम्,

गजपृष्ठप्रासादलक्षणम्,

पद्मपद्ममुक्तकोणनलिनप्रासादानां लक्षणम्,

मणिकगरुडप्रासादयोर्लक्षणम,

वर्धमानशास्वस्तिकयोर्लक्षणम,

पुष्पकगृहराजस्वस्तिकप्रासादानां लक्षणम्,

रुचकलक्षणम्,

पुण्ड्रवर्धनमेरुमन्दरप्रासादानां लक्षणम,

कैलासहंसभद्रतुङ्गप्रासादानां लक्षणम्,

मिश्रकमालयचित्रकूटकिरणप्रासादानां लक्षणम्

सर्वाङ्गसुन्दरनन्द्यावर्तवलभ्यप्रासादानां लक्षणम,

सुवर्णश्रीवत्सप्रासादयोर्लक्षणम्,

पद्मनाभवैराजवृत्तप्रासादानां लक्षणम्,

सिंहचित्रकूटयोर्लक्षणम्,

योगपीठघण्टानादपताकिनगुहाधरप्रासादानां लक्षणम,

शालाश्वेगुलकुञ्जरप्रासादानां लक्षणम्,

हर्षणमहापद्महर्म्यप्रासादानां लक्षणम्,

उज्जयन्तगन्धमादनशतशृङ्गविभ्रान्तमनोहरप्रासादानां लक्षणम,

वृत्तवृत्तायतचत्यकिंकिणीकलयनपट्टिशविभवप्रासादानां लक्षणम,

ताराणगप्रासादलक्षणम,

७२ मेर्वादि विंशिका-लक्षणम्—

टि० नं० अनु० न० पृ० ८१-१०१

सर्वदेवसाधारणेष्वन्येषु विंशतिप्रासादेषु मेरुलक्षणम्

मन्दरलक्षणम्

कैलासलक्षणम्

त्रिविष्टपलक्षणम

पृथिवीजयलक्षणम

तिलकभूषणलक्षणम्

चतुर्थः पटलः

लाट-प्रासादा.

पंचमः पटलः

नागर-प्रासादा

विमानादीनां श्रीकूटादीनां च साधारणा नियमाः,
उत्तमादिप्रासादानां मानम्

षष्ठः पटलः

द्राविड-प्रासादा

७६ पीठपंचक-लक्षणं तलच्छन्द-प्रासाद-लक्षणम

द्राविडप्रासादयोग्यानि पंच पीठानि
तेषु पादबन्धपीठस्य लक्षणम्
श्रीबन्धवेदीबन्धप्रतिक्रमपीठानां लक्षणम्
खुरबन्धपीठस्य लक्षणम्
पद्मादयः पंच तलच्छन्दप्रासादाः—तेषु पद्मतलच्छन्दलक्षणम्
महापद्मवर्धमानस्वस्तिकतलच्छन्दानां लक्षणम्
सर्वतोभद्रतलच्छन्दलक्षणम
एषामेव सान्धाराणां लक्षणम्

७७ एकभूमिकादिद्वादश-भूमिकान्त-द्वादश-द्राविड-प्रासाद लक्षणम्

सप्तमः पटलः

वावाट-प्रासादा

७८ दिग्भद्रादि-प्रासाद-लक्षणम्

दिग्भद्रदीनां द्वादशवावाटप्रासादानां नामानि—तेषु दिग्भद्रलक्षणम्
श्रीवत्सलक्षणम् वर्धमानलक्षणम्
नन्द्यावर्तनन्दिवर्धनयोर्लक्षणम् विमानलक्षणम्
पद्ममहाभद्रयोर्लक्षणम् श्रीवर्धमानलक्षणम्
महापद्मपंचशालपृथ्वीजयानां लक्षणम्

अष्टमः पटलः

भूमिज प्रासादा

भूमिज-प्रासादेषु— चतुरश्रा वृत्तजातयः
अष्टशालाश्च

७९ भूमिज-प्रासादेषु—

भूमिजप्रासादेषु निषधादयश्चत्वारश्चतुरश्रप्रासादाः
तेषु निषधलक्षणम्

मलयाद्रिलक्षणम्   माल्यवतो लक्षणम्   नरमालिकस्य लक्षणम
कुमुदादय सप्त वृत्तनातिप्रासादा —तेषु कुमुदलक्षणम्
कमललक्षणम्   कमलोद्भवलक्षणम   किरणशतशृङ्गयोर्लक्षणम्
निरवद्यलक्षणम्   सर्वाङ्गसुन्दरलक्षणम्
भूमिजानिष्वेव स्वस्तिकादय पञ्चाष्टशालप्रासादा—तेषु स्वस्तिकलक्षणम्
वज्रस्वस्तिकलक्षणम्   हर्म्यतललक्षणम
उदयाचललक्षणम   गन्धमादनलक्षणम
नागरादिप्रासादगताना पञ्चविंशतिरेखाण स ज्ञा नत्करणविधिश्च ।

नवम: पटल:

स वृता, विवृताश्च मण्डपा

प्रासादा मण्डपेषु—तत्र विवृतानां स वृतानामुभयेषामुपन्यासाय—

८० मण्डप-लक्षणम् (सामान्यम)

सामान्यतो मण्डपस्य द्वैविध्य तदर्थं वास्तुपदविभागश्च
भद्रादयोऽष्टौ मण्डपा   सर्वेषा मण्डपाना सामान्यविधि —
तत्र भद्रमण्डपलक्षणम्   नन्दनमहेन्द्रवर्धमानाख्याना लक्षणम्
स्वस्तिकसर्वतोभद्रमहापद्मगृहराजाना लक्षणम्
अन्ये मण्डपनिर्माणसम्बद्धा विशेषाः ।

८१ सप्तविंशति-मण्डप-लक्षणम्

सन्निवेशविशेषेण भिन्नेष्वन्येषु सप्तविंशतिमण्डपेषु उत्तमाधम-
मध्यमकल्पननियमा – तेषु पुष्पकलक्षणम
अन्येषा मण्डपाना नामानि,   सिंहकादिमण्डपाना लक्षणम्

दशम: पटल:

प्रासाद जगत्य (प्रासाद पीठानि) जगती-प्रासादाश्च ।

८२ जगतत्यङ्गसमुदायाधिकारलक्षणम

जगतीस्वरूपकथनम   पीठान् पृथग् जगतीसम्भवे कारणम
जगतीना सन्निवेश   प्रासादेषु जगत्या निवेशनस्थानम्
उत्तमादीना जगतीना विनियोगप्रकार
वर्णोद्भवादय पदप्रकारा शाला तल्लक्षण च
पद्मादिजगतीपीठाना लक्षणम् ।

८३ जगती-लक्षणम्

चतुरश्राकाराणामेकोनचत्वारिंशतो जगतीनां संज्ञाः,
तासु वसुधाद्येकभद्रान्तानां लक्षणम्
द्विभद्रिकादिभ्रमरावल्यन्तानां लक्षणम्
स्वस्तिकाद्यादिमन्दारमालिकान्तानां लक्षणम्
अनङ्गलेखादिनन्द्यावर्तान्तानां लक्षणम्
ताम्रमूलादिस्वर्णमंजर्यन्तानां लक्षणम्
विद्युत्प्रभादिसुभद्रान्तानां लक्षणम्
सिंहपंजरादिदेवयन्त्रिकान्तानां लक्षणम्
चतुरश्रायतानां यमलादित्रिरथान्तानां लक्षणम्
वृत्ताकाराणां वलयादिचन्द्रमण्डलान्तानां लक्षणम्
वृत्तायतानां मातुलुङ्ग्यादिकालिङ्ग्यन्तानां लक्षणम्
अष्टाश्रिसंस्थानानां मातकादिजगतीनां लक्षणम्

टि० जगती तावत्प्रासाद-पीठमेव परमत्र ग्रन्थे जगती नाम प्रासाद-वास्तुनि विलक्षणमेक शिल्प-विधानमतएव प्रासादाङ्गेषु प्रस्तावनामनादृत्य पृथक् करणमेवं मूलानुकूलं संगच्छते इति कृत्वा प्रासाद-निवेशखण्डेऽन्ते प्रस्तावितम्।

एकादशः पटलः

टि० प्रासादगर्भे स्थाप्या प्रतिमालिंगमेव प्रधाना प्रतिमा तदनुकूलमत्र लिंग प्रतिमा-लक्षणमपि निवेशितमत्रखण्डे।

८४ लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षणम्

उत्तमादिलिंगानां प्रमाणं, द्रव्याणि, लक्षणोद्धारादि च उद्देश्यफल-भेदेन तत्तद्देश प्रतिष्ठापनीयानां लोकपाललिंगानां लक्षणं, तत्प्रशंसा च लिंगानां द्रव्यभेदेन फलभेदप्रदर्शनं, सान्निध्यकारका विषयश्च चिह्नाभिव्यक्तिहेतुकप्रलेपद्रव्यादिकम्
तेषां लिंगानां पीठकल्पनप्रकारः—
पृथ्व्यादिका पीठिका, तल्लक्षणं, तद्विनियोगश्च
मेखलाप्रणालब्रह्मशिलादिकल्पनविषयः
लिंगमध्ये ब्रह्मविष्ण्वादीनां निवेशनप्रकारः
द्वारप्रमाणानुरोधेनोत्तमादिप्रतिमानां, तत्पीठानां च कल्पनम्
प्रासादगर्भेषु पिशाचादिभागविभाजनक्रमः

मूल-आधार

अ, वैदिक

ब पौराणिक

स. लोक-धार्मिक

द. राजाश्रयित*

---

*टि० इस स्तम्भ में प्रथम तीन का ही प्रतिपादन उचित है। चतुर्थ (द राजाश्रयित)—की समीक्षा मूल-सिद्धान्तानुरूप सम्पन्न होगी।

विषय प्रवेश :—प्रासाद-निवेश—भारतीय स्थापत्य शास्त्र एवं कला—इन दोनों का अध्ययन व्यापक एवं अति गम्भीर तथा विशाल विषय है। भारतीय—वास्तु-शास्त्र पर दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन का जो सकल्प किया था, वह अब समाप्त होने जा रहा है। प्रासाद-वास्तु (Temple-architecture) का यह अंश हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि-शीर्षक से सम्बन्ध है।

प्रासाद-निवेश के लिये हमे अपने अतीत की ओर जाना होगा। प्रासाद के मूलाधारो मे वैदिक वाङ्मय, पुराण, लोक-धर्म एवं राजाश्रय—इन चारों की ओर मुडना होगा। अत इस मूल-अध्ययन को हम ने निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया है :—

(१) मूल-परिष्कार (३) शास्त्र एवं

(२) मूलाधार (४) कला

सर्व-प्रथम हम यहा मूलाधारो को ले रहे हैं, और इन मूलाधारो से तात्पर्य यथोक्त हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोक-धार्मिकी तथा राजाश्रया से है। मूल परिष्कार—स० सू० के प्रासाद-खण्ड-अनुवाद मे सम्बन्धित है।

उपोद्घात—हिन्दू प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एव भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नहीं सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू प्रासाद है। यहां का स्थापत्य यज्ञ-वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिखा पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द मे, जैसा हम आगे देखेंगे, प्रकर्षेण सादनम् (चयनम्) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण मे प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर मे हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की पृष्ठ-भूमि बनी।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एव बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि विभिन्न सास्कृतिक प्रगतियो मे वास्तु-कलात्मक कृतिया एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियाँ हैं। ये कृतिया इष्टका-पाषाण-आदि चिरस्थायी द्रव्यो से आबद्ध होकर युग-युग तक इस सास्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नही प्रस्तुत करती हैं, वरन् प्राचीन सास्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एव जाति की वास्तु-कृतियो मे तत्तद्देशीय एव तत्तज्जातीय विशेषताओ की छाप रहती है। यूनान,

रोम आदि देशो की वास्तु-कला की विशिष्टताओ से हम परिचित ही हैं (देखिये—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एव पुर-निवेश—पृष्ठ १६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहा की वास्तु-कला, जो विशेषकर मन्दिर-निर्माण मे पनपी, वृद्धिगत हुई और मन्दिर के उत्तुंग शिखर के समान ऊची उठी, उसका आधार-भूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एव विश्वास को मूर्त स्वरप प्रदान करने उनके प्रीतकत्व का कल्पन ही नही है, वरन् इस देश के दर्शन एव पुराण मे प्रतिष्ठापित तत्वो के रहस्यो का विजृम्भण भी। यहा के मन्दिरो के निर्माण मे जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा में देव-मिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एव उसका आकार एव विस्तार तथा उपसहार—सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद-वास्तु के विकास मे हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजों ने पाषाण-पट्टिकाओं (Dolmens and Menhirs) से तथा आरण्यक वनस्पतियो की वन्दनवार एव मण्डपो से अलङ्कृत पूजा गृहो की निर्मिति की, वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव-मिलन की कथा एकाङ्गी नही है। मानव देव से मिलने के लिए ऊपर उठता है, तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छाती से लगाया है। प्रासाद-वास्तु की रुप रेखा मे दोनो तत्व चित्रित हैं। प्रासाद के उत्तुंग शिखर मे देवत्व की खोज मानव के प्रयास का प्रतीक और जहा पर यह प्रासाद-शिखर बिन्दु मे अवसान प्राप्त करता है, वही मानव-देव-मिलन है अथवा मानवता का देवतत्व मे विकास है या मानवता एव देवत्व की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार बहु-सख्यक प्रासाद रचनाओ मे जिस प्रकार मानव देवत्व की ओर बढता हुआ चित्रित किया जाता है, उसी प्रकार देवता मानव की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मंदिरो मे देखो तेजपाल-मन्दिर—आबू पर्वत) भी प्रदर्शित है।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के इस सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणो की भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण, वापी, कूप एव तडागादि निर्माण के समान पूर्त-धर्म की सस्था हैं। आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय

होगी। व्यावहारिक रूप से परोपकारार्थ भी धर्मार्थ समझा गया। प्राय सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एव तडागादि की महिमा गाई है। सूत्र-ग्रन्थो मे तो इस सस्था का बडा ही गुण-गान है। हिंदू-धर्मशास्त्रो मे वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन सस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अत आध्यात्मिक, धार्मिक एव व्यावहारिक सभी दृष्टियो से हमे इस प्राचीन सस्था का मूल्याङ्कन करना होगा।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रूप से समझने के लिये हमे सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गर्तों एव आवर्तो का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ एव सनातन, दिव्य एव ओजस्वी, कान्त एव शान्त, स्कन्धो पर हिन्दू प्रासाद की बृहती शिलाओ का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद हिन्दू सस्कृति, धर्म एव दर्शन, प्रार्थना, मत्र एव तन्त्र, यज्ञ एव चिन्तन, पुराण एव काव्य, आगम एव निगम—इन सबका पुन्जीभूत मूर्त्त रूप है। भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नही है। *सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वय लौकिक नही* वह अलौकिक एव आध्यात्मिक तत्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्तिमान् *आकार ऐसे ही नही उदय हो गया। शताब्दियो की सास्कृतिक प्रगतियो के* सघर्ष से जो अन्त मे उपसहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू प्रासाद है। उसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन मे भारतीय सस्कृति के विकास की नाना परम्पराओ—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्याङ्कन करना होगा। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा से उद्भावित एव भारतीय दर्शन की महाज्योति मे उद्दीपित *हिन्दू प्रासाद की* व्याख्या मे जिन नाना पृष्ठ-भूमियो के दर्शन करना है उनमे वैदिकी, पौराणिकी राजाश्रया एव लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य है। इस विषय प्रवेश मे पाठको का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदव-हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि शिवा उसकी सर्वातिशायिनी कला अथवा उसका मूर्तिमान स्वरूप (शरीर एव प्राण) हिन्दू प्रासाद है। हिन्दू सस्कृति की लोक-व्यापिनी यह प्रोज्ज्वल पताका है। हिन्दू-प्रासाद *मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नही दवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान* है। सागर एव विन्दु, जड एव चेतन, आत्मा एव परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या मे हिन्दू शास्त्र-कारो ने कलम तोड रक्खी है। *हिन्दू* स्थपतियो ने भी अपनी छैनी और वसूली आदि सूत्राष्टक (द० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से वही कमाल दिखाया है। क्रान्त दर्शी

मनीषी कवियो (ऋषियो) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व के निष्यन्द मे छन्द-बन्ध एव वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यञ्जन का सूत्रपात किया है, वही परिणाम प्रख्यात स्थपतियो की इन महाविभूतियो मे भी पाया गया है। इष्टका एव पाषाण की इस रचना मे धर्म एव दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अत इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता मे लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक नि श्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक नि श्रेयस की प्राप्ति मे नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ, चिन्तन—ध्यान, योग-वैराग्य, जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा देव-दर्शन, देवालय निर्माण—एक शब्द मे इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न सस्थाओ एव परम्पराओ ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी मे मानव की धर्म-पिपासा एव आध्यात्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता मे अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नही। उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नही। उसकी रागात्मिका प्रवृति भी एक सी नही। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नही। अत मानवो की विभिन्न कोटियो के अनुरूप, साध्य पारलौकिक नि श्रेयस की प्राप्ति मे नाना साधना-पथो का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य है, लक्ष्य तो एक ही है। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। ससार, मानवता एव देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग मे नही सुनाई देता जहाँ मानव-देव-मिलन है। ससार-यात्रा एव मानव का ऐहिक जीवन दोनो ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोग-शाला है। देशकाल की सीमाओ ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव—पूजा, देव-प्रतिष्ठा एव देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एव सर्व-लोकोपकारी सस्था साबित हुई है। तपोधन तपस्वियो एव ज्ञान-धन ज्ञानियो से लेकर साधारण से साधारण विद्या बुद्धि वाले प्राकृत जनों—सभी का यह मनोरम एवं सरल साधना-पथ है।

वैदिक

'प्रासाद' या 'विमान' देव-गृह ही नही पूजा-गृह भी है। इस देश मे उन उपासना-गृहो या स्थलो को, जिनको हम मन्दिरो या प्रासादो या विमानो के नाम से पुकारते है, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप मे पूजा-गृहो की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एवं आच्छादन— इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओ के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था मे भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही— इस मे किसी का वैमत्य नही।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास मे देश-विशेष मे उस के भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनो पक्षो मे अन्यतर के विशेष विकास का सकीर्तन किया जाता है, परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एवं संस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष भुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसमे अनिवार्य ससर्ग रहा। अतः इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश मे प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहो के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य सस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपो मे प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था, पुनः आगे चल कर आहुति-प्रधान। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद इन्ही दोनो परम्पराओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद मे अनेक देवो के प्रति जो स्तुतियां-ऋचाये हैं, उनमे 'वास्तोष्पति' की जो प्रकल्पना है वह प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-निवेश-परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य मे वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एवं साधना है—(भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-प्रासाद के नाना निवेशो— वास्तु-निवेश (Site-Plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती-रचना), गर्भ-गृह विन्यास (अर्थात विमानोत्थान) मण्डप-निवेश, शाला विन्यास आदि की विकसित परम्पराओ मे वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा मे पटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय मे हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रक्खेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्यायों मे अन्य प्रश्नों पर प्रकाश डालेंगे

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय कर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति 'पुरोहित' एवं कारक—गृहपति 'यजमान' के रूप मे प्रकल्पित हैं। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-काण्ड में पुरोहितो मे एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का अधिष्ठाता अध्यक्ष कहलाता है, उसी प्रकार वास्तु-कर्म मे स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही तक्षक एवं वर्धकि) भी स्थापक-आचार्य की अध्यक्षता म कार्य करते है। प्रासाद निर्माण मे एक बार नही अनेक बार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय-कर्मो द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तन्त्र-शाखा से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है, अत इस दृष्टि से वास्तु-शास्त्र वेदाङ्ग षट्क मे दो अङ्गो की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। य दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य मे ज्योतिष एवं कल्प दोनो का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ५६)।

वास्तु-पुरुष मण्डल हिन्दू प्रासाद का नक्शा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है, जिसमे परम-तत्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाधा (यन्त्र शब्द मे 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मंडल मे तदायतता भूमि सीमित होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल में बाधने का प्रयास है उसकी संज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मण्डल के चार उपकरणो—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु-पुरुष एवं मण्डल-संज्ञाओ में से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु पुरुष-कल्पना में वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ-भूमि तो नियत हा है, मण्डलाधार 'धरा' की दृढता (stability) के सम्बन्ध मे नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण हैं—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४, श० ब्रा० षष्ठ १-१-१५, वाजसनेय-संहिता एकादश ६६—इसी प्रकार तै० स० एवं गृह्य-सूत्रो मे भी निर्देश हैं। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भूसमीकरण वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके है तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृ० ५८-६१, तदनुरूप यह पृथु जो वास्तव म धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष prototype) है, वह श० ब्रा० (चतुर्थ ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन मे परिपुष्ट होता है।

वास्तु चक्र–निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा मे भू-कर्षण अकुरारोपण एव समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थायें हैं क्योकि किसी भी यज्ञसम्पादन मे आवश्यक यज्ञ-स्थल-चयन एव उस पर वेदी-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण मे आवश्यक वैदिक कर्म-काण्ड प्राथमिक सस्कार ही नही, वे उस के पूरक एव अभिन्न अङ्ग हैं। कण्व-सहिता (विशति ३-४), मैत्रायणी-सहिता (तृतीय २-४५), श० ब्रा० (सप्तम २ २ १-१४) आदि मे निदिष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू-कर्षण एव अकुरार्पण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि भूमि का द्वादश वृषभो के द्वारा कर्षण एव अकुरारोपण का उल्लेख है। अग्नि-चयन मे महावेदी के निर्माण एव यज्ञीय भूमि पर अकुरारोपण से लगाकर 'मङ्गलाङ्कुर' की प्रक्रिया पूजा वास्तु की सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१ १८)। अथर्ववेद (पचम २५ २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ-गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक-वेदी का अकुरारोपण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर, जो इस गर्भ मे ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को आत्मसात् ही नही करता है, वरन् उसे दूसरे ही तत्व मे परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत हो कर भूमि कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति से उत्पन्न होता है परन्तु उस का रूप भूमि पर निवेदय पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण भू-समीकरण एव अकुरार्पण के साथ साथ 'भूत-बलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत-गणो (spirits) की वहा से उनकी विदाई ही अभीष्ट नही है, वरन् चयित पद पर प्रथम बलि भी है जिस से निराकार परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २ ३ ६-७) इसी तथ्य की ओर सकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १-८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेत भुव स्थलम्।
सगृह्य स्थपति प्राज्ञो दत्वा देवबलि पुन ॥
स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलै।
अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसा ॥
वासान्तर व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम्।

इति मन्त्र समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ॥
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत ।
यतो गोभि परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥
सहृष्टवृषनादैश्च निर्धौत-कलुषीकृतम् ।
वत्स-वक्त्रच्युतैः फेनैः सस्कृत प्रस्नवैरपि ॥
स्नात गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषै सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोस्पर्दै कृतकौतुकम् ॥
गोगन्धेन समाविष्ट पुण्यतोयैः शुभ पुन ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है :—

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवा च परिवासेन भूमि शुद्ध्यति पञ्चभि ॥

मनु० ५—१२४

भू-कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अवलोक्य है—अ० ५

अस्तु, भूकर्षणादि प्रक्रियाओं से समीकृत भूमि अब वास्तु पुरुष मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एव भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथ्वी' चौडी अर्थात् असमीकृता— ऊबड-खाबड अब भूमि दर्पणाभ-समीकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्मराज्य की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त) प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणों के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिसमे भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एव सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २ ५. ७) वेदी की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बनाता है। देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहा (यज्ञ- वेदी के चारो कोणो) पर ला कर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एव देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है—यह शनः शनैः हमारी समझ मे आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु पुरुष मण्डल के औपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन मे एक तथ्य और यहा निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता सङ्कलित है। सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश (see H. T p 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बडा ही तथ्योद्घाटक है —

'The surface of the earth, *in traditional Indian Cosmology*, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points It is therefore represented by the ideogram or mandala of a square [F N 44—The square dose not refer to the outline of the earth It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West and South and North The *earth is therefore called* 'Caturbhrsti' four-cornered (Rv X 58 3) snd is symbolically shown as Prithvi mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth is circular (Rv X 89 4 , S B VII I I 37)] The identification of the square with the Vedi is in shape only and *not in size* and belongs to the symbolism of the Hindu Temple The Vedi represents and is levelled earth, a place of sacrifice or worship *No part of the ground should rise above it* for it was from there tha the gods ascended to heaven' (S B III I I I 2) The site, *the earth should be even and firm* for it is the starting place of the ascent (S B VIII 5 2 16) The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the intermediate region (antriksa) From it also it leads downward and *rests on earth In it the temple* has its elevation The Vastu purusamandala, the temple-diagram and metephysical plan is laid out on the firm and level ground , it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth '

ऊपर ऋग्वेद का 'चतुर्भृष्टि' म पृथ्वी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित नाना आकृतियो के वास्तु-मण्डलो म वैदिक उत्पत्ति प्रवृत्ति

कहा तक सगत होती है? वास्तु-पदो के अनेक आकारो मे चतुरश्राकार एव गोलाकार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनो आकार भारतवर्ष की वास्तु कला मे वैदिक वेदिका एव अग्नि से आये है। वेदिका एव अग्नि दोनो ही एक ही सज्ञा मे है। वास्तु-मण्डल के चतुरश्राकार एव वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध मे हम इसी अध्याय मे आगे दूसरे स्तम्भ मे विशेष विचार करेंगे। यहा पर प्रथम वास्तुपुरुष के वैदिक जन्म पर थोडा सा और विवेचन वाछित है।

वास्तु पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही अवान्तर रूप है। रुद्र प्रजापति ने उषा के साथ शादी की और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पडा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋग्वे० दशम० ६१ ७) ने इसको—यज्ञ-वास्तु-स्वामी—यह सज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एव यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चल कर सभी भवनो के पदो का स्वामी बना।

वास्तु पुरुष में असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) म 'गृह रक्षक' के रूप म प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६), परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋग्वे० सप्तम २२ १, पा० गृ० सू० तृतीय ४७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहा पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योकि रुद्र एव अग्नि तत्वत एक ही हैं—दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५) ऋग्वेद (दे० प्रथम ६० ४, पचम ६ १-२, ७ ६, ८-१ तथा षष्ठ १६ २४, ४८ ८-३) मे वह 'गृहपति' 'वासक' आदि सज्ञाओ स सकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५ २८) उसे देवो म 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओ के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओ को मानवो को बसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओ के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६ ६) मे प्रजापति, सोम अग्नि, धाता गृह-पति के रूप मे सम्बोधित हैं, ये सभी वसु-देव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एव प्रधान पद देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि–प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग—भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुश्री क्रोमारिश ने (दे० H T p 6) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है, वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है —

" .. . Vastu now is its name Its image is that of the Purusa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm *On its appeased being and form* spread out of the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation Its superstructure points to the origin of the primeval descent, it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple This body once more, in concrete from (murti) made by art, is that of the Purusa, arisen'

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ('तेष्वङ्गं प्रथमं प्रोक्तं वास्तु-पुरुषो विकल्पना' मू० मू० ४८-३) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी इन्जीनियरिंग (i e. Temple-plan) वास्तु पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म, तथा स्थूल। मण्डल (चतुरश्राकार पद) उसका स्थूल रूप है, जो वास्तव में वास्तु–पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगों पर अधिष्ठातृ देव-गण (सूक्ष्म रूप) तथा उनसे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म के परम तत्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गों वास्तु (परा), पुरुष, (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अब मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठ-भूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष में प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विनाम होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहाँ तक उसके नाना अङ्गों के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १५१-७ में कर आये हैं। रहा

'परा' रूप अर्थात् वास्तु, उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके है (वहीं)। यहा पर वास्तु-पुरूष-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक की मीमासा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमासा मे 'परा-रूप' 'वास्तु' पर भी थोडा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एव निविष्ट पद (planned site) की सज्ञा है। इस का मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु सनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य मे प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराठ्-पुरूष—पुरूष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनो एक हैं एव तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' से किसी भी आयत (Polygon) का सकेत हो सकता है। *वास्तु पुरूष-मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि मे परिवर्तित किया जा सकता है।*

हिन्दू स्थापत्य मे वास्तु पुरूष-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (site-plan), स्थान-निवेश (ground plan) एव अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एव रागो का। वास्तु शास्त्र मे प्रतिपादित तलच्छन्द एव ऊर्ध्व-च्छन्द का वही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओ की वास्तु कला के सभी वर्गों के भवनो के विन्यास मे वा० पु० म० एक प्रथम एव अभिन्न अग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्व-च्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमे अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक जन्म (Vedic origin) कहा तक सगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थो (दि० बौधा० शु० सू० प्रथम २२-२८) मे 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' मे 'वर्तुल' निहित है और उसी 'वर्तुल' से ही चतुरश्र-करण' प्रतिफलित होता है। चतुरश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' य दोनों ही आकार वैदिक चिति—अग्नि(Fire-altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं।

प्राचीन वश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य म पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणामुखी रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमे प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओ मे से पूर्व-कोणस्था-वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिम-कोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनो के आधिराज्य क्रमश द्यौ, पृथिवी एव अन्तरिक्ष हैं (श० ब्रा० द्वादश ४ १ ३)। यज्ञशाला (विशेष कर सोमादि-यज्ञो मे) अन्य अनेक वेदिया विनिर्मित होती है, जिनकी प्राय सभी आकृतिया चतुरश्रा होती हैं—उत्तर-वेदी (जो सर्व-प्रधान वेदी है) एव आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही। उ० वे० की 'नाभि' एव 'उखा' की भी वही आकृति होती है।

अपच इन सभी नैत्यिक यज्ञो की वेदियो (आहवनीय, गार्हपत्य एव दक्षिणा) एव नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियो (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एव प्रयोजन सभी प्रासाद निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते हैं। वैदिक परम्परा मे वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है, यज्ञीय कर्म-काण्ड की तो वह क्षेत्रमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न की निश्चित आकृति। श० ब्रा० (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि—वेदी पृथ्वी है और अन्तर्वेदी द्यौ—कितना सगत है।

हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमि मे यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रूप तिरोहित हो कर द्यौ की पूर्णता म परिणत हो जाता है। अतएव उसी पूर्णता के प्रतीकत्व म उस चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एव वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अपच यागोपलाक्षणिक एव प्रासाद-वास्तुक चतुरश्राकार पुन नाना आकारो मे परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय परम्परा ही नहीं जिसमे एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदो की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अपितु सूत्र-साहित्य (दे० बोधायन शुल्व-सूत्र आदि) म भी यह परम्परा पल्लवित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध मे अवशेष कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एव विकास मूल-सिद्धान्तो के क्रोड मे किया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि रचना के प्रतिपादक शुल्वसूत्रो (जो कल्प-सूत्रो के ही अवान्तर पुञ्ज है) म वर्णित नाना

'अग्नियों' (ऐष्टिक यज्ञ-वेदिकाओं) पर कुछ विशेष सकेत यहा आवश्यक है। इ आचार्य (दे० H A I A.p 63)ठीक ही लिखते हैं —

"The construction of these altars, which were required the great soma sacrifice, seems to have been based on sciet principles and was probably the precursor of the temple whi later became the chief feature of Hindu Architecture"

इन अग्नि-वेदियों का नाना आकृतियों में निर्माण होता था। तैत्तरीय-सहि (दे० पचम ४-११) में इनका पुरातनतम निर्देश है। बौद्धायन तथा आपस्तम्ब सूत्रों म इन वेदियों की आकृतियों एव उनके निर्माण में प्रयुक्त इष्टकाओं (Bricks)के पूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न सज्ञायें उल्लेख्य हैं —

सज्ञायें	आकृतिया
१ चतुरश्रा श्येनचिति	चौकोर
२ कण्व-चिति	,, कुछ फेर सहित
३ अलज चिति	,, ,,
४ प्राग्-चिति	(Equilateral triangle
५ उभयत प्राग्-चिति	,,
६ रथ-चक्र चिति	

टि० —इसके दो भेद सकीर्तित हैं—एक ठोस तथा बिना अरों (spokes) के—रथ-चक्राकृति वाली तथा दूसरी षोडश अरों सहित रथ-चक्राकृति।

७ द्रोणचिति	घटाकार (चतुरश्र अथवा वर्तुल)
८ परिचय्य-चिति	

टि० —ईंटिक-योजना म यह वर्तुलाकार होती है और इष्टका न्यास में कुछ परिवर्तनों से यह 'रथचक्र चिति' के समान ही निर्मेय है।

९ समूह्य चिति	(वर्तुल)
१० कूर्म-चिति	यथानाम कच्छपाकार जो त्रिकोण अथवा वर्तुल दोनों में निर्मेय है।

इन वेदियों के निर्माण म एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनका निर्माण चय-कला (masonry) की प्राचीन पद्धति का परिचायक है। इनमे प्रत्येक वेदी की रचना कम से कम ईंटों की पाच उठान या रद्दों (layers) में सम्पन्न की जाती थी। किन्ही किन्ही में ये (layers) १० और १५ तक प्रतिपादित

है। जितने अधिक (layers) उठते थे, उतनी ही अधिक ऊचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा मे २०० ईटो के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी मे १००० ईटें लगें। पहले, तीसरे और पाचवें रद्दो के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे, परन्तु दूसरे और चौथे रद्दो मे दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एव समानाकार की एक इष्टिका दूसरी इष्टिका पर न पडने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार—चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं, तदनुसार इन वेदियो मे इष्टिका-न्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रो (Squares) मे ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन मे निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit —June 1876 no 1, Vols I & IV etc

'The first alter covered an area of 7½ purusas, which means 7½ squares, each side of which was equal to a purusa, i e the height of a man with uplifted arms On each subsequent occasion the area was *increased by one square purusa Thus* at the second layer of the alter one square purusa was to the 7½ constituting the first citi *altar*, and at the third layer two *square purusas* were added and so on But the *shape of the* whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged The area of every citi (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, tortoise, etc—had to be equal to 7½ square purusas

Thus squares had *to be found which would be equal to two* or more given squares, or equal to the difference of two given squares, oblongs were turned into squares and squares into oblongs Triangles were constructed equal to given squares or oblongs and so on A circle had to be constructed, the area of which might equal as closely as possible that of a given square

अस्तु, लगभग १५६ मजाओ के साथ (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) जो मेरे—हिन्दू प्रासाद मे द्रष्टव्य है।

वेदी-विन्यास मे जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओ के चयन का सकेत है उन की पृथक् पृथक् मजायें होती थी। इष्टिका-कर्म (masonry) उस सुदूर अतीत मे कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं।

पौराणिक

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से सकीर्तन किया जाता है, उस मे 'श्रुति' (वेद एवं वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्म-शास्त्र का) क्रम आता है, पुन पुराणो का। परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओ मे विशेष अन्तर नही है। सत्य तो यह है कि पुराणो ने श्रौताचार (जो एक प्रकार मे विशिष्ट या शिष्ट जनो का आचार था) की ही भित्ति पर श्रौत-स्मार्त संस्थाओ का नवीन रूप (पौराणिक रूप) प्रदान किया।

पुराणो की महती देन 'सामान्याचार' है जिस में आर्य एवं अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एवं शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रूप से भाग ले सकते थे। ,इस सामान्यचार मे 'देव-भक्ति' एवं तदनुरूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी। त्रिमूर्ति—ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की कल्पना एवं तदाधार वैष्णव एवं शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एवं तदनुषङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एवं तत्सम्वन्धी अवतारवाद एवं उनकी नाना लीलायें आदि की वडी वडी अनेक शृङ्खलायें निर्मित हुई।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणो की रचना कितनी पुरानी है पुराणो का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एवं वेद मे कितनी घनिष्टता है, पुराणो की संख्या एवं पुराणो से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय हैं—इत्यादि प्रश्नो की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नहीं है। यहा प्रकृत प्रासाद-वास्तु के विकास मे वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन की समीक्षा का अवसर है। अत इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम हम उस आधार-भौतिक दृष्टि-कोण से विवेचन करेंगे जिससे पुराणों मे प्रतिपादित पूर्त धर्म के प्रचार मे देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

इष्टापूर्त की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं। यहा पर थोडा विस्तार से कथन आवश्यक है।

इष्टापूर्त वैसे तो एक शब्द है, परन्तु इसमे दो भाग हैं—इष्ट+पूर्त—प्रथम का अर्थ है यज्ञ-सम्पादन (इष्टि = यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled) — Spiritual result or merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts 'Kane, H.D. Vol. 2 pt. 2. p 843

'इष्टापूर्त' की संस्था अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखती है। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का सर्कीर्तन हुआ है—

(i) सङ्गच्छस्व पितृभिः स यमेन इष्टापूर्तेन व्योमन्।

ऋ० १०. १४. ८

(ii) इष्टापूर्तं ···नः पितृणामम् ददे हरसा दैव्येन।

अथर्व० २. १२. ४

(iii) यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै।

...यदिष्टं यत्परादानं यद्दत्तं या च दक्षिणा।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्।

तै० सं० ५. ७. ७. १-३

(iv) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च।

वाज० सं० १५. ५४ तथा १८. ६१

(v) इष्टं पूर्तं शाश्वतीनां समानां शाश्वतेन हविषेष्ट्वानन्तं लोकं

परमारुरोह। तै०ब्रा० ३.५.५

(vi) इत्यददा इत्यजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत।
इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य। इष्टापूर्तेनैवैनं स समर्धयति॥

तै० ब्रा० ३.६.१४

इसी प्रकार कठ एवं मुण्डक आदि उपनिषदों में भी 'इष्टापूर्त' का निर्देश है—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

कठोप० १. १. ८

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति॥

मुण्ड० १. २. १०

महाभारत की इष्टापूर्त पर निम्नलिखित भारती सुनिये :—

एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते॥

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

स्मृतियो मे इष्ट एव पूर्त (इष्टापूर्त) दोनो की सामान्य सस्था पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होते हैं—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्य कुर्यादतन्द्रित ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षयेते भवत स्वगागतैर्धनै ॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तित ॥

मनु० ४ २२६ २७

अस्तु, ऊपर एक सकेत किया जा चुका है कि पौराणिक धर्म की सर्वतोन्मुखी विशेषता जन धर्म (popular religion) है। इसमे शूद्र भी भाग ले सकते थे। अत्रि का उद्घोष है —

इष्टापूर्तौ द्विजतीना धर्म सामान्य इष्यते ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके ॥

इस अवतरण से यहा पर पूर्त धर्म की सामान्य सस्था पर प्रकाश पडता है—इष्ट धर्म वैदिक है एव पूर्त-धर्म पौराणिक- यह भी परिपुष्ट होता है। अत निष्कर्ष यह निकला कि पौराणि पूर्त धर्म म 'देवतायतनो' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था।

पूर्त धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नही समझनी चाहिये। पुराणो की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समझना भ्रामक है। पुराण (पुराना इतिहास) भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैसे हो सकता है? उसी प्रकार हमे पूर्त-धर्म को नवीन सस्था नही समझनी चाहिये। वैदिक-वाड्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्त धर्म कहा तक जाता है? कल्प सूत्रो के मर्मज्ञ विद्वानो से अविदित नही को उनमे श्रौत सूत्रो के अतिरिक्त धर्म-सूत्रो एव गृह्य सूत्रो का भी समावेश है। धर्म-सूत्रो एव गृह्यसूत्रो मे दानादि-महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एव मूर्ति-प्रतिष्ठा—Fundation of Temples) एव उत्सर्ग(वापीकूपतडागारामादि का परोपकाराथ-निर्माण—dedication ot wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन हैं।

जैमिनि-सूत्रो (१ ३ २) की व्याख्या करते हुये शबरस्वामी का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी सस्था के रूप मे परिकल्पित करता है जहा पर

प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमो मे वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वे की 'धन्वन्निव प्रपा' – १०. ४ १ तथा 'भोजस्येद पुष्करिणीव' – १० १०७१० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म सूत्र (अ० ६१ १-२) ने कूप एव तडाग निर्माण की जो प्रशसा की है वह उसमे पाप प्रक्षालन एव स्वर्गारोहण दोनो ही लभ्य हैं।

शा० गृ० सू० (५ २) मे प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन है। आश्व० गृ० सू० (४ ६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट मे भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पडे हैं। पा० गृ० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है :—

......अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनाना प्रतिष्ठापन व्याख्यास्यामस्तत्रो दगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुण यवमय चरु श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्व नो अग्ने इम मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरु हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनीकमिति दशर्च हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्त स्विष्टकृत्प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वालङ्कृत्य गा तारयित्वा पुरुषसूक्त जपन्नाचार्याय वर दत्वा कर्णवेष्टकौ वासासि धेनुर्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम्। पार० गृ० परिशिष्ट'।

अस्तु सूत्र-ग्रन्थो के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग व महानदी वह निकली जो पुराणो के सागर मे मिली। पुराणो मे इस पद्धति का बृहद् विजृम्भण हुआ। अग्नि-पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि मे विवरण द्रष्टव्य हैं। तन्त्रो एव आगमो की भी यही गाथा है। पचरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एव कामिकादि आगम-ग्रन्थ सभी मे यह विकास पराकाष्ठा तक पहुच गया। कालान्तर पा कर अर्वाचीन समय मे प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमे अपरार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्ग तत्व, नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा-मयूख तथा उत्सर्गग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है, परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रो के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिए—प्रतिष्ठापन सविधोत्सर्जनमित्यर्थ —दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अग क्रमश. है—सकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा

भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोडा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतो के लिये ा है। अतः उत्सृष्टा(दाता) भी तो उन भूतो मे एक है अत वह भी समान-से उसके भोग का अधिकारी। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग देने पर भी उत्सृष्टा (दाता) इन के भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) सस्था पर महाकवि बाणभट्ट निम्न निर्देश कितना सुसगत है जहा पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्ब-र दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन —'स्मृतिशास्त्रेणेव ावसथकूपप्रपाराम सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण मे तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग)को इष्ट-धर्म से भी ा माना गया है —

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसमतौ
प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्तमिष्ट यज्ञादिलक्षणम्
मुक्तिभुक्ति प्रद पूर्तमिष्द भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनो ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। 'पूर्त' से वापी, कूप, ाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एव इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमे ष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु 'पूर्त' भुक्ति एव मुक्ति दोनो का ही धन है। अतः इसी महाभावना से पूर्त-धर्म के परिपाक मे देवतायतन निर्माण वृहद् निवेश है जिस मे प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं हैं वरन् से सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरा सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प फलवृक्षो का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अग)—वापीकूप-ागादि।

सूत्र-कारो ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग मे केवल कूपादि जलाशयो का ही पादन किया है, परन्तु जलाशयोत्सर्ग मे पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। रतवर्ष की प्राचीन सस्कृत मे वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एव भिन्न अग है। यागादि मे वृक्षो के बहुत प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र— स्रुवा, हा) से हम परिचित ही हैं। वृक्षो की वन्दनवार प्रायः सभी सस्कारो एव ारोहो की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एव वृक्ष-फल बिना क्या कोई कभी भी कर्म-काण्ड सम्पन्न हुआ है? (दे० हेमाद्रिव्रतखण्ड— वत्थोदम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवा पचाङ्गाः इति प्रोक्ता सर्वकर्मसुशोभनाः—

जिस स्थान पर कूपादि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उ
होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेष कर बडे-बडे वनस्पतियों - न्यग्रोध-- पिप्पल प्र
अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश मे कोई भी जन स
(public-place)बिना वृक्षों की छाया कैसे बन सकता था ? अथच वृक्ष
का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। माहाभाष्यकार पतञ्जलि व
सुदूर समय मे भी 'आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता' का विश्वास प्रति
था। महाभारत मे वृक्षारोपण बडा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के
पर:—

वृक्षद पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा॥
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मत स्मृताः ।
(अनु० प० ५८. ३०—३

विष्णु धर्म-सूत्र (९१ ४) का भी वही समर्थन है -
वृक्षारोपयितुर्वृक्षा परलोके पुत्रा भवन्ति।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणो की पुण्य-भूमि पर और भी निखर
(दे० पद्म-पुराण), जहा वृक्षारोपण, देवालय निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एव यज्ञ
कर्म-काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहा पर संकेत करने का अभि
प्राय पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहा पर देवा
यन—मन्दिर निवेश की पद्धति मे वृक्ष एक अभिन्न अग थे। मत्स्यपुराण (दे०
२७० २८-२९)मे स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा मे फल-वृ
पश्चिम मे कमलकार तथा उत्तर मे पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सालादि तालादि वृ
भी आरोपित हो। प्राचीन धर्म-शास्त्रों मे वृक्षों की रक्षा पर बड़े कठोर शासन
अनुशासन है (दे० विष्णु- धर्म-सूत्र ५ ५५ ५९)। अतः स्पष्ट है किसी
प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग मे वृक्षारोपण एव वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अग है।

इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सकें कि पूर्त-धर्म
के प्रधान अङ्गो मे केवल जलाशय (वापी, कूप, तडाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा
एव उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों मे सामग्री है। जहा तक 'मन्दिर-प्रति
अथवा मन्दिर मे प्रतिमा प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिक व्यवस्था (सूत्र
जिसके अभिन्न अग हैं) नही। वह तो स्मार्त एव पौराणिक संस्था है; परन्तु देवा
प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते,
कूपवापीसु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च।
एष एव विधिर्द्दिष्ट प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेष स्यात प्रासादोद्यानभूमिषु ।।

म. पु. ५८. ५०-५२

अर्थात् जो विधि तडागादि जलाशयो की प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग मे प्रचलित है, वही उद्यानादि पर एव प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझना चाहिये —विशेष यह कि मत्रो के प्रयोग मे थोडी सी हेर फेर अवश्य रहे।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा(Foundation of temples)तथा देवता-प्रतिष्ठा(Consecration of an imag in the temple)पर विस्तृत विवरण प्राय सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रुप से लिखेंगे। मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एव मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अग हैं। आदि शकराचार्य के जगत प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम मे मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी मे जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एव मठ दोनो से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहा पर इस दिशा मे विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोडा सा और सकेत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्सहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव मे उसे अर्ध-पुराण समझना चाहिये। बृहत्सहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूत सलिलमारामान्विनिवेश्य च।
देवातयतन कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ।।
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालय कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते ।।

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहा पर *पुष्पवृक्षा एव फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एव सुनिविष्ट* हैं वहा पर यश एव धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान् (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवनायतन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त मे जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोको का अभिलाषी यजमान

देवालय-निर्माण करावे। क्योंकि देवालय-निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य स्वर्ग प्राप्ति) एव पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनो ही एकत्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रवचन से प्रासादो के उदय के अन्तर्तम मे पौराणिक पूर्त-धर्म के मर्म को पाठक भली भाति हृदयङ्गम कर सके होगे। 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी 'परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिर कारयेत्' सर्वथा सिद्ध हो गया। प्रमाद कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है। 'स्थपति एवं स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध मे प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है। अत. ये सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान् को) मिल जाते हैं। बृहत्संहिता के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रासद-कारक यजमान् का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और यह नित्य स्वर्ग, मन्दिर की दृढता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एव चिरस्थायी है, वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी। 'महानिर्वाण-तन्त्र' त्रयोदश २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन मे निर्देश करता है कि काष्ठादि से विनिर्मित छाद्य-प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्टकाओ से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य यह है कि हिन्दू-दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ-कार्य के समान पुनीत एव स्वर्ग-कारक है। प्राचीन काल मे लोगो का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है —दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख। अग्नि पुराण (दे० अ० ३८ १०-११ तथा २५-२६) का भी यही पोषण है।

'शैवागम-निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है :—

ये वै शिवालय भक्त्या शुभ कारयतीप्सितम्।
त्रिसप्तपुरुषाल्लोक शम्भोर्नयति स ध्रुवम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
सर्वैरवश्य कर्तव्य ग्रात्माभ्युदयकांक्षिभिः॥

'यमसहिता' का भी ऐसा ही साहित्य है'—

कृत्या देवालय सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
विधाय विधिवच्चित्र सल्लोक विन्दते ध्रुवम्॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३ २४०-४४) मे 'प्रासाद-स्तवन' बडा ही मार्मिक है।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन्म-समाज मे इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों मे भी प्रासाद-वास्तु के विवेचनावसर ये ग्रन्थ पुराणो एव धार्मिक ग्रन्थो के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्य-पुण्य पर प्रवल एव प्रचुर सकेत करते है। इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बडा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अत समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यही पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव मे 'इष्टापूर्त' की परम्परा मे प्रतिष्ठापित प्रासादो का माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पडेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है:

प्रासादराज मेरू· एवमेव चतुश्शृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभित ।
५५. १४.१५ मेरुर्मेरुप्रभ कार्यो वाञ्छता शुभमात्मन ॥
सर्वस्वर्णमय मेरू यद् दत्वा पुण्यमाप्नुयात् ।
तमिष्टकाशैलमय कृत्वा तदधिक भजेत् ॥

सर्वतोभद्र जय लक्ष्मी यश कीर्ति सर्वाणीष्टफलानि च ।
५५. ३०½;५६-१४० करोति सर्वतोभद्र सर्वतोभद्रक. कृत· ॥
विधाय सर्वतोभद्र देवानामालय शुभम् ।
लभते परम लोक दिवि स्वच्छन्द-भाषितम् ॥

रुचकादिचतुष्षष्टि-प्रासादा पुराणा भूषणार्थाय भुक्ति-मुक्ति प्रदा नृणाम् ।
५६-८

मेर्वादिविंशिकायाम्

श्रीधर. श्रीधर कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानव· ।
५७ ४८.४६ इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
सर्वपापविनिर्मुक्त शान्तश्च स्यान्न सशयः ॥

सुभद्र: प्रासाद ये सुभद्राख्य कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७.१११½ कल्पकोटिसहस्राणि भद्र तेषां शिवापत ॥

सुरसुन्दरः कुर्याद् य एन प्रासादमीदृश सुरसुन्दरम·
५७ पृ० ५७ वाॅ स वरिञ्च युगशत सूर्यलोके महीयते॥

नन्द्यावर्तः भक्त्या ये कारयन्त्येन नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५७ वाॅ विमान शुभमारुह्य शक्रलोक व्रजन्ति ते ॥

सिद्धार्थ·	य· कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	स भवेत् सर्वकामाप्त शिवलोके च शाश्वत ॥
शङ्खवर्धन·	य· शङ्खवर्धन कुर्यात् स भुनक्ति चिर महोम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा चास्य सततं भवेल्लक्ष्मी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य-भूषण	त्रैलोक्य-भूषण ब्रूमो वन्दित त्रिदशैरपि ॥
५७ पृ० ६२, ६४	आश्रय सर्वदेवाना पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य-भूषण कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्त यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्म·	पद्माख्य कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभ· ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधे ॥
पक्षवाहु	पक्षवाहु कृतो येन त्रिगभ कर्मभूषित ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्रप्रताप स्यात् तुरङ्गगतनायक ॥
लक्ष्मीधर	अथ लक्ष्मीधर ब्रूमो य कृत्वा विजय नर· ।
५७ पृ० ६८, ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चेश्वरान् ॥
	लक्ष्मीधराख्य प्रासाद य· कुर्याद् वसुधातले ।
	अक्षये स पदे तत्वे लीयते नात्र सशय ॥
रतिदेह	रतिदेहमय ब्रूम प्रासाद सुमनोरमम् ।
५० पृ० ६९-७०	अप्सरोगण-सकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एव विध य कुरुते प्रासाद रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषयति कन्दर्पं स्यात्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकाम·	सिद्धिकाममय ब्रूमो प्रमथैरुपशोभितम् ।
५७ पृ० ७०-७१	धन-पुत्र-कलत्राणि धृते यत्राप्नुयान्नर ॥
नन्दिघोष	नन्दिघोषमय ब्रूमो विपक्षमयनाशनम् ।
५७ पृ० ७२	य एन भक्तित कुर्यात् स भवेदजरामर ।
सुरानन्द	य· करोति सुरानन्द वरदास्तस्य मातर ।
५७ पृ० ७५	सुरास्तस्य ह्यनिस्तार्यमपमृत्यु हरन्ति च ॥
हर्षण	हर्षण· क्रियते यत्र स देश सुलभेप्सिते ।
५७ पृ० ७७	क्षेम गोब्राह्मणानां स्यात पूर्णकामश्च पार्थिव ॥
दुर्जय·	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।

५७ पू० ७६	न भवेत तत्र दुर्भिक्ष न च व्याधिकृत भयम् ॥
त्रिकूट	भू मस्त्रिकूट ब्रह्मार्षे सेवित त्रिदशैस्त्रिभि ।
५७ पू० ७६	फल क्रतुसहस्रस्य येन मोक्ष च विन्दति ॥
बुद्धिराम	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम ।
५७ पू० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसा गणै ॥
कैलास	भुक्त्वा भोगाश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम ।
५७ ६३	शाश्व पदमवाप्नोति शान्त ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टप	कृत्वा त्रिविष्टप दिव्य प्रासाद पुरभूषणम ।
५७ प० ६५	वसेत त्रिविष्टपे तावद्यावदाभूतसप्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्वे लयमाप्नोति मानव ।
क्षितिभूषण	गुणवान् नृपतिर्यद्वद भूषयत्यखिला महीम् ।
५७ पू० ६६	क्षिति विभूषयत्येव प्रासाद क्षितिभूषण ॥
	द्रव्येषु रेणुसख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत ॥
विमान	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टै क्रतुशतैर्भवेत ।
५७ प० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानव ॥
मुक्तकोण	निर्मापयन् नर कश्चिन्मुक्तकोण महायशा ।
५७ प० १०६	समाप्नोति महासौख्य विमुक्त सर्वपातकै ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त सर्वकिल्विषवर्जित ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोग मोक्ष च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्र	इम दिग्भद्रसज्ञ य प्रासाद कारयेत पुमान् ।
६४ १४	शतक्रतुफल सोऽपि लभते नात्र सशय ॥
महाभद्र	महाभद्रमिम यश्च कारयेद भक्तिमान नर ।
६४ ७८	स स्वर्गे सुरनारीभि सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रि	मलयाद्रिरय प्रोक्त प्रासाद शुभलक्षण ।
६५ ३६	य एन कारयेत तस्य तुष्यन्ति सकला सुरा ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग सुन्दर	सर्वाङ्ग सुन्दर नाम प्रासादमथ सुन्दरम ।
६५ १३१	भुक्तिमुक्तिप्रदातार मण्डदम् ॥

टि०—इसी प्रकार का प्रासाद-स्तवन समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु म भरा पड़ा है । यह उपलक्षण मात्र है । वे ही पद्य चुने गये हैं जो इष्टापूर्त की ओर सकेत करते हैं ।

लोक-धार्मिक

हिन्दू-प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियो को लेखक ने अपने उन्मेष से उद्भावित किया है उनमे लोक-धर्मिणी का एक बडा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक-धर्मिणी' इस शब्द-चयन मे भारतवर्ष के इस विशाल भू-भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तो तथा उनके अनेक-वर्गीय एव विभिन्न-भाषा-भाषी मानवो की मौलिक आस्था—भगवद्दर्शन, पुण्य-स्थानावलोकन, तप पूत-पावनाश्रम-विहरण एव प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, धाम ,आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओ के कूलावास —एक शब्द मे 'तीर्थ-यात्रा' से तात्पर्य है। भारतवर्ष के सास्कृतिक समुत्थान मे, उसकी मौलिक एकता के सरक्षण मे तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के सफल प्रयास मे तीर्थ-यात्रा ने महान् योगदान दिया है। मन्दिरो की स्थापना मे तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एव पुराण मे प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा-माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म न प्रासाद निर्माण की वह ऊर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नही अनेक नही शतश नही सहस्रश भी नही अगणित प्रासादो की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत मे इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश मे निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी उसके प्रति उतनी ही ममता एव प्रेम रखते हैं जितनी वैसी भी भारत-देश-निवसी की हो सकती है। महाभारत एव अष्टादश पुराणो की सब से बडी सास्कृतिक देन यही लोक-धर्म है, अतएव हमने इसके मर्म के मूल्याङ्कन मे हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि मानी है जितनी अन्य पूर्व-प्रतिपादित पृष्ठ-भूमियों को।

विष्णु-सहिता मे प्रासाद पूजा-गृह ही नही पूज्य भी है एव ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय मे 'भक्ति' ने बडा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म प्रधान-सस्था थी। पौराणिक प्रासाद भक्ति प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद की इसी दृष्टि की दिव्य-ज्योति को देखने वाली त्रिश्चियन महिला सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश का निम्न कथन पठनीय है—

To the pilgrim and devotee who goes to the temple, it is a

Tirtha made by art, as others are by nature, and often it is both in one A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built, it has of necessity to be seen Darsana, the looking at the temple, the seat, abode and body of divinity and its worship (puja), are the purpose of visiting the temple To fulfil this purpose in addition to bring an offering and work of pious liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form"

इस उद्धहरण ने प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर पूर्व-प्रतिपादित पूर्त-धर्म पूर्व सकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो सकेत किया है उस पर वक्तव्य के लिये ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिस के आलोक मे आलोकित हो कर मानव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानो का विज्ञान तत्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे 'आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व-विद्या का मूलमत्र ज्ञानाधिगम है। बिना ज्ञान के मुक्ति सभव नही—ऋते ज्ञानान्न मुक्ति। परन्तु यह ज्ञान-मार्ग बडा दु साध्य है — सर्वसुकर नही। सभी तो ज्ञानी नहीं अतः अज्ञानियो को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिये। अग्निपुराण (दे० १०९) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने से न केवल भुक्ति ही प्राप्य है वरन् मुक्ति भी। श्रुति एव स्मृति, पुराण तथा आगम मे प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहुचने के उपाय है। भूलोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुचने के लिये सोपानो का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकाये एव सर्वोपर प्रतिष्ठित 'आमलक' साधन एव साध्य की रूपक-रञ्जना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ-सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तात्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिस को पार कर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व मे(साध्य) मे लीन होने का साधन है।

तीर्थ का यह अध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व—मोक्ष का उपाय है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ हैं (दे० महाभा० अनु० १७० २-३, १२-१३) परन्तु अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भवसागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेतु है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इन का क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना सज्ञाओं से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल मे ऐसे स्थानों की सख्या सख्यातीत है—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं नाह्नवी स्मृता

म० पु० ११०.७

षष्टिकोटिसहस्राणि षष्टिकोटिशतानि च
तीर्थान्येतानि देवाश्च तारकाश्च नभस्तले ॥
गणितानि समस्तानि वायुना जगदायुषा ॥

ब्र० पु० १७५ ८३

तस्माच्छृणुध्व वक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तु वर्षशतैरपि ॥

ब्र० पु० ७, ७-८

यहां पर एक निर्देश यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीयों ने जहां-जहां ऐसे सुन्दर प्राकृतिक स्थानों को देखा उनमे रमकर वहा पर आराधना का स्थान स्थापित किया—मन्दिर या पूजा-गृह का निवेश प्रारम्भ किया। इन स्थानों पर जल-योग अनिवार्य रहता था—कोई पुष्करिणी, तडाग, सरिता, सगम, समुद्र-वेला आवश्यक रहते थे।

पर्वतों की पुण्य भूमि भी तीर्थों के लिये विशेष उपयुक्त समझी गयी। अरण्यों को भी तीर्थ-स्थानों के स्थापन मे कम महत्वपूर्ण नहीं समझा गया। यही कारण है, जैसा आगे के विवेचन से प्रकट है, इस देश म ऐसे प्राकृतिक स्थानों पर अगणित तीर्थों का उदय हुआ। इस देश की आध्यात्मिक सस्कृति (spiritual cultue) की यह महिमा है, अन्यथा भौतिकवादी तो इन स्थानों पर होटल बनवाते और शिकार खेलकर पडाव डालते जैसा कि पश्चिम के देशों मे देखा जाता है।

लोक-धर्म एवं उसमे तीर्थ-स्थानो की इस श्रौपोद्घातिक समीक्षा मे एक तथ्य यह है कि वैसे तो स्मृतिकारो के मत में तीर्थ-यात्रा सामान्य धर्मों मे एक थी—

क्षमा सत्य दम शौच दानमिन्द्रियसयम.।
अहिंसा गुरु-शुश्रूषा तीर्थानुसरण दया ॥

आर्जव लोभशून्यत्व देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्म सामान्य उच्यते ॥

परन्तु कालान्तर मे पुराणो की परम्परा मे वह (अर्थात् तीर्थ-यात्रा) अविकल सामान्य-धर्म—लोक-धर्म के रूप मे परिणत हो गयी।

हम जानते ही हैं कि मनु एवं याज्ञवल्क्यादि धर्म-शास्त्रकारो के मत मे तीर्थों का महत्व अत्यन्त ऊंचा रहा नही था, परन्तु महाभारत एव पुराण मे तो तीर्थ-माहात्म्य ही महा माहात्म्य है। महाभारत का इस लोक-धर्मिणी सस्था पर निम्न प्रवचन कितना मार्मिक है—

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधांवर ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥

महाभा० वन० ८२. १३-१७

अपि च

पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम् ।
विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत् ॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम ।
तीर्थं फलप्रदं ज्ञेय नात्र कार्या विचारणा ॥

विष्णु-धर्मोत्तर २७३. ७ तथा ६

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओं मे भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नही होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६९.६ तथा १७३ ११ एव चतुर्थ म० २९ ३ म तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७ ११— सुतीर्थ अर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १ ४६ ८—अरित्र वा दिवस्पृथू तीर्थे सिन्धूना रथ —मे तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोपकारो ने माना है—'तीर्थं योनौ जलावतारे च'— इति हलायुध)—निश्चित है। और आगे बढिये तो ऋग्वेद मे ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य स्थान का बोध होता है—तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्युमा – ऋ० दशम् म० ३१ ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६. ३७.वी ऋचा—सुवास्त्वा अधि तुग्वनि- पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रथो मे भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पडता है। निम्न अवतरणो का पारायण रोचक होगा —

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति —

तै० स० षष्ठ— १ १ १-७

(ii)'ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकावन्तो निषङ्गिणः —

तै० स० चतुर्थ ५ ११ १-२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमदीयात्तादृक् तत्

श० ब्रा० द्वितीय. ६

(iv) 'ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमामान नाम—

श० ब्रा० १८ ६

(v) 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः' अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'चैतद्धै देवानां तीर्थम्' षड्वि० ब्रा० ३. १

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (९. ४) एवं शा० श्रौ० सू० (५. १४. २) आदि प्राचीन वैदिक ग्रथो मे भी 'तीर्थ' के सकेत है।

यहा पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म मे लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा मे भी निष्ठा की आवश्यकता है। तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नही है। महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहादुपावृत्त सन्तुष्टो येन केनचित् ॥
अहकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रिय ।
विमुक्त सर्वपापेभ्य स तीर्थफलमश्नुते ॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रत ॥
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

महाभा० वन० २२६-३२

जो नैष्ठिक नही वे तीर्थ फल के भागी नही बनते। अत तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक साधना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊचा किये बिना निष्फल है। भाव-नैर्मल्य अनिवार्य है। स्कन्द पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६ २८ ४५)—

दानमिज्या तप शौच तीर्थ-सेवा श्रुत यथा ॥
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मल ॥

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी सयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटोदयोर्मि ।
तत्राभिषक कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

वामन पु ४३ २५

पद्म-पुराण तो इस अर्थ को और आगे बढा देता है (दे० द्वि० ३६, ५६-६१)।

तीर्थों की कल्पना कब उदय हुई? तीर्थों का जलाशय-मात्र अर्थ है अथवा इसने व्यापक क्षेत्र (wide scope) मे अन्य स्थान भी गतार्थ हैं, कौन कौन से स्थान विशेष प्रशस्त है, पुराणो की तीर्थ-सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एव देवालयो की ऐतिहासिक परम्परा का कहाँ तक अक्षुण्ण रक्षण हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिन पर इस उपोद्घात् मे सविस्तर वर्णन असभव है, अथच अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय मे लेखक की दृष्टि में सर्वतोवरिष्ठा पृष्ठ-भूमि तीर्थ है।

सर्वे प्रस्रवणा पुण्या सर्वे पुण्या शिलोच्चया ।
नद्य पुण्या सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषत ॥
शङ्ख० ८ १४

सर्वा समुद्रगा पुण्या सर्वे पुण्या नगोत्तमा ।
सर्वमायतन पुण्य सर्व पुण्या वनाश्रमा ॥ पद्म० ४ ८३ ४६

तास्तु नद्य सरस्वत्य सर्वा गङ्गा समुद्रगा
विश्वस्य मातर सर्वा जगत्पापहरा स्मृता
ब्राह्मण्ड २ १६ ३६

भागवत (पच १६ १६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० १६ २०—२३) आदि म भी इसी प्रकार की प्रशसा है । महाकवि कालिदास (कुमार १ १) भी तो हिमालय को देवतात्मा कहते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षत्र म सरिताश्रो एव सागरो की ही गतार्थता नही, बडे २ पावन तप पूत अरण्य भी महातीर्थ हैं—नैमिषारण्य के माहात्म्य से कौन अपरिचित है ? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) म अरण्य को देवता क रूप म सम्बोधित किया गया है । वामन पुराण म कुरुक्षेत्र क सात अरण्य बड ही पावन एव पापहर प्रतिपादित हैं —

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यत ।
येषां नामानि पुण्यानि सर्व-पापहराणि च ॥
काम्यक च वनं पुण्य . ।

अस्तु, विस्तरेणालम् । तीर्थ-स्थानो स तात्पर्य पुण्य प्रदेशो स है वे नदियां हैं या पुष्करिणियां, सागर हैं कि सगम, वन हैं कि पर्वत—व सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इज्या स पूत हो चुक हैं – व सब तीर्थों के नाम स प्रख्यात हुए । हम जानते ही हैं कि हमार शरीर म ही कोई कोई अवयव (जैस दक्षिण हस्त) अन्य अवयवो की अपेक्षा विशेष पुनीत समझा जाता है उसी प्रकार पृथ्वी के नाना प्रदेशो म कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुषमा अपन अद्भुत प्रभाव, जलाधिक्य अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य क कारण विशेष पूत समझे जाते हैं व ही तीर्थ हैं । प्राचीनाचार्यों न लिखा भी है

१ यथा शरीरस्योद्देशा केचिन्मेध्यतमा स्मृता
तथा पृथिव्या उद्देशा केचित् पुण्यतमा स्मृता ॥
प्रभावादद्भुताद्भूमे सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीना च तीर्थाना पुण्यता स्मृता ॥पद्म पु० द्वि० ६२ ४६ ७

है—अपयो वं सरस्वत्या सत्रमासत। देवल ने तो अपने प्रवचन मे निम्नलिखित कतिपय सारस्वत-तीर्थ माने हैं—

पल्लप्रस्रवणं वृद्धकन्याकं सारस्वतमादित्यतीं कौबेरं,
वैजयन्तं पृथूद नैमिषं विनशनं वंशोदभेद प्रभासमिति सारस्वतानि।

इस महानदी के विलोप का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भूगर्भ-विद्या-विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदियो की पावनता पर सकेत करने के उपरान्त अब पर्वतो की प्रान्तर उपत्यकाग्रो को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा मे पर्वतो की उपत्यकायो एवं सरिताग्रो के सङ्गम पवित्र प्रतीत होते है

उपह्वरे गिरीणा सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ सप्तम म० ६. ७८

ऋग्वेद मे पर्वत का सकीर्तन इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने 'पर्वत' की मेघ के अर्थ मे व्याख्या की है; परन्तु षष्ठ म० ४६, १४वीं ऋचा मे पर्वत अहिर्बुध्न्य एव सविता के साथ-साथ स्वाधीन रूप में सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण 'मेघ' ही करते हैं; परन्तु तृतीय म० ३३ १ म तत्कालीन दो महानदिया विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) पर्वतो की गोद मे निकलती हुई वर्णित की गयी हैं। यहा पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जडी बूटियो से परिचित था।—

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत सर्वाश्च यातुधान्यः॥ अथ० ४ ६ ६.

सूत्र-ग्रन्थो (दे० हिरण्याक्ष, गौतम, बौद्धायन आदि) मे पावन प्रदेशो की गणना मे सभी पर्वत, सभी सरितायें, सभी पुण्यतोया पुष्करिणिया, ऋषि-आश्रम, देवतायतन आदि सभी पवित्र एवं तीर्थ माने गये हैं। पुराणों मे तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरो की पावनता पर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं —

सर्वं पुण्यं हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वतः।
समुद्रगाः समुद्राश्च सर्वे पुण्याः समन्ततः॥ वायु० ७७. ११७
'राजा समस्त-तीर्थानां सागरः सरितां पतिः'

नारदीय (उत्तर) ५८.१६

भूमि की ओर सकेत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ-यात्रा के लोक-धर्म मे प्रासादो (मन्दिरो) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एव अभिन्न अङ्ग बनी; अतः हम उन्ही तीर्थों पर यहाँ सक्षेप मे थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनों की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त मे एक तीर्थों की देवतायतन-पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे, जो 'हिन्दू-प्रासाद' मे पठनीय है।

गङ्गा तीर्थों मे महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महा सस्कृति मे जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-त्रयी मे अपने-अपने जानपदीय सस्कारो एव स्व-प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितों ने एक तीर्थ का दूसरे तीर्थ से घटा-बढा कर लिखा है; परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ है जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वर के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ है। नदियों मे गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रकट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी —गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादो, विमानो एवं आयतनो का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ—वाराणसी प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

नर्मदा :—नदी-तीर्थों मे गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इसीस प्रकट है कि कहीं-कहीं पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्व स्थापित है :—

त्रिभि सारस्वतं तोय सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्य पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥
पद्म० आदि० १३.७, मत्स्य १८६. ११

॥ मुख्या पुरुष-यात्रा हि तीर्थयात्रानुपङ्गत ।
सद्भि. समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते ॥
यद्धि पूर्वतमै सद्भि, सेवित धर्म-सिद्धये।
तद्धि पुण्यतम लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते ॥ स्कन्द-पुराण

अर्थात् धर्म-सिद्धि के लिये सज्जनो से सेवित स्थान को—वह सरिता तट है, पुष्करिणी-प्रदेश है या सगम है अथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या अन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की सज्ञा से पुकारे गये हैं।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटो पर हम विचरण कर सके। विस्तार-भय से अब सक्षेप मे तीर्थों की प्रधान और गौड सूची पर दृष्टि डाल कर इस स्तम्भ को समाप्त करना है। ऊपर के उपोद्घात से तीर्थों की परिगणना म सर्वप्रथम नाम नदियो के हैं। नदियो मे गङ्गा (नदीपु गङ्गा)का सर्वश्रेष्ठ पद है। अरण्यो मे नैमिपारण्य, तडागो मे पुष्कर तथा क्षेत्रो मे कुरुक्षेत्र। महाभारत का गान है—

पृथिव्यां नैमिपं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।। वन प० ८३ २०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहो—दैव, आसुर, आर्प एव मानुप—म विभाजित करता है। इनम प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवो के द्वारा प्रतिष्ठापित, द्वितीय असुरो के द्वारा सन्निविष्ट (जैस गया), तृतीय आर्प यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा—प्रभास, नरनारायण, वदरिकाश्रम आदि)तथा अन्तिम मानुप—अम्वरीप, मनु, कुरु आदि राजन्यो के द्वारा।

इसी पुराण म दक्षिणापथ की ६ नदियो तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथ की ६ नदियो—गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है।

नर्मदा—तीर्थों म 'त्रिस्थली' का माहात्म्य अति पुरातन है। त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग काशी और गया से है। इन महातीर्थों पर बडे बडे पोथे लिखे गये हैं। इनके अपन-अपन अनेक उप-तीर्थ भी हैं। अस्तु, हम सभी इन तीर्थों पर यहा सविवरण वर्णन नही कर सकते। विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणों का पारायण आवश्यक है। इस दिशा म डा० काणे का महनीय प्रयास बडा ही स्तुत्य है—(see H D Vol. IV)। यत यह अध्याय एव इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उन पृष्ठ

भूमि की ओर सकेत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ-यात्रा के लोक-धर्म मे प्रासादो (मन्दिरो) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एव अभिन्न अङ्ग बनी; अतः हम उन्ही तीर्थों पर अति सक्षेप मे थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनो की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त मे एक तीर्थों की देवतायतन-पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे, जो 'हिन्दू-प्रासाद' मे पठनीय है।

गङ्गा तीर्थों मे महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महा सस्कृति मे जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की नयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-ग्रथो मे अपने-अपने जानपदीय सस्कारो एव स्व-प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितो ने एक तीर्थ या दूसरे तीर्थ से घटा-बढा कर लिखा है; परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ है जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वर के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओ का परम पावन तीर्थ है। नदियों मे गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रगट है कि स्वय पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी—गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादो, विमानो एवं आयतनो का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ—वाराणसी प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

नर्मदा —नदी-तीर्थों मे गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इसीसे प्रकट है कि कही-कही पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्व स्थापित है :—

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥
पद्म० आदि० १३.७, मत्स्य १८६. ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य-पुराण (दे० १६४४५) तथा पद्म-पुराण (आ० अ० २१४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्टक से लगाकर उसके समुद्र-सङ्गम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एव कूर्म मे तो यह सख्या ६० करोड ६० हजार हो गई। भले ही यह सख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसख्यक तीर्थ एव मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमे महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्ल-तीर्थ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य-तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों मे माहि-

ध्मती की बड़ी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी संकीर्तित है।

गोदावरी —गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा—यह हम सभी जानते है। दंडकारण्य एवं पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरों का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनपा। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन संज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। ब्रह्म-पुराण की परम्परा मे:—

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते।
उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते॥

ब्रह्म-पुराण मे गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है; उनमे त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

गोदावरी की उपान्त-भूमि मे नासिक एव पञ्चवटी इन दो तीर्थों की बडी महिमा है। नासिक प्राचीन नगरी है। यह ईसा से कम से कम २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। वाम्बे गजेटियर मे नासिक के ६० मन्दिरों एव पञ्चवटी पर १६ मन्दिरो का उल्लेख है; परन्तु ये सभी मन्दिर कथाशेष है। १६८० ई० मे औरगजेब के दक्षिणी सूबेदार के द्वारा विनष्ट किये गये थे—यह ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक सभी विद्यमान मन्दिर पूना के पेशवा (१७५०-१८१८) के द्वारा निर्मापित है। इनमे तीन विशेष उल्लेख्य है—पञ्चवटी का रामजी, नारोशंकर अथवा घण्टा-मन्दिर तथा सुन्दर-नारायण। पञ्चवटी के सीता-गुम्फा के निकट कालाराम का मन्दिर भी बडा विख्यात है।

पुष्कर-क्षेत्र—महाभारत (वन पर्व ८२. २६-२७) का उद्घोष है:—

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः॥
तत्राभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः॥

पद्म-पुराण का भी पारायण (पंचम २७-२८) सुनिये—'नास्मात्परतरं लोके अस्मिन्परिपठ्यते'। यह अजमेर से ६ मील पर है। यहा पर ब्राह्म-प्रासादों मे एक अब भी विद्यमान है। इसके कुण्डो (ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ) की बडी महिमा है। इस क्षेत्र की पुष्कर-संज्ञा का कारण यही पर कमल-भ— कमलासन ब्रह्मा द्वारा अपने पुष्कर (कमल) का विसर्जन है।

कुरु-क्षेत्र —यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एवं महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन संकेत भी प्राप्त हैं (दे० ऋ० दशम ३३. ४; ऐ० ब्रा० सप्त० ३०, तै० आ० पंचम १ १ एवं कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्म-क्षेत्र पड़ा (दे० गीता—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे)। आर्यों की गौरव-गाथा में कुरुक्षेत्र एवं ब्रह्मावर्त दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से बड़े प्रख्यात हैं। *कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनों से प्रतीत होता है यह एक वैदिक संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ-स्थल—देवा वै सत्रमासत. . तेषां कुरुक्षेत्रं वेदिरासीत* —तै० आ० प० १ १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरू से पड़ा। वामन-पुराण का प्राचीनख्यान है कुरु ने इन्द्र से वर मांगा —

> यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु वः।
> स्नातानां मृतानां च महापुण्यफलं त्विह ॥

कुरुक्षेत्र की कितनी सीमा थी और यहां पर कौन-कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—इन सब का अखिल सर्कीर्तन न कर कुरुक्षेत्र के कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानों का नाम-संकीर्तन ही पर्याप्त है। इनमें ब्रह्मसर नामक पुष्करिणी प्रख्यात है। व्यास स्थली या व्यास-तीर्थ आधुनिक वसथली, (थानेश्वर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील पर), अस्थिपुर (यहीं पर महाभारतीय योद्धाओं का अस्थि-संस्कार हुआ था—अतः यथार्थ नाम) के अतिरिक्त यहां पर एक प्राचीन मन्दिर था। कनिघम के मत में 'चक्रतीर्थ' इसी की संज्ञा है। पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ सारस्वत तीर्थ) आधुनिक पेहेवा है जो करनाल जिले में है।

त्रिस्थली—अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एवं प्रख्यात क्षेत्रों का यहां सकीर्तन न कर त्रिस्थली—प्रयाग, काशी और गया पर अति संक्षेप में समाहार कर तीर्थ-सूची में तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी।

प्रयागराजः—प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है। प्रयाग पर सर्वप्राचीन सकेत ऋग्वेद के एक खिल में (दे० म० १० ७५) में है। पुराणों एवं महाभारत में इस की बड़ी महिमा गायी गयी है। तीर्थ राज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये है —प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वणी (त्रिवेणी)। प्रयाग शब्दार्थत. प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र(प्रकृष्ट)+याग (जहां पर)) कहलाया। राज-शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—ऐसा पुराणों का विश्वास है।

काशी—प्राचीनता, पुण्यता एवं प्रशस्तता में काशी की समता इस देश की (और विदेश की भी) कोई भी नगरी नहीं कर सकती। धर्म-पीठ और विद्या-

पीठ – धर्म-क्षेत्र एव शासन-क्षेत्र का यह काञ्चन रत्न-सयोग ग्रन्यत्र दुर्लभ है। न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक विशिष्ट एव विलक्षण शाखा बौद्ध-धर्म का भी यह प्रधान ही नही प्रथम प्रवर्तन-पीठ है।

वाराणसी और काशी का बडा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा०, बृहदारण्यक एव कौपीतकी उपनिषदो आदि मे भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य म भी काशी के प्राचीन सकेत है। महाभारत और हरिवश मे तो पूरा इतिहास पढने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रथो के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एव प्रख्यात नगर था। पुराणो मे तो पृथुल प्रवचन है।

अस्तु, इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहा अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पाच नाम है -वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामो का भी लम्बा इतिहास है। सक्षेप मे काशी—काशते प्रकशते राजते वा—से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिंग की आधायिका है। वाराणसी मे वहा का दो प्राचीन नदियो—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्वविद्या बडी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ मे एक आध्यात्मिक रहस्य पर जाबालोपनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बडा सुन्दर सकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप म उपास्य है, क्यो कि आत्मा अविमुक्त मे प्रतिष्ठित है। पुन प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा कहा पर है? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य म अविमुक्त प्रतिष्ठित है? वरणा और नासी का क्या अर्थ? वरणा सर्वेन्द्रिय दोषा को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापो को काटने वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनो का स्थान कहाँ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—भ्रू और नासिका का जो सन्धि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न+विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती के द्वारा यह स्थान कभी भी नही विमुक्त—छोडा गया।

चौथा नाम आनन्द-कानन का साधारण अर्थ है क्योकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहां पर उनको बडा आनन्द मिलता है। अत आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यो कहा जाता है? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है; 'शान' का अर्थ शयन है। अत जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहा पर शवरूप मे शयन करते है, इस लिये इसकी महाश्मशान सज्ञा है। पद्म-पुराण म शिव ने स्वय कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इस लिये विख्यात है क्योंकि मैं यही से इस सम्पूर्ण जगत का सहार करता हू।

अस्तु, काशी की सबसे बडी महिमा बाबा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर मे पुराणो मे भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत मे अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही हैं। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गो की परम्परा एव प्रसिद्धि से हम सभी परिचित है, परतु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिंग सवश्रेष्ठ है—दे० काशी-खण्ड २६, ३१—'ज्योतिर्लिंग तदेक हि ज्ञेय विश्वेश्वराभिधम्'

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य पुण्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थों के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलाक (सूर्य-मन्दिर जहा पर द्वादशादित्यो की प्रतिष्ठा है) केशव, विन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। आजकल तो पञ्च-तीर्थो मे गङ्गा और असि का सगम, दशाश्वमेघ घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगगा घाट और गगा तथा वरुणा का सगम प्रसिद्ध हैं। वाराणसी-तीर्थ-यात्रा मे इन प्रधान पीठो के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रोशी परिक्रमा' का भी बडा माहात्म्य है। काशी मे कपाल-मोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध हैं। सम्भवत यह मध्यकालीत परम्परा है।

गया— 'त्रिस्थली' के दो स्थल प्रयाग और काशी पर इस सक्षिप्त प्रवचनोपरान्त अब गया पर चलो। पूर्वजो की गया करें। वास्तव मे तीर्थ-क्षेत्र एव मन्दिर-पीठ दोनो की दृष्टि से गया का बडा महत्त्व है। प्रत्यक हिन्दू अपने दिवगत पिता की गया करने का अभिलाषी रहता है। बहुसख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते है। गया हिन्दुओ एव बौद्धो दोनो का ही महातीर्थ है। गया और बुद्ध-गया इन दोनो नामो से हम परिचित है। बुद्ध-गया पर हम आगे तीसरे पटल मे लिखेंगे। हिन्दू-दृष्टि से गया की सक्षिपत समीक्षा आवश्यक है।

वायु पुराण का गया-माहात्म्य बडा विशद है। गया के इतिहास, पुराण एवं नाना उपाख्यानों के इतिवृत्तों एवं रूपक-रञ्जनाओं का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इस का प्राचीनतम साहित्य पोषण करता है। 'गय' आर्ष-संज्ञा है। ऋ० दशम, ६३ १७ तथा ६४ १७ में—'असत्ताविं जनो दिव्यो गयेन'—आया है, अत यह आकृत समर्थित होता है। अथर्ववेद (१ १४ ४। में गय एक जादूगर के रूप में निर्दिष्ट है। वैदिक संहिताओं के असुर, दास, राक्षस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अत बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर-'गय' पुराणों का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरस्' की तथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणों से भी प्राचीन है। निरुक्त-कार यास्क ने—'इदम् विष्णुर्-विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'—की शाकपूणि की व्याख्या में प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौः) सकेत के साथ-साथ और्णवाभ की व्याख्या में समारोहण, विष्णु-पद एवं गयशिरस् का भौगोलिक संकेत भी दिया है। अथच 'गयशिर' शब्द पर नाना संकेत बौद्ध-ग्रंथों में आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रंथ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का संकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वां सर्ग) में भगवान् बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—ऐसा वर्णन है। वहां पर (दे० १७ वां सर्ग) गया में स्थित उरुबिल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारे ऐसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५ ४०) में विष्णु-पद की महिमा से उसे श्राद्ध का पुण्य-स्थान माना गया है। समारोहण यथानाम किसी 'प्रान्तर' प्रदेश (किसी पहाडी के ऊपर समतल भूमि पर स्थित नगर या दुर्ग) में है। सम्भवत फल्गू नदी के निकट पहाडी से इसका परामर्श है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि और्णवाभ का यह 'गयशिरस' स्थल गया में ही है। गया की 'गयशिरस' संज्ञा का पौराणिक आख्यान बडा ही रोचक है। गयासुर नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिस की ऊंचाई १२५ योजन तथा परीणाह (मोटाई) ६० योजन था। वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। सब देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुंचे। ब्रह्मा उनको लेकर शिवधाम पधारे। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ। अत विष्णु सब को साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उस की इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मांगने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतोत्कृष्टा पूज्यता मांगी। देवों ने 'तथास्तु' कहा और स्वर्ग चले गये। अब गया जो

कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यात्मा हो जाता और स्वर्ग पहुंचता। बेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहा भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा क पास पहुच। ब्रह्मा यम को साथ लकर पुन विष्णु के पास गय और कहा आप गयासुर से यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर माग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धडाम से जमीन पर गिर पडा—सिर कोलाहल पर्वत के उत्तर म और पैर दक्षिण म। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-सभार जगाये। परन्तु यज्ञ-काय म ब्रह्मा को एक बाधा दिखाई पडी। गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा न शिवादि देवो से उस पर खडे होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना ना रुका तो बेचारे पितामह पुन पुराण-पुरुष विष्णु के पास गये और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलने से बचाइय। विष्णु न अपनी 'मूर्ति' दकर कहा जाओ इस को रख दो हिलना बन्द हो जावेगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहा आगय और स्वय जनार्दन पुण्डरीक तथा आदि गदाधर के रूप म ब्रह्मा प्रपितामह पितामह फल्गीश केदार और कनकेश्वर के पाच रूपो म विनायक गणश गजरूप म तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी, सीता, गौरी (मङ्गला) गायत्री सरस्वती भी सभी अपने अपने नाना रूपो मे उस शरीर पर सवार हो गयी। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई—इस तरह उसे क्यों धोखा दिया गया? ,जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुन इस सब लादने का क्या प्रयोजन? उस पर भी विष्णु न अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर) देवो ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मागने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया-क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर ने वर मागा—'जब तक पृथ्वी सूर्य, चन्द्र तारागण का अस्तित्व है, तब तक ब्रह्मा विष्णु शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च कोश परिमित गया-क्षेत्र एव क्रोशैक-परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य मे केन्द्रित रहे। सभी देवगण अव्यक्त (पद चिन्हादि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप मे विराजमान रहे। जिन को यहा पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्रह्मलोक जावें और ब्रह्म हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहा नाश हो जावे"। देवो को तथास्तु कहना पडा।

गया के पुराणमाख्यानम् पर इस सक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्रह्माणो की दुदशा पर कुछ अश्रुकणो का पात अवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणो को दे डाला, यहा पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धिया थी। 'असन्तुष्टा द्विजाः नष्टा:' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहा के ये ब्राह्मण बडे लालची थे। उनका पेट नही भरा। उन्होने धर्मारण्य मे धर्मराज के नाम पर बडा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मागी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बडे क्रुद्ध हुए और आ कर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्रह्माण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियो के द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिण के अतिरिक्त और कोई सहारा नही।

अन्त मे गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वल्प सकीर्तन अपेक्षित है। गया-तीर्थों की सख्या काफी बडी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त है, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बड़ा है जो भगवान् विष्णु के पद-चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाडी पर है जो फल्गु नदी के पश्चिम पार्श्व मे स्थित है। गया मे लगभग ४५ श्राद्ध -वेदिया है जिनमे पाच प्रमुख हैं - प्रेत-शिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्मान्कुण्ड तथा काक-बलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त क्रोशैक परिमित गय-शीर्ष के मुण्ड-पृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाबोधि तरु' हिन्दुओ के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धो के लिये - गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ हैं।

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बडा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है, विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'। कहा तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियो मे तीर्थ-माहात्म्य की लोक-धर्मिणी सस्था का मूल्याङ्कन करने चले थे वहाँ वह स्वय महा प्रासाद के रूप म इतनी ऊची उठ गयी। वास्तव में हिन्दू सस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान् है वही महतो महीयान् बन जाता है

अस्तु, ग्रन्थ-विस्तार-भय से अब यह विवरण सकोच्य है। परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एव महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास मे पुण्यनगरियो की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है —

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका।
एता: पुण्यतमा: प्रोक्ता पुरीणामुत्तमोत्तमा ॥
काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि।
मथुरावन्तिका चैता सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदा॥

धामो मे बदरीनाथ, जगन्नथपुरी, रामेश्वर तथा द्वारका अत्यन्त पावन एव प्रसिद्ध हैं। इन पर स्थित मठो एव मन्दिरो की कुछ विस्तार से समीक्षा हम आगे करेंगे—(दे० तृतीय पठल—प्रासाद-वास्तु के स्मारक)।

यहा पर जगन्नाथपुरी, जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से प्रख्यात है, उस पर थोडा सा विवेचन प्रासङ्गिक है।

जगन्नाथपुरी उडीसा मे है। उडीसा मे चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्र हैं—भुवनेश्वर (चक्रतीर्थ), जगन्नाथ (शख-क्षेत्र), कोणार्क (पद्म क्षेत्र) तथा जैपुर (गदा-क्षेत्र) पुरुषोत्तम तीर्थ (जगन्नाथपुरी) [पर ब्रह्म-पुराण (दे० अ० ४७-७० लगभग १६०० श्लोक) तथा वृहन्नारदीय (उत्तरार्ध अ० ५२-६१ लगभग ८०० श्लोक) मे बडे विस्तार से वर्णन हैं। उडीसा की दो और सज्ञायें हैं—ओण्ड्र तथा उत्कल। पुराणो की वार्ता है अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न इस महातीर्थ की गौरव-गाथा सुनकर अपने सैन्य, सेवक, पुरोहितो और स्थपतियो को लेकर यहा पर भगवान् वासुदेव के दर्शनार्थ आ पहुचा। वहा पर भगवान् जगन्नाथ की इन्द्रनील-मणि-मयी प्रतिमा थी, जो बालुका मे विलुप्त हो लतागुल्म से अदृश्य थी। इन्द्रद्युम्न वहा पर अश्वमेध यज्ञ किया और एक बडा प्रासाद (मन्दिर) बनवाया और जब उस मन्दिर म प्रतिमा-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो रात्रि म उसे स्वप्न हुआ कि समुद्रवेला पर स्थित वटवृक्ष के निकट प्रातरुत्थाय जाओ और वटवृक्ष काट लाओ। राजा ने वैसा ही किया और वही पर उस दो ब्राह्मण मिले जो वास्तव म स्वय भगवान् विष्णु और विश्वकर्मा थे। भगवान् ने राजा से कहा कि उन का यह साथी (दूसरा ब्राह्मण) तुम्हारे लिये प्रतिमा बनावेगा। विश्वकर्मा ने इन्द्रद्युम्न के द्वारा निर्मापित प्रासाद मे प्रतिष्ठार्थ कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन काष्ठमयी मूर्तिया बनाकर प्रदान की। विष्णु ने राजा को बिना मांगे वर भी दिया कि जिस कुण्ड पर उसने अवभृथ स्नान किया है वह उसके नाम से विख्यात होगा तथा जो आगे के लोग इस मे स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक को जायेंगे। अस्तु इस वार्ता से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषोत्तम एक प्राचीन स्थान था जो नीलाचल के नाम से विश्रुत था। यहा पर कृष्ण की उपासना मे काष्ठमयी प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा से यह परम्परा कुछ विशेष प्राचीन प्रतीत होती है।

राजेन्द्रलाल मित्र (See Antiquities of Orissa) का आकूत है—पुरुषोत्तम-क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालो मे विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल (Vaisnava period)। प्राचीनतम हिन्दू काल का कुछ आभास ऊपर की पौराणिक वार्ता से प्राप्त हो सकता है। बौद्ध काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल (उडीसा) म अशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाडी), एव खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पाच माल की दूरी पर है) म बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरो के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव मे जगन्नाथ को रथ-यात्रा (Car- procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (processon of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एव जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्ति-त्रय-परम्परा (दो भाइयो के साथ बहन) पर बौद्ध-धर्म के त्रिक—बुद्ध, धर्म एव सघ—का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एव सहिष्णु समय का उद्घोष करता है जब शैवो एव वैष्णवो के पारस्परिक सौहार्द्र की सरिता वह निकली थी। जगन्नाथ के प्रासाद प्रधान के अतिरिक्त वहा पर १२० मन्दिर और हैं जिनमे १६ तो शिवालय ही हैं। सूय-मन्दिर भी हैं। हिन्दू-धर्म के प्राय सभी सम्प्रदाय यहा पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुओ का चार धामो मे यह एक अन्यतम धाम है। ब्रह्म-पुराण (५६ ३४-६६ तथा ६६-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितन सार्थक हैं —

शैवभागवताना च वादार्थप्रतिषेधकम्।
अस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे।
शिवस्यायतन देव करोमि परम महत्।
प्रतिष्ठेय तथा तत्र तव स्थाने च शङ्करम्।
ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ।
प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्त महामुनिम्॥
...
नावयोरन्तर किञ्चिदेकभावौ द्विधा कृतौ॥
यो रुद्र स स्वय विष्णुर्यो विष्णु स महेश्वरः।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ एसी विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र नही। यहा पर छुआछूत का भेद बिलकुल नही। यहा का भात ही पावन प्रसाद है। सभी उसे निस्सकोच स्वीकार करते हैं। यह 'महाप्रसाद' मुखाकर लोग अपन

अपने घर ले जाते हैं। यहा की रथ-यात्रा सब महोत्सवो की शिरोमणि है। आषाढ शुक्ल द्वितीया में यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीना—कृष्ण सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सलान्छन रथ चलते हैं जो यात्रियों के द्वारा खीचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती हैं और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथ पुरी में भी पाच प्रधान तीर्थ है— मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्ड:—

मार्कण्डेय वट कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम।
इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधि स्मृत. ॥ ब्र० ६०. ११

जगन्नाथ के मन्दिरों पर आगे के पटल मे समीक्षा होगी अत इस धाम की इस पूर्व-पीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१ १८. २१-२४) का प्रवचन है —

पृथिव्यां यानि लिंगानि तेषा संख्या न विद्यते।
सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारे परमेश्वरम् ॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे ॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।
सेतुबन्धे च रामेशं घुष्मेशं च शिवालये॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत्॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओं एव नाना सम्प्रदायों के अनुरूप इस देश में अगणित पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठो को प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा विज्ञान'—इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बाहस्पत्य सूत्र' (पृ० ११६-१२६) वैष्णवों शैवों एवं शाक्तों के आठ आठ पावन क्षेत्रों का निर्देश है, जिनका अवतरण विशेष आवश्यक नहीं।

अस्तु अगणित तीर्थों की तालिका अब यहा नही लाई जा सकती हैं। अन्त

मे औपोद्घातिक उस महातथ्य का माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव मे सत्य-भूमि तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ-भूमि—धर्म-भूमि है। पद्म-पुराण (द्वि० ३९ ५६-६१) का प्रवचन है – 'जहाँ अग्निहोत्र एव श्राद्ध की जाती है, जहा देवतायतन स्थित है, जिस घर मे वेद-पाठ होता है, जहा गौवें रहती हैं, सोमपायी जहा निवास करते हैं, जिस स्थल पर पर अश्वत्थ उगा है, जहा पुराण का पारायण होता है, जहा अपना गुरु रहता है, जहा सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लडका रहता है — वे सभी तीर्थ-भूमिया हैं।''

अस्तु, हमने अपने—'हिन्दू प्रासाद'—Hindu Tepmle मे लगभग २२०० तीर्थो की तालिका प्रस्तुत की है. वह वही पाठनीय है। अन्त मे इतना ही पर्याप्त है कि भगवान् वायु (दे० वायु-पुराण) का कथन है कि तीर्थों की सख्या साढे तीन करोड है। अतः तीर्थ-माहात्म्य ही ने हिन्दू प्रासाद का यह प्रोल्लास प्रदान किया है।

मूल-सिद्धान्त

१. प्रासाद-पद की व्युत्पत्ति

२. प्रासाद स्थापत्य तथा राज प्रासाद स्थापत्य (Temple-architecture & Palace-architecture)

३. प्रासाद-शैलियां

४. प्रासाद निवेश एवं प्रासाद-विन्यास

५. प्रासाद-प्रतिष्ठा एवं मूर्ति-न्यास

प्रासाद-निवेश

प्रासाद-स्थापत्य का शास्त्रीय विवेचन

प्रासाद का अर्थ —अमरकोष में प्रासाद की परिभाषा वास्तव में पारिभाषिक नही—'प्रासादो देवभूभुजाम्'—अर्थात् प्रासाद अर्थात् महल या मन्दिर राजाओं एवं देवों दोनों के लिये सज्ञापित है—यह परिभाषा एक प्रकार से साधारण है, जो काव्यों, नाटकों एवं अन्य ग्रन्थों में मिलती है।

प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति ही इस परिभाषा को काट देती है—सदन सादं अर्थात् इष्टिकाओं अथवा शिलाओं का सादन वैदिक चिति का प्रारम्भ करती है। प्रकर्षेण सदनं सादनं वा यस्मिन् स प्रासाद प्रकर्ष का अर्थ यहां पर मन्त्रादि-नाना उपचार पुरस्सर अभिषक आदि एवं परीक्षणादि मत्र-पूत इष्टिकाओं एवं शिलाओं के निवेश से वैदिक याग का श्रीगणेश सर्वप्रथम चिति से प्रारम्भ होता है। चिति से ही आगे चैत्य बना जो नरावास नहीं थे। चैत्य भी बौद्धों के लिये उतने ही पूज्य एवं उपास्य बने जैसे आगे चलकर ब्राह्मणों के लिये मन्दिर।

वैदिक चिति या यज्ञ वेदी हिन्दू प्रासाद की जननी बनी। जिस प्रकार यज्ञ को नारायण (यज्ञ-नारायण) के रूप में प्रकल्पित किया गया, उसी प्रकार प्रासाद को पुरुष (विराट-पुरुष) के रूप मे प्रकल्पित किया गया। निम्नलिखित उद्धरणों से पाठकों को बहुत कुछ प्रासाद शब्द की सच्ची व्युत्पत्ति तथा उसका अभिधेयार्थ— सत्यत बोधगम्य बन सकेगा। पुराणों मे अग्निपुराण का तन्त्रों म हयशीर्ष-पचरात्र का शिल्पग्रथों मे समरांगण-सूत्रधार एवं शिल्प-रत्न का तथा प्रतिष्ठा-ग्रंथों मे ईशानशिवगुरुदेव पद्धति आदि के जो पुष्ट प्रवचन उद्धृत किये गये हैं वे निम्न पठनीय है —

'प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेद निबोध मे।
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाश शुषिरात्मकम् ॥
तेजस्तत् पावक विद्धि वायु स्पर्शगत तथा।
पाषाणादिष्वेव जल पार्थिवं पृथिवीगुणम् ॥
प्रतिशब्दोद्भव शब्द स्पर्श स्यात् कर्कशादिकम्'
शुक्लादिक भवेद्रूप रसमन्नादिदर्शनम् ॥
धूपादिगन्ध गन्धन्तु वाग्भेर्यादिपु सस्थिता।
शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ॥

शिरस्त्वण्ड निगदित कलस मूर्द्धज स्मृतम् ।
कण्ठ कण्ठमिति ज्ञेय स्कन्ध वेदी निगद्यते ॥
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्तिता ।
मुख द्वार भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ॥
तच्छक्ति पिण्डिका विद्धि प्रकृतिञ्च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशव ॥
एवमेप हरि साक्षात् प्रासादत्वेन सस्थित
जघा त्वस्य शिवो ज्ञेय स्कन्धे धाता व्यवस्थित ॥
ऊर्ध्व भागे स्थितो विष्णुरेव तस्य स्थितस्य हि ।
सर्व तत्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्कारी तनु ।
'तद यथावस्थित कथयामि निबोधत ।
पायूपस्थौ प्रणालौ द्वौ नेत्रौ ज्ञयौ गवाक्षकौ ।
सुधा मुग्न (—?) पिनीज्ञेयास (व) र्ता मञ्जरीकोर्ध्व त ।
ज घा-ज घा तु विज्ञेया वरण्डी वसना मता ।
शुकाग्रातु भवेन्नासा सूत्राणि विशेपत ।
गर्भ स्थिरत्वे विज्ञेयो मुख द्वार प्रकीर्तितं ।
कपाटौष्ठपुटौ ज्ञेयौ प्रतिमा जीवमुच्यते ।
स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठ कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमालास्थित ज्ञेय— ——चून सस्थित ।
एवमेव रवि साक्षात् प्रासादस्थेन सस्थित ॥
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्कर स्मृत ।'
'प्रासाद पुरुप मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तम ।
प्रपद पादक विद्याच्छ्रिया स्तूपीति कथ्यते ।
लोहकीलकपत्रादि सर्व दन्तनखादिकम् ।
सुधा शुल्क त्विष्टिर्कौघमस्थि मज्जा च पीतरुक ।
मेद श्यामरुचिस्तद्वद् रक्त रक्त -रुचिस्तथा ॥
मास मेचकवर्ण स्याच्चर्म नील न सशय ।
त्वक् कृष्णवर्ण मित्यत्याहु प्रासादे सप्तधातव ।'
प्रासाद लिंगमित्याहु स्त्रिजगल्लयनाद यत ।
ततस्तदाधारातया जगती पीठिका मता ॥'
प्रासाद यच्छिवशक्त्यात्मक तच्छक्त्यन्ते स्वाद् वसुधान्तं स्तु तत्वं ।
सेयी मूर्तिःखलु देवालयाख्येत्यस्माद् ध्येया प्रथम चाभिपूज्या ॥'

ये सब इस नवीन उन्मेष को सार्थक एवं समर्थित करते हैं।

प्रासाद सथापत्य पर बहुत से योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने कलम चलाई है। प्रासाद अर्थात् देव मन्दिर अर्थात् (Hindu temple) के आविर्भाव के सम्बन्ध मे नाना अनूत इन लोगो ने लगाये है। प्रासाद के जन्म को कई लोगो ने Mound Theory, Umbrella Theory या Stup Theory गढी है, वे पूर्व निर्दिष्ट उद्धरणो से निर्थक सिद्ध हो जाता है।

सत्य यह है कि आधुनिक विद्वानो और लेखको ने यह नही समझा कि हमारी सारी कला क्या काव्य, क्या नृत्य या नाटक क्या संगीत क्या आलेख्य साथ ही साथ वास्तु और शिल्प भी—ये सभी कलाए दर्शन की ज्योति से ही अनुप्राणित है। दर्शन-विहीन भारतीय कला स्थाणु के समान निष्प्रभ अथवा शुष्क ही है। इस में सन्देह नही के विश्व के सभी साहित्यकारो तथा कलाकारो ने किसी भी काव्य, साहित्य अथवा कला को आनन्द-रहित नही माना, परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण मे आनन्द के सम्बन्ध मे महान् अन्तर है। भारत के इस सिद्धान्त मे ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की परिभाषा दी गई है, और –रसो वै स —वैदिक कालीन देन है। इसी लिये हमारे मनीषियो ने और ऋषियो न इस शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म का साक्षात्कार कर इन कलाओ मे भी ब्रह्म को स्थापित किया है। वास्तु-पण्डित तथा शिल्प–कोविद् भी पीछे नही रहे। शिल्पाचार्यों ने भी वास्तु-ब्रह्म की भी केवल कोरी कल्पना ही नही की वरन् पाषाण, इष्टिका एवं मृत्तिका के पुञ्जी-भूत रूप को अर्थात् साकार रूप को निराकार मे परिणत कर दिया है। इस अध्ययन मे हम प्रासाद के प्रमुख अंगो एवं उपागो का वर्णन करेंगे, जिसमे हमारी यह धारणा पूर्ण पुष्टि को प्राप्त करेगी।

प्रासाद-स्थापत्य तथा राज-प्रासाद स्थापत्य (Temple architecture & Palace-architecture —इस उपोद्घात के अनन्तर इस मूल-भूत अवतारणा के विपरीत दिशा मे जाते हुये भी हमे कुछ तर्क-युक्त व्याख्या करनी है। यह मेरा अध्ययन केवल समरागण-सूत्रधार पर आधारित है। समरागण-सूत्रधार मे राज-भवन को राज प्रासाद के नाम से नही पुकारा गया है। राज-निवेश अथवा राज-गृह के नाम से दो अध्यायो मे राज-भवनो का वर्णन किया गया है, तो फिर इस भाग मे देव-प्रासाद के साथ राज-भवनो को कैसे एकत्र लाया जा सकता है? इस का उत्तर इतिहास देता है, जिस पर आज तक किसी विद्वान् ने न सोचा न लिखा। हमारी प्राचीन परम्परा थी कि जनावासो म अर्थात् साधारण जनो के घरो म जहा तक दीवाल और खम्भो की रचना का

सम्बन्ध है वह कभी भी पाषाण अथवा शिला अथवा पकी ईंट से नहीं बनाना चाहिये। निम्न उद्धरण पढ़िए —

शिलाकुड्यं शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत—कामिकागम

यह परम्परा अति प्राचीन थी। अतएव प्राचीन काव्य ग्रन्थों जैसे रामायण आदि तथा सूत्र-ग्रन्थों मे साथ ही साथ इतिहास-ग्रन्थों मे देव-कुल, देवागार, धिष्ण्य आदि शब्दो का प्रयोग हुआ, क्यो कि देव-स्थान इन्ही जनावासो मे एक पृथक् एकान्त स्थान मे बनाये जाते थे। कालान्तर पा कर महाराजो, अधिराजों, सामन्तो, श्रेष्ठियो, धनियो मानियो एव दानियो के द्वारा मन्दिर-निर्माण का श्रीगणेश हुआ। मन्दिर की परिभाषा विश्व-कर्मा वास्तु-शास्त्र मे पाषाण-निर्मित भवन देव-भवन के लिये दी गई है। तभी से ये प्रासाद बनने प्रारम्भ हुये हैं। अत. शनैः शनैः देवो के लिये पाषाण-विनिर्मित आलय बनने लगे, जो मन्दिर कहलाए। इस रचना मे पहिली श्रेणी चिति के रूप मे, पुनः पट्टिकामयी (Dolemen) रचना मे, उस के अनन्तर छाद्यक एव मण्डपाकार देव-भवन उदित होने लगे—यह सब मौलिक भित्ति (शास्त्रीय सिद्धान्तो) पर आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य (Temple-architecture) पर आगे विवेचन करेंगे।

जहा तक मध्यकालीन प्रासाद-स्थापत्य-वैभव सम्पन्न हुआ— जैसे शिखर-मय, स्तूपिका-मय, भौमिक, सान्धार, निरन्धार, बहुभूमिक, अनेकाण्डक, पचायतन-पुरस्सर—वे सब वास्तव मे *प्रासाद-परिभाषानुगत स्थापत्य कला* के निदर्शन हैं—यह सब तत्रैव पठनीय है।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास मे लयन-प्रासादो, जिनको हम आधुनिक भाषा मे गुहा-मन्दिर Cave Temples कहते हैं, वे कितने प्राचीन हैं, यह सब हम जनाते ही हैं। समरांगण-सूत्रधार मे इन प्रासादो की पारिभाषिक सज्ञा 'लयन' अथवा 'गुहाधर' अथवा 'गुहराज' के नाम से दी गई है। मेरी दृष्टि मे शिलामय प्रासादो का विकास दो हजार वर्ष से अधिक नहीं माना जा सकता। पुरातत्वीय अन्वेषणो, अनुसन्धानो तथा नाना शिला-लेखो एव अनेक अन्य सम्भारो से यह भी पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि लगभग तीन हजार वर्ष पहले दारुज अथवा दारव(Wooden temples), मार्तिक एव पट्टिज अर्थात् (mud-temples and cloth-or-material Temples) प्रासादो की भी परम्परा थी। समरांगण-सूत्रधार अध्याय ५६ वें—परिमार्जित ७१ वें—में हर्म्य, वेणुर, पट्टिज तथा विभव एवं तारागण आदि नामो से इनकी संज्ञा उदघोषित की गई

है। इन थोडे से उदाहरणों के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य का यह ऐतिहासिक तथ्य —कि सर्वप्रथम वस्त्रमय, मृण्मय, तदनन्तर काष्ठमय और अन्त मे पाषाणमय पल्लवित, विकसित एव प्रवृद्ध हुए। यह सब द्वितीय खण्ड अनुवाद मे पठनीय है। जहा तक शिखरोत्तम प्रासादो एव भौमिक विमानों का प्रश्न है उनकी समीक्षा हम इस अध्ययन से पृथक् करेंगे। परन्तु प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास मे जहा वैदिक चिति (यज्ञवेदी) ने मूल प्रेरणा प्रदान की है, वहा लौकिक परम्परा ने भी एक महान् योगदान दिया। आरण्यक पूजा-गृहो ने प्रासाद-वास्तु की विच्छित्तिया, शोभाओ तथा अलकरणो मे सत्यनारायण-कथा-मडप (Tabernacle) विशेष उल्लेखनीय हैं। अरण्य-वासी ईश्वराराधन मे जगल की नाना लताओ विशेषकर वणु-पल्लवो, उनकी यष्टिकाओ एव लगुडो से मडप निर्माण करते थे तथा पल्लवों की भालरो से सजाते थे पुन: नाना उपचारो से उस मडप मे प्रतिमा प्रकल्पित कर उस की पूजा करते थे। इन्ही भालरो को वन्दनवार के नाम से हम आजकल भी पुकारते हैं। किसी मध्य-कालीन प्रासाद अथवा विमान के मध्य कलेवर को देखें तो उनके मुख-द्वार तोरणो, सिंहकर्णों, वितानों लुमाओ आदि से शोभागार प्रतीत होते है। इनकी मूल-भित्ति मे ही आरण्यक वन्दनवार-विच्छित्तिया है। शिल्पि-ग्रन्थो म द्वारो की शाखाओ के त्रिशाख-द्वारो से लेकर नव-शाखद्वारों के वर्णन मिलते हैं और वे हूबहू इन स्थापत्य-निदर्शनो मे भी प्राप्त होते है। यह सब विवरण विशेष कर मध्य कालीन शिल्प ग्रन्थो मे भरे पड़े हैं।

इस थोडी सी व्याख्या के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य के उपोद्घात मे हमने राज-प्रासाद एव देव-प्रासाद के विरोधाभास की ओर जो सकेत किया था उसका परिमार्जन यही ऐतिहासिक तथ्य निराकरण कर देता है। जब देवो के आलयो मे शिलाओ एव पाषाणो का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो उपर्युक्त पौराणिक एवं आगमिक आदेश शैथिल्य को प्राप्त हो गया और इसका सब से पहले लाभ राजाओं ने उठाया। उस का कारण यह था कि प्रासाद-राज अर्थात् प्रासाद-प्रतिष्ठित देव-राज (Spiritual and temporal authority) के दोनो रूपो मे जब प्रतिकल्पित किये गये तो (Temporal authority) राजाओं मे तो सनातन से हमारे देश मे निहित थी ही। जिस प्रकार से ईशान, चन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल दिक्पाल प्रकल्पित किए गये तो उसी प्रकार राजा भी एक प्रकार से पाचवा लोकपाल परिकल्पित किया गया। ग्यारहवी शताब्दी का अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ समराङ्गण-सूत्रधार भी इसी तथ्य का समर्थन एव पोषण करता है,—

पञ्चमो लोकपालाना राजाधिकतमो मतः

अतएव मेरे लिये एक समस्या उपस्थित हुई कि समराङ्गण-सूत्रधार के इस परिमार्जित संस्करण मे (तीन खण्ड—भवन, प्रासाद एव चित्र यन्त्रादि) मे राज-निवेश एव राज-गृह को कहा रक्खें। अत बाध्य हो कर प्रासाद स्थापत्य मे शास्त्र-दृष्टि से राजहर्म्य अर्थात् राज-प्रासाद-स्थापत्य को एक साथ नही ला सके।

विद्वानो मे ऐकमत्य नही कि मन्दिर शिल्प राज-भवन का अग्रज है अथवा अनुज है। इस पर हम कुछ प्रकाश राज-निवेश एव राजसी कलायें—शीर्षक पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ मे कर ही चुके है। यहा पर इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि राज-भवन के अग्रज शिल्प-दृष्टि मे देव-प्रासाद हैं। तथापि राज-भवन-विन्यास मे तीन मिश्रण प्राप्त होते हैं - प्रासाद-वास्तु जैसे शृंग एव शिखरादि, भवन-स्थापत्य अर्थात् शालाओ एव अलिंदो का बहुल-विन्यास तथा मौलिक आवश्यकतानुरूप रक्षा-व्यवस्था-द्वार-महाद्वार-प्रतोली-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि विन्यासो के साथ नाना राजकीय निवेश एव राजोचित उपकरण—सभा, गजशाला, अश्वशाला, क्रीडागारादि—ये सब राज-प्रासाद के समीक्षण मे प्रस्तुत किये जा चुके हैं—देखिये राज-निवेश एव राजसी कलायें—स० सू० भाग द्वितीय। हम अपनी दृष्टि आदान-प्रदान से तिरोहित नही कर सकते। अतएव यह युग, जब प्रासाद निर्माण का चरमोत्कर्ष काल था, तब वैदिक इष्टि का ह्रास हो चुका था और पौराणिक पूर्त-धर्म ने दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम सर्वत्र इस महादेश मे अपनी ध्वजा फहरा दी। पूर्त-धर्म का सर्वप्रमुख अङ्ग देवालय-निर्माण ही था। देवालय-निर्माण की व्यवस्था म वापी, कूप, तडाग एव आरामादि का सन्निवेश भी एक प्रकार से अनिवार्य अग हो गया था। अतएव दक्षिण भारत के विमान-प्रासादो के दर्शन करें वहा ये सब सम्भार एव विन्यास प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं।

प्रासाद शैलिया —भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को विद्वानो (पूर्व सूरियों न) द्राविड, नागर और वेसर म विभाजित किया है। परन्तु जहा तक द्राविड का सम्बन्ध है, वह भौगोलिक विभाजन अवश्य सगत है, परन्तु नागर और वेसर भूगोलानुरूप सगत नहीं। पुराणो मे (देखिये नागर खण्ड) नागर पूरे उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व नही करता। हमने अपने अनुसन्धान से नागर शब्द की परिभाषा मे, समरागण के अनुसार, नागर के अर्थ को समझने का यत्न किया है। यह नागर शब्द, नगर एवं नग अर्थात् पर्वत से विकसित हुआ है। साथ ही साथ वात्स्यायन के कामसूत्र से भी जो नागर अर्थात् शिष्ट समाज अथवा व्यक्ति (cultured society or citizen) पर सकेत मिलता है (देखिये

चतुष्षष्टि कलाओ का नागरिको के द्वारा सेवन) इन तीनो को ही लेकर समराङ्गण-सूत्रधार मे प्रासादो के विकास पर प्रवचन प्राप्त होते है वे ही इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं।

'नगराणामलङ्करहेतवे समकल्पयत' ।

जहा तक वेसर का सम्बन्ध है उसे भौगोलिक मानना बिल्कुल भ्रान्त है। मानसार मे नागर, वेसर और द्राविड की जो निम्न परिभाषा दी गई है वह भी भ्रान्त है—

नागरं चतुरश्र स्यादष्टाश्र द्राविड तथा
वृत्त च वेसर प्रोक्त .... ।।

उत्तर भारत मे नाना प्रासादो की आकृतिया नाना है वे एकमात्र चतुरश्र नही हैं। बहुत से गोल हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत मे अनेक प्रासाद चौकोर हैं क्या वे सब अठकोण हैं। बडे अध्यवसाय, अनुसधान एव चिन्तन के बाद हमने वेसर का जो अर्थ निकाला है वह वास्तव म अब विद्वानो की समझ म आ सकेगा। चू कि बहुत से लेखको ने वेसर को सस्कृत का तत्सम शब्द माना है और वेसर का अर्थ है सस्कृत मे खच्चर और दूसरा नासिका-भूषण जो गोल होता है। अतएव किसी न इस का अर्थ मिश्रित शैली माना अथवा इस शैली के प्रासादो को गोल माना है।

आकारानुरूप वेसर प्रासादो को हम इस प्रकार की समीक्षा पर ला सकते है—द्वि+अस्र-द्वयस्र वेसर—इस प्रकार से यह शब्द तत्सम न होकर तद्भव है।

अब रही वावाट, भूमिज और लाट आदि शैलिया—इनम लाट से सम्बन्ध गुजराती शैली से है—लाट का अर्थ गुजरात है। तथापि यह शैली नागर शैली मे ही विकसित हुई। इसकी सर्व-प्रमुख विशेषता अलकृति है जो मोंधारा के सूर्य मन्दिर से सर्वथा पुष्ट होती है। वावाट भी मेरी दृष्टि मे वेसर के समान ही तद्भव है। यह पद 'वावाट' वैराट का अपभ्रंश है। वैराटी द्राविडी शैली का ही अवान्तर विकास है। मैसूर के मन्दिर इन वैराटी शैली के समर्थक एव निदर्शन हैं। रही भूमिज की बात यह पद बडा ही सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे आसाम और बगाल म पूर्वोत्तर मध्यकाल मे भौम राजा राज्य करते थे। इन भूमिज प्रासादो म समराङ्गण की दिशा म अष्टशाल प्रासादो का वर्णन है जिनम वृक्ष-जातीय प्रासादो का विशे अनुपग प्रतीत होता है। साथ ही साथ इनमें रेखा-वर्तना भी स्थापत्य-कौशल का एक प्रमुख अग माना गया है। अत भौम राजाओ के काल मे ही इन भूमिज प्रासादो का उदय हुआ। पूर्वीय प्रदेशो के निवासी ब्राह्मणो को भूमिहार-ब्राह्मणो की सज्ञा मे आज भी

उपस्थापित किया जाता है। अतएव मेरा यह आकूत विद्वानों की दृष्टि में अवश्य कुछ अर्थ रख सकेगा।

जहां तक द्राविड़ शैली का सम्बन्ध है उनकी निवेश-व्यवस्था का पहले ही संकेत कर चुके हैं जो एक प्रकार से मन्दिर-नगर (Temple cities) में परिणत हो गये हैं क्योंकि प्राकार, गोपुर, मालायें, परिवार, मंडप, (शतमंडप, सहस्र-मंडप, नाट्य-मंडप) यात्रियों के, सन्यासियों के, परिव्राजकों के, दर्शनार्थियों के लिये नाना शालाएं निवासालय के अनिवार्य अंग माने गये हैं। अतएव उत्तर भारत के मन्दिरों और दक्षिण के मन्दिरों में बड़ा अन्तर है जो स्मारक-निदर्शन से पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा यह सब आगे विस्तारणीय होगा।

प्रासाद-निवेश एवं प्रासाद-विन्यास—प्रासाद-निवेश एक-मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद के मूलाधारों पर पीछे कुछ प्रकाश डाला गया ही है। 'प्रासाद' पद की जो व्याख्या एवं समीक्षा की गई है उससे स्वतः यह सिद्ध है कि प्रासाद-निवेश एक मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद को हमने निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप प्रतिपादित किया है। हमने यह भी कुछ इंगित किया ही है—जिस प्रकार मन्दिर में प्रतिष्ठापित देवता पूज्य है, उसी प्रकार प्रासाद भी पूज्य है। प्रासादों की जो दो विशिष्ट निमितियों पर हमने संकेत किया है—निरन्धार तथा सान्धार अर्थात् एक प्रकार के वे मन्दिर या प्रासाद जो केवल एक-भवन (One-shrine) के रूप में ग्रामे ग्रामे बने हुये शिवालय प्राप्त होते हैं, वे निरन्धार अर्थात् बिना प्रदक्षिणापथ के रूप में विभावित होते हैं। दूसरी कोटि में आते हैं सान्धार अर्थात् अन्धारिका अथवा अन्ध-कारिका या भ्रमन्ती या प्रदक्षिणा-पथ के सहित गर्भ-गृह वाले प्रासाद-मन्दिर ie' the main shrine with circum-ambulatory passage. यत न केवल प्रासाद में प्रतिष्ठापित देव-प्रतिमा ही पूज्य है वरन् प्रासाद-गर्भ मूल-भवन भी पूज्य है। अतएव प्रासाद भी पूज्य एवं प्रदक्षिणा के योग्य है। प्रासाद की व्युत्पत्ति के प्रथम स्तम्भ में जो अनेक उद्धरण हयशीर्ष-पंचरात्र, अग्नि पुराण, समरांगण-सूत्रधार तथा ईशान-शिवदेवगुरु-पद्धति आदि से प्रस्तुत किये हैं, वे पूर्ण रूप से प्रासाद पद की किंवती ब्रह्म के समान व्यापकता, विराट् पुरुष के समान विशालता एवं देवत्व का पूञ्जीभूत मूर्तरूप, स्वर्गारोहण का परम सोपान, मानव एवं देव का मिलन-बिन्दु,—अध्यात्म का परम निष्पन्द—ब्रह्माण्ड एवं अण्ड, जगत एवं जीव macrocosm and microcosm का तादात्म्य सभी इस प्रासाद-प्रतिमा में प्रत्यक्ष दीप्यमान, भासित एवं प्रत्यवसित

प्रतीत होता है। अतएव इस प्रकरण मे प्रासाद-निवेश के कुछ विशेष अगो जैसे उद्देश्य, कर्तृकारक-व्यवस्था, आकार-व्यवस्था, भूषा व्यवस्था प्रतीक-कल्पना, उपचार विनियोग, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि पर समीक्षा अभिप्रेत है। तदनुकुल अब हम इस स्तम्भ को स्वल्प व्याख्या मे ही सम्पन्न करना चाहते हैं। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थ Vastusastra vol I—Hindu science of Architecture मे द्रष्टव्य है।

प्रासाद-निवेश—प्रासाद यथापूर्व-निदिष्टि एवं प्रतिपादित वास्तु दृष्टि से भी एक महान् तथ्य की ओर इगित करता है। भारतीय स्थापत्य मे छन्द सिद्धान्त बडा ही महत्वपूर्ण है। भवन का आकार ही भवन का मर्म प्रतिपादित करता है। भारतीय वास्तु-शास्त्र म छन्दो की सख्या वैसे तो ६ दी गई है—मेरु, खण्ड-मेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट एव नष्ट। जहा तक प्रथम चार की बात है वे तो छन्द ही है परन्तु अन्तिम दोनो छन्द तो नही केवल भवन विन्यास के प्रस्तर घटक हैं। इन दोनो की उपादेयता पर हम अपने भवन-निवेश मे काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब रही इन मेरु आदि चार छन्दो की बात उन पर भी हमने यथानिदिष्ट उपर्युक्त अग्रेजी ग्रन्थ मे भी काफी निवेचन किया है। यहा पर हमारा तात्पर्य प्रासाद के वास्त्वाकार से है। भारतीय स्थपतियो ने मन्दिर के आकार को पीठ या जगती मे प्रारम्भ कर आमलक में क्यो प्रत्यवसायित कर दिया है। यह सब एक प्रकार की रचना नही है। यह मूर्त एव अमूर्त, जगत एव ब्रह्म, जीव एव ईश्वर को एक ही आधार पर लाने की चेष्टा की है। वैसे तो प्रासाद अर्थात मन्दिर देव-स्थान, देवावास, देवकुल है, परन्तु वास्तव म दार्शनिक दृष्टि मे यह आकार निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। हम न पीछे के अवतरणा मे यह सार सर्वथा परिपुष्ट कर कर ही दिया है। अतएव विशेष विवरणो की आवश्यकता नही। मन्दिर की आकृति अर्थात् आकार प्रकृति है? पुनश्च प्रासाद का मूर्धन्य शिरोभूषण आमलक है जो नागर प्रासादो की विशिष्ट अभिख्या है वह भी यह इसी मर्म का प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार द्राविड प्रासादो की जो मूर्धाभूषण स्तूपिका स्थूपिका' है वह भी यह निदर्शन प्रस्तुत करता है। स्तूपिका इस प्रकार म ब्रह्मरन्ध्र है। आमलक को समरागण-सूत्रधार ने आमलसारक की सज्ञा म भी अवहृत किया है। आमलक—वृक्ष आवला के सम्बन्ध म हमारे पुराण-ग्रन्थो मे बड़ी महिमा बखानी गयी है। स्कन्द पुराण (वैष्ण का० १२-९-२३) का प्रवचन है कि आमलक-वृक्ष

के मूल में भगवान् विष्णु बैठे हैं, ब्रह्मा ऊपर और शिव उससे भी ऊपर, सूर्य शाखाओं में तथा अन्य देवगणों, पुष्पों फलों में निवास कर रहे है। इस प्रकार यह आमलक सर्व-देव-निकेतन, सर्व-देवावास, पूर्ण-देवत्व-प्रतीक प्रतिपादित स्वतः हो जाता है। इस प्रकार प्रासाद[1] के आकार की एक ही आकृति को लेकर उसकी महत्ता अपने आप सिद्ध हो गयी। इसी प्रकार वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में विशेष कर समराङ्गण-सूत्रधार में अन्य नाना पद भी भरे पड़े हैं जैसे शिखर, ग्रीवा, चरण, पाद, जंघा, कटि, स्कन्ध, शिखर, मस्तक, ग्रीवा, शिखर, कलश, अण्ड, कोश, आदि आदि वे भी इसी प्रासाद निवेश -विराट् पुरुष-निवेश का पूर्ण समर्थन करते है तथा Organic Theory का भी पूर्ण प्रामाण्य उपस्थित करते हैं।

उद्देश्य —मूलाधार में हमने प्रासाद-निवेश के नाना प्रयोजनों एवं प्रयोज्यों पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। यहा पर इतना ही सूच्य है कि हमारे देश में देवराज्य की स्थापना ही सर्व-मौलिमालायमान उद्देश्य था। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था में ब्राह्मण लोग बड़े ब्रह्मज्ञानी थे, आश्रमों में सन्यास ही एक-मात्र योग-ध्यानादि का ही क्रोड था परन्तु जनता-जनार्दन की कैसे उपेक्षा की जा सकती थी? विशाल जन समाज अज्ञ ही थे, सभी लोग ज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मविद् तो नही थे। अतएव

अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः

जब प्रतिमाओं की पूजा, उन की उपचारात्मक चर्या अनिवार्य थी तो उनकी प्रतिष्ठा के लिये, उनके राजत्व, आधिराज्यत्व एवं राजोचित विशाल भवनों के समान ऊंची शिखरावलियों से विभूषित, नाना अलकृतियों एवं निकेतनों से उल्लसित विमानाकार प्रासादों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पुनश्च जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था तथा चातुराश्रम्य-व्यवस्था प्रकल्पित हो गयी तो चातुर्वर्ग्य-व्यवस्था भी बनी। चातुर्वर्ग्य से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से है। अतः प्रथम एवं अन्तिम इन दोनों वर्गों—धर्म एवं मोक्ष के सोपान के लिये जनता की तृष्णा उसकी धार्मिक चेतना एवं मोक्षाभिलाषा के लिये प्रतिमा-पूजा, प्रासाद-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कौन सा उपाय इस देश में सोचा जा सकता था। जब इष्टि—यज्ञ के प्रति बाह्य एवं आभ्यन्तर दो विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो चुके थे अर्थात् बाह्य से तात्पर्य बौद्ध एवं जैन धर्म पुनः आभ्यन्तर से तात्पर्य आरण्यकों एवं उपनिषदों की विचार-धारा से है। आरण्यकों में यज्ञ एक-मात्र प्रतीक रह गये, उपनिषदों ने तो देव-वाद, यज्ञ-संस्था आदि को चन्द्र-हस्त देकर आत्मा एवं परमात्मा में प्रत्यवसानित कर

दिया। ऐसे संक्रान्ति-युग मे महती क्रान्ति की आवश्यकता हुई। ऐसे समय पर भगवान् वेद-व्यास ने ए नया युग प्रारम्भ कर दिया। जो यथानाम वेदो के परम निष्णात विद्वान् उपदेशक थे, जो ब्रह्म-सूत्र के प्रख्यात रचयिता थे, उन्होने जनता के हेतु अष्टादश पुराणो की रचना की। ऐसे समय मे भगवान् वेदव्यास को विश्वकीर्ति गणश जी की सहायता लेनी पड़ी। इन अष्टादश पुराणो के द्वारा इस महादेश मे भक्ति की धारा उद्दाम गति से प्रवाहित हो गयी। अत त्रिदेवोपासना अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु शिव माहात्म्य की मन्दाकिनी का उद्दाम स्रोत बहने लगा। जहा पहले इस देश मे—स्वर्गकामो यजेत्—की परम्परा थी वहा अब—स्वर्गकामो मन्दिर कारयेत्—की संस्था इतनी द्रुतगति से विकसित, पुष्पित एव फलित हो गयी कि सारी की सारी जनता ही नही बडे बडे राजे महाराजे भी इसमे पूरी तरह शरीक हो गये। उन्ही की वदान्यता से, उन्ही की अतुल धनराशि से हमारे देश मे एक कोने से दूसरे कोने तक हजारो मंदिरो का निर्माण हुआ और नाना स्थापत्य शैलिया विकसित हो गई, नाना शिल्प ग्रन्थ लिखे गये। यह कला भी कर्म-कला न रह कर ललित कला व महान् विलास एव प्रोल्लास से विकसित हो गई। साथ ही साथ धर्म एव दर्शन इन दोनों की सहायता से इस पूर्त-परम्परा को 'इष्टि' से भी बहुत आगे बढा दिया।

प्रासाद विन्यास प्रसार :—प्रासाद की प्रतिमा के आधिराज्य एव वैभव पर कुछ संकेत किया ही जा चुका है। प्रासाद प्रतिमा के उपचारो मे राजोचित उपचार ही तो शिल्प-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट किये गये हैं। अमरकोष की दिशा मे 'प्रासादो देवभूभुजाम्' से तात्पर्य प्रासाद एव राजहर्म्य पर्याय लौकिक तो माना जा सकता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि भिन्न है। इसका राजोचित एकात्म्य इंगित करना उचित है। जिस प्रकार प्राचीन एव मध्य-काल मे राज-भवन समाज एव राज्य की सुषुमा, अभिख्या एवं महत्ता के प्रतीक थे, उसी प्रकार प्रासादो को भी उससे बढ़ कर विन्यास-प्रसार प्रदान किया गया है। मनुस्मृति (दे० ६ ३०३-३१७, ७४-५) मे प्रत्यक्ष राजा को देवता के रूप मे प्रकल्पित किया गया है। राजा एक मात्र शासक ही नहीं था, सर्व देवो के समान पूज्य, आराध्य एव सम्मान्य था। अतएव राजोपचार प्रासादोपचार भी एक प्रकार के हो गये थे। इसी पृष्ठ-भूमि मे प्रासाद-निवेश में नाना विस्तार-प्रसार प्रादुर्भूत हो गये। इन प्रासादो में मण्डप, महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल, परिवार, देवालय, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप तथा अन्य नाना मण्डप उदय होने लगे। इस प्रकार ये प्रासाद-पीठ प्रासाद-नगर के रूप में परिणत हो गये।

मण्डप-निवेश :—समरांगण-सूत्रधार की उपमा में प्रासाद का पीठ या जगती प्रासाद-राज का सिंहासन है। प्रासाद से तात्पर्य गर्भ-गृह है। गर्भ-गृह के अतिरिक्त अन्य निवेश जैसे अन्तराल, प्रदक्षिणा-पथ मण्डप, अर्ध-मण्डप, महामण्डप आदि सब राज-निवेशोचित वहि नानादि-सम प्रकल्प्य हैं। यह हुई एक समीक्षा। दूसरी समीक्षा मे मण्डप एक पूत एवं पावन वातावरण को प्रस्तुत करने के लिये दर्शनार्थी स्वतः ही प्रासाद-प्रतिमा की ओर एकाग्र-चित्त हो जाता है तथा भक्ति-भावना से अपने आप ओत-प्रोत हो जाता है।

मेरी दृष्टि मे मण्डप-निवेश-परम्परा प्रासाद-निवेश से भी प्राचीन है। वैदिक सदस् प्राचीनतम मण्डप-निवेश का अग्रज है एवं आविर्भाव है। महाभारत के काल मे सभा ही वास्तु-विन्यास की मूर्धन्य वास्तु-कृतिया थी। सभा एवं मण्डप में विशेष अन्तर नहीं था। मण्डपो का आकार सम ही था। छतो में कुछ अन्तर था। मण्डपो में तनी हुई छतें (Pent)विन्यस्त होती थी, सभाओ में शिखराभा (pinnacled) प्रदर्श्य थी। समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन पढ़िये तो ये तथ्य अपने आप पुष्ट हो जाते है—दे० अनुवाद।

मण्डप-विन्यास की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-निवेश एवं स्तम्भो की नाना चित्रालंकृतिया विशेष विभाव्य है। नाना आकार, नाना विच्छित्तिया, नाना प्रतीक ही मण्डप-स्तम्भो का वैशिष्ट्य है। दीपिका-तोरण, गजतालु, घण्टा, पद्म-पत्री आदि नाना वास्तु-शिल्प-चित्रण इन मण्डपो की विशेषता मानी गयी है।

समरांगण-सूत्रधार मे मण्डपो के दो वर्ग माने गये है—संवृत एवं विवृत। संवृत से तात्पर्य प्रासाद-संवृत attached to the sthine से है। विवृत से तात्पर्य Detached पृथक् निवेश्य हैं। उत्तरापथ के प्रासादों (मन्दिरो) में संवृत मण्डप ही विशेष रूप से पाये जाते हैं। दक्षिण भारत के विमान-प्रासादो में संवृत मण्डपो के अतिरिक्त अगणित विवृत मण्डप उदय हो गये है। शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप आदि आदि का ऊपर कुछ संकेत किया जा चुका है। आगे चल कर धार्मिक कृत्यो के अतिरिक्त भौतिक उल्लास का भी अपने आप प्रासाद पीठो(Temple sites)पर उल्लसित होना स्वाभाविक ही था। अतएव नृत्य-मण्डप, रंग-मण्डप या नाट्य-मण्डप, संगीत मण्डप, द्यूत-मण्डप आदि भी उत्थित हो गये।

जहा तक मण्डपो की पदावली का प्रश्न है वह यहा प्रस्तोतव्य नहीं। वास्तु शिल्प-पदावली खण्ड में यह सब दृष्टव्य है।

अन्त में यह सूच्य है कि मण्डपों की ऊँचाई प्रासाद की ऊँचाई से अधिक नहीं जाना चाहिये। हमने अपने ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर इन विषयों की जो व्याख्या एवं समीक्षा की है वह वहीं द्रष्टव्य है। अब आइये जगती-निवेश पर।

जगती-निवेशः—वैसे तो जगती का अर्थ पीठ है, जो प्रासादांगों में विवेच्य था, परन्तु जगती समरांगण-सूत्रधार में एक विशिष्ट वास्तु-स्थान रखती है। जगती नगराणामलंकार के रूप में परिकल्पित की गयी है। किसी भी पुराने जीर्ण-शीर्ण शिवालय की ओर मुड़िये, वहाँ जगती बड़ी ऊँची, बड़ी चौड़ी दिखाई देगी। जगती पीठिका ही नहीं वह प्रासादों में एक विशिष्ट रचना है। प्रासाद एवं जगती के प्रतीकोपम्य में प्रासाद को लिंग और जगती को पीठ माना गया है।

'जगती' पद की जो दो व्याख्याओं का ऊपर संकेत किया गया है उस पर विशेष विवरण से पूर्व समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन में द्रष्टव्य है—दे० अनुवाद। उत्तर भारत में किसी भी ग्राम (विशेषकर यू० पी०, मध्य भारत) में जायें वहाँ पर कुवें की ऊँची पीठिका को 'जगत' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसमें यह 'जगत' जगती का अपभ्रंश सत्य है। अतः जगती पीठिका ही है, परन्तु वास्तु-शिल्प-शास्त्र एक-मात्र यान्त्रिक कला-शास्त्र नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र भी है। उपर्युक्त उद्धरण में जो दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण संकेत है उसने जगती को स्वर्ग एवं अपवर्ग का साध्य एवं साधन आधार एवं आधेय प्रतिपादित कर दिया है।

जगती-निवेश में नागर-वास्तु विद्या एवं वास्तु-कला का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। जगती निवेश में, शाला-विन्यास अभिन्न अंग है। चौड़ी, बड़ी, लम्बी ऊँची, जगती पर चारों कोनों, चारों प्रमुख दिशाओं एवं विदिशाओं पर शाला-न्यास अनिवार्य है। इन शालाओं की संज्ञा यहाँ अवश्य अवतारणीय है—

कर्णोद्भवा, भद्रजा मध्यजा तथा अग्रोत्था एवं गर्भ-सम्भवा तथा पार्श्वजा। इन जातियों के नाना आकार भी प्रतिपादित हैं—चतुरश्राकार, आयताकार, वर्तुलाकार, षडश्रि, अष्टाश्रि आदि।

जगतियों की नाना संज्ञायें हैं। आकारानुरूप इन जगतियों की संख्या बड़ी लम्बी है जो अनुवाद में द्रष्टव्य है।

विमान-निवेश—अभी तक हम प्रासाद-निवेश में नागर-वास्तु-विद्या के अनुरूप अध्ययन करते रहे हैं। अब हम विमान-निवेश विमान-वास्तु पर भी अध्ययन आवश्यक है। पिछले स्तम्भों में प्रासाद एवं विमान के अपने अपने वैशिष्ट्य की ओर कुछ संकेत करते आये ही हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में द्राविडी कला नागरी

कला से भी अति प्राचीन, प्रवृद्ध एव अलकृत है। आर्यावर्त यथा नाम आर्यों की सभ्यता से ही प्रभावित रही है। आर्य ग्राम्य-जीवी थे। आधुनिक विद्वानो ने आर्यों की सभ्यता के इतिहास मे आर्यों को पशुधन-व्यवसायी जाति (pastoral race) में परिगणित किया है। वैदिक सभ्यता भी इस बात का उदाहरण है कि हमारे पूर्वज ऋषि, महर्षि, आचार्य आदि सभी गौवो के प्रति ही उनकी विशेष आसक्ति थी। जहा तक अनार्यो की बात है वे महान् तक्षक थे। नागो की कला—विशेष कर पाषाण-कला विश्व-विश्रुत है। भारशिव नाग वाकाटक वश के समकालीन थे और यह वश मौर्य वश से भी प्राचीन था। हा, यह अवश्य सगत है कि द्राविड-कला-दाक्ष्य के निदर्शन पूर्व-मध्य-काल से लेकर उत्तर-मध्य-काल तक के ही प्राप्त होते हैं, परन्तु कला की समीक्षा में आदि स्रोतो की खोज भी परमावश्यक है। गुप्तकालीन मन्दिरो से ही नागर कला में प्रासाद-स्थापत्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि द्राविडी तक्षको, स्थपतियो एव कलाकारो के सहयोग से ही यह नाना प्रासाद-स्थापत्य शैलियो का विकास एवं प्रसार सम्भव हो सका। अस्तु, विवादास्पद विषय में न जाकर अब हम विमान-निवेश तथा विमान-वास्तु पर अपने को एकाग्र करते हैं। समरागण-सूत्रधार का सार्थक प्रमाण पहले ही प्रतिपादित हो चुका है। प्रासादो का उत्थान विमान पर ही अधारित था यह एक बडी गुत्थी है जो आधुनिक अनुसन्धान पद्धति से इसकी पूरी छानबीन आवश्यक है, जिससे यह सिद्ध किया जाये कि नागर-कला से द्राविडी क्या पूर्व-वर्ती एव अधिक प्राचीन एव प्राचीनतम है कि नही? एक सकेत और भी आवश्यक है कि शिल्प-ग्रन्थो की दो परम्परायें हैं—एक उत्तरापथीय, दूसरी दक्षिणापथीय। दक्षिणापथीय ग्रन्थ शिल्प-शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं, उत्तरापथ के वास्तु-शास्त्र के नाम से। अत यह असदिग्ध है कि 'वास्तु' से तात्पर्य भवन वास्तु से है, तथा 'शिल्प' से तात्पर्य मूर्ति-वास्तु से है। अत द्राविडी-कला की अलकृति-विच्छित्ति ही तो दूसरी विशेषता है। अतएव यह विशेषता नाग-तक्षको का अति प्राचीनतम कौशल है। बहुसख्यक दक्षिण भारत के विमान मन्दिरो को वास्तु-कला को तक्षक-कौशल (sculptor's art) के नाम से उपश्लोकित किया गया है।

दक्षिणी वास्तु-विद्या के मूर्धन्य ग्रन्थ मयमतम्, मानसारम्, शिल्परत्नम्, काश्यम-शिल्पम्, तन्त्र-समुच्चयः, ईशानशिवदेवगुरुपद्धति आदि भी इसी तथ्य

का पोषण करते हैं। अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम सूक्ष्म विवरणो से ही इस स्तम्भ को समाप्त करते हैं।

'विमान' पद के सम्बन्ध मे थोडा सा विद्वानो मे वैमत्य भी है। विमान प्रासादाग है—यह धारणा भ्रान्त है। विमान एव प्रासाद पर्याय माने जाने चाहियें। जिस प्रकार प्रासाद मन्दिर (गर्भ-गृह) का पूर्ण कलेवर है, उसी प्रकार विमान भी गर्भ गृह का पूर्ण कलेवर है। डा० आनन्द कुमार स्वामी भी इसी निष्कर्ष पर पहुचे हैं। डा० क्रैमरिश ने भी अपने 'हिन्दू-टैम्पिल' में भी इस मत का पोषण बडी गहनता से किय है। ई० गु० प० जो दाक्षिणात्य वास्तु-विद्या का अधिकृत ग्रन्थ है, उसने भी अपने इस निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा इस व्याख्या को सार्थक कर दिया है :—

"नानामानविधानत्वात् विमानं शास्त्रतः कृतम्"

जहा प्रासाद का जन्म एवं विकास वैदिक 'चिति' सदनम् साद. से हुआ है, वहा विमान इस प्रकार से शूल्व-सूत्रो के आदिम स्रोत विशेषकर ज्यामितीय वाङ्मय परम्परा से ही यह विकास एव प्रोत्थान सपन्न हुआ है। डा० आचार्य ने 'मानसार' को शिल्प-ग्रन्थो का आदिम स्रोत माना है। मैंने इसे नही माना है, परन्तु अपनी समीक्षा एव व्याख्या में इन ग्रन्थो का मौलिमालायमान श्रेय 'मान' से है। एतएव 'मान' (measurement) तत्कालीन युग की वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता थी। पुन विमान शब्द 'माया' शब्द पर ही आधारित है। 'मेय' एव 'मान' वास्तु की आधार-शिला है। समरागण-सूत्रधार का निम्न प्रवचन पढें :—

'मेय तदपि कथ्यते'

अन्य प्रवचन भी पढ़ें :—

'मान धाम्नस्तु सुसम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता नवेत्'

अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम विमान-निवेश की ओर आते है—विमान-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता गोपुर-निवेश एव प्राकार निवेश हैं। अन्यात मन्दिर-पीठो का दर्शन करें। पहले आपको गोपुर-द्वार तथा प्राकार ही प्राप्त होंगे। उत्तरापथ के प्रासाद-पीठो पर यह रचना न के बराबर है। दक्षिण के ये सब मन्दिर-पीठ मन्दिर-नगर के रूप मे विभाव्य हैं।

अतः विमान-वास्तु के सर्व-प्रमुख निवेश—प्राकार, गोपुर, परिवार, मण्डप विशेष उल्लेखनीय हैं। जहां तक शास्त्रीय विवेचन की बात है—इन

स्थपति एवं स्थापक—कर्तृ-कारक-व्यवस्थाः—प्रासाद-प्रतिष्ठा में स्थपति स्थापक-विवेचन आवश्यक है। स्थपति की योग्यता एवं स्थपतियों की चतुर्धा कोटि पर हम अपने भवन-निवेश में काफी प्रतिपादन कर ही दिया है। यहां पर प्रसङ्गानुरोध से स्थपति-स्थापक के साथ कर्ता अर्थात् स्थपति एवं कारक अर्थात् यजमान् अर्थात प्रासाद-कारक—इस विषय पर कुछ समीक्षा अनिवार्य है। आज के भारत को देखें तो यह स्थापत्य-कला निम्न वर्ग में ही सेव्य है। उत्तर भारत में स्थपति-परिवार एक प्रकार से नष्ट प्राय है। हां दक्षिण भारत में अब भी शिल्प-वृन्द पाये जाते हैं। शिल्प-ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियां भी उनके पास अब भी विद्यमान हैं। परन्तु रहस्य क्या है कि इस देश में वह प्राचीन वास्तु-कला क्यों नष्ट-प्राय दिखाई पड रही है? सम्भवतः आदि स्थपति विश्वकर्मा को जो शाप लगा था तो क्या उसी का यह फल है। अस्तु, इस वृत्तान्त में न जाकर अब हम स्थापक की ओर मुड़ते हैं। श्रौत-कर्म के विज्ञों से अविदित नहीं कि यज्ञ में आचार्य के बिना यज्ञ का सम्पादन असम्भव है। प्रासाद-कर्म भी यज्ञ संस्था के समान है। यज्ञ कराने वाला यजमान् कहलाता था, यज्ञ-कर्ता पुरोहित था, यज्ञ-कर्म का निर्देशक आचार्य होता था। तदनुकूल प्रासाद-कर्म में त्रिजन(Trinity) की भी अनिवार्य परम्परा बन गयी थी। कर्ता से तात्पर्य स्थपति से है, कारक से तात्पर्य प्रासाद-कारक यजमान से है। स्थापक से तात्पर्य प्रासाद-निर्माण का अध्यक्ष आचार्य होता था वह पद पद पर प्रासाद-निर्माण में नाना यज्ञीय उपचारों एवं धार्मिक तथा दार्शनिक कृत्यों से इस निर्माण को धर्म दर्शन से अनुप्राणित करता रहता था। वास्तु पुरुष-विकल्पन, वास्तोष्पति-आवाहन, वास्तु बलि वास्तु देव-प्रतिष्ठा हल-कर्षण, अकुरारोपण, गर्भाधान शिला-न्यास, प्रतिष्ठापन महोत्सव मध्य मध्य पूर्ण संस्कार, कलश-न्यास, मूर्ति-न्यास, प्रासाद प्रतिष्ठा आदि आदि ये सब इसी उपर्युक्त तथ्य के पोषक हैं।

अब आइये किस मन्दिर का कौन कर्ता हो सकता है और कौन कारक हो सकता है। समराङ्गण-सूत्रधार में जो नाना-वर्गीय प्रासादों का स्तवन निर्मितियां एवं शैलियां व्याख्यात हैं उन में विशेष प्रासादों की महिमा में कर्तृ-कारक-व्यवस्था के पूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। यह सब अनुवाद-खण्ड में पठनीय है।

हमारे शिल्प-ग्रन्थों में स्थपति को ब्रह्मा के रूप में कारक-यजमान को विष्णु के रूप में तथा स्थापक-आचार्य को रुद्र (शिव) के रूप में विभावित किया गया है।

अपच इन्हीं तीनों की निष्ठा से प्रासाद का आरम्भ एवं अवसान न्यास एवं प्रतिष्ठा, प्रासाद एवं प्रतिमा का संयोग साध्य एवं सिद्ध सब हो जाता है।

आकार-भूषा प्रतीक—मूर्ति-न्यास—प्रासाद का आकार पुरुषाकार है। पाद के अवयवों से स्वतः सिद्ध है—प्रासाद पुरुष नत्वा पूजयेत मन्त्रवित्तम। अतएव

जिस प्रकार पुरुष के आकार मे नाना अवयवो जैसे पाद, चरण, अघ्रि, जानु, जघा, कटि, जठर, बाहु प्रबाहु, स्कन्ध ग्रीवा, मस्तक, मूर्धा, दश कपाल, ब्रह्मरन्ध्र, शिखा, स्तूपी, आदि का प्रत्यक्ष दर्शन प्रत्यगो एव उपागो मे प्राप्य है, तथैव प्रासाद अर्थात् प्रासाद-पुरुष है—विराट-पुरुष है उसी प्रकार प्रासाद अर्थात् मन्दिर भी पुरुषागो से ही विनिर्मित है। आगे के स्तम्भो मे नाना अगो की तालिका दी जावेगी।

अब आइये भूषा की ओर। प्रासाद-शैलियो मे नागर-शैली के भी अनेक अवान्तर विकास विख्यात है। प्रासाद-शैलियो मे शिखर-विन्यास ही परम घटक है। नागर शैली मे जो नाना अवान्तर भेद पल्लवित हुये है उन मे अण्डक-शिखर, लता-शृग, मञ्जरी-शिखर ही विशेष उल्लेख्य हैं। इन्ही शिखरो की भूषा ने प्रासाद-भूषा को भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि बना दिया है। अत शिखर ही प्रासाद-भूषा है। जहा तक विमान-भूषा की बात है वह कुछ विशेष स कीर्त्य है। अधिष्ठान एव उपपीठ की नाना विच्छित्तिया, स्तम्भ की नाना भूषाएँ आकृतिया तथा अलकृतिया, द्वार एव द्वार-शाखायें, सोपान तोरण, भित्तिया वेदिकायें, कूट, शालाएं, पजर, जालक, उत्तर, शिखर, स्तूपिका विमान-शिखर आदि आदि ये सब विमाद-भूषाएँ हैं।

जहा तक प्रतीको की बात है वे उत्तरापथीय मन्दिरो मे ये प्रतीक-लाञ्छन विशेष दर्शनीय हैं। खजुराहो, भुवनेश्वर, कोनार्क, पुरी, उदयपुर (एकलिंग), ग्वालियर तथा अन्य प्रासाद-पीठो को देखें, जहा पर नाना-वर्गीय प्रतीक-मूर्तियो के सख्यातीत रूप प्राप्त होते है। इस मूर्ति-स्थापत्य (Iconographical Sculpture) को हम तीन वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रासाद-कलेवर पर उत्कीर्ण मूर्तिया
(२) प्रासाद-जगती पर निविष्ट मूर्तिया
(३) प्रासाद-मण्डप पर उत्कीर्ण मूर्तिया

प्रथम वर्ग मे नाना देवयोनिया—यक्ष, विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें तथा परिवार-देव-देविया एव मिथुन विराजमान हैं। जगती पर जो शार्दूल, हस्ति, वृषभ, सिंह, आदि बृहदाकार मूर्तिया दिखाई पड़ती हैं – वे भी प्रतीक-लाञ्छन है। अब आइये मण्डपो की अभिख्या की ओर। मण्डप एक प्रकार से प्रासाद गर्भ मे देव-दर्शनार्थ के लिये एक प्रकार देव-भावना, पूत-भावना, भक्ति-सस्था जागृत करने के लिये तदनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये प्रासाद-गर्भ मे जाने के लिये महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल इन तीनो की परिवार के हो देव साक्षात्कार करने की व्यवस्था है– वहाँ पर जो मूर्तिया दिखाई पड़ती हैं वे भी इसी वातावरण एव दिव्य भाव को उत्पन्न करने के लिये उत्कीर्ण की गयी हैं।

प्रासाद-कला-इतिहास

A new light on
Temple-architecture
Brahmana, Bauddha & Jaina

उपोद्धात —इस उपोद्घात मे समीक्षा का विषय यह है कि कला का विकास सर्वथा धर्माश्रय अथवा राजाश्रय पर ही आश्रित है—यह तथ्य वास्तव मे सब प्रकार से सत्य है परन्तु जो धर्म के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण की आवश्यकता है उस मे थोडी सा यहा विशेष विवक्षा की आवश्यकता है।

आधुनिक कला विशारदो ने तथा कला पर निष्णात लेखको ने जो लगभग सौ वर्ष से लेखनी चलाई है, उनकी धारणाओ मे मेरी दृष्टि मे कुछ मौलिक भ्राति अवश्य है। कला को विद्वानो ने देश, जाति, सभ्यता, जीवन, आचार, विचार का सर्व-प्रमुख प्रतीक माना है। इस भूतल पर नाना जातियो का एव नाना सभ्यताओ का उदय हुआ। अतएव इन सभी जातियो की कलायें तथा अन्य धारायें अपनी अपनी दृष्टियो से विकसित एव वृद्धिंगत हुई। विद्वानों ने भारत की सभ्यता को ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही माना है। सभ्यतानुरूप ही तो नाना विकास मूल पर ही आश्रित होते हैं तो क्या ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म भारत की सभ्यता के अनुकूल अथवा मूलाश्रय पर नहीं विकसित हुए। तो फिर भारतीय कला के इतिहास म जो विशेषकर प्रासाद-स्थापत्य अर्थात् धार्मिक या पूजा वास्तु को तीन प्रधान वर्गों मे विभाजित किया गया है, वह गौण रूप से तो ठीक ही है। आधुनिक विद्वानो ने हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के जन्म के सम्बन्ध मे जो नाना आकूत निकाले हैं,वे सर्वथा भ्रान्त तोहैं ही। हमने मूलाधारों (देखिये प्रथम पटल) तथा शास्त्रीय सिद्धान्तो (देखिये द्वितीय पटल) में इन आकूतो का पूर्ण रूप निराकरण कर ही दिया है। यहा प्रकृत मे जब हम इस तृतीय पटल म कला के स्तर पर आते हैं तो हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि मूलाधारो (वैदिक, पौराणिक तथा लोकधार्मिक) एव शास्त्रीय सिद्धान्तो के क्रोड मे क्या हम तथा-कथित बौद्ध-वास्तु और जैन-वास्तु को इस स्तम्भ म न सम्मिलित करें ?

ऊपर की समीक्षा म यह असगति अपने आप उठ खडी होगी, यदि हम भारत की सभ्यता के अनुरूप इस प्रासाद-वास्तु की समीक्षा न करें। बहुत से विद्वानो ने प्रासाद के जन्म और विकास के जो अनेक सिद्धान्त (Theories) स्थापित की हैं, वहां अब कई विद्वानो ने (देखिये P. K Acharay's Manasara Publications and Hindu Temple- Dr. Stella Kramrish) हिन्दू प्रासाद के जन्म एव विकास म वैदिक चिति

को ही जननी, व्यवस्थापक तथा प्रतिष्ठापक माना है तो फिर ई० पू० लगभग दो हजार वर्ष पुरानी शृंखला को, गुप्त-कालीन या चालुक्य-कालीन या पल्लव-कालीन प्रासाद-विकास एवं प्रोल्लास मे उसका ऐतिहासिक दृष्टि से किस प्रकार से हम पूर्ण रूप से मूल्यांकन कर सकेंगे।

अतएव इस अभाव को दूर करने के लिये हमे पाठकों और विद्वानों के सामने यह विचार प्रस्तुत करना है कि वैदिक चिति भी वैदिक-कालीन पूजा तथा आराधना का प्रमुख अंग यज्ञ-संस्था थी। इस यज्ञ-संस्था का जब महान् प्रसार विशेषकर समृद्ध परिवारो, राजन्यो, राजकुलो, श्रेष्ठि-कुलो मे तो फैल गया था, एक प्रकार से साधारण जनता के लिये यह संस्था विशेष सुकर नही थी। अतः अपने आप यज्ञ-संस्था के प्रति जनता मे औदासीन्य तथा अपने आप उपेक्षा फैल गई। इसी प्रगति में बौद्ध एवं जैन— इन दो धर्मों का अनायास जन्म हो गया। सभी लोगो का ऐकमत्य है कि बौद्ध धर्म एक-मात्र राजाश्रित नही था। वह महात्मा बुद्ध के समय जनाश्रित था। अतएव जनाश्रय ने ही इस धर्म को ई० पू० पाचवी शतक से तृतीय शतक तक इस देश में बड़ा योगदान दिया। यह धर्म दुर्भाग्यवश एक-मात्र मौलिक नही था। यह एक-मात्र सक्रान्ति-युगीन था। अतएव अपने आप बौद्ध-धर्म में महान् परिवर्तन आ गया जिसको हम महायान के नाम से पुकारते हैं। इस महायान में पौराणिक पूजा-परम्परा तथा अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा, देव-पूजा सभी घटक जो पुराणो की देन थे, वह भी इसमें सम्मिलत हो गये। अतः यहा पर यह भी स्पष्ट करना है कि जब याग-संस्था के प्रति सामान्य जनता की विमुखता हो गई तो क्या ब्राह्मण, राजन्य भी कहीं चुप बैठ सके, उन्होंने भी बाह्य-पूजा के प्रति तिलाजलि देकर आत्मज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान की ओर पूर्ण रूप से झुक गये। राजन्य जनक का औपनिषदिक तत्व-ज्ञान विश्वविश्रुत है। जो ब्राह्मण, ऋषि और महर्षि वैदिक कर्म-काड पर भी आस्था रखते थे, उन्होंने भी तो ब्रह्म-ज्ञान और आत्म ज्ञान की नई धारा उपनिषदों मे बहा दी। यह धारा तो भागीरथी गङ्गा के समान नही थी जो पूरे समाज को न आप्लावित कर सकी, न प्रक्षालित कर सकी। अत: ऐसे समय मे एक महान् क्रान्तिकारी महात्मा भगवान् वेदव्यास की आवश्यकता थी जिन्होंने विशाल-जन-समाज की प्रेरणा को देखकर, हृदयङ्गम कर इस अत्यन्त सूक्ष्म, कठोर, कठिन, अतिसीमित धारा को अर्थात् आत्म ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, को महाधारा—देवपूजा, तीर्थ-यात्रा मे बहा दिया। अष्टादश पुराणो की रचना तथा इष्टि के बाद पूर्त-धर्म के स्थापन का श्रेय भगवान् वेद-व्यास को ही है।

अतएव महायान के विकास में इन पुराणों का भी प्रभाव था तो फिर महायान धर्म की क्रोड में प्रोल्लसित स्थापत्य-कला को हम क्या प्रासाद-कला अर्थात् पूजा-वास्तु के रूप में नहीं मूल्यांकन कर सकते ? जहां ब्राह्मण-धर्म में नाना उपासना सम्प्रदाय—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त और गाणपत्य विकसित हुये तो क्या भारतीय मौलिक उन्मेष में अन्य नई २ धाराएं नहीं वर्गीकृत नहीं की जा सकती हैं ? अगर इस मौलिक उन्मेष में यह निष्कर्ष प्रतिपादन करते हैं कि भारतीय कला विशेषकर प्रासाद-कला के जो प्राचीनतम बौद्ध-वास्तु के महानीय निदर्शन प्राप्त होते हैं वे भी पूजा-वास्तु या प्रासाद-वास्तु के ही विकास है।

अब एक समीक्षा और रह गई कि यह महायान-पूजा-वास्तु के निदर्शन जैसे साची, बारहुत आदि महापीठ प्रख्यात हैं तो उनसे पहले कौन से पूजा-वास्तु के निदर्शन हम प्रस्तुत कर सकते हैं। हमने अपने उपोद्घात में हिन्दू प्रासाद की जननी वैदिक चिति को माना है तो यह शृंखला किस प्रकार से सम्बद्ध की जा सकती है। बहुत से, लगभग ई० पू० २००० वर्ष पुराने, जो खनन और अन्वेषण हुऐ हैं उनमें भी पूजा-वास्तु-निदर्शन के अभाव नहीं हैं। लिङ्ग-पूजा, नाग-पूजा के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुनः यह सारा पूजा-वास्तु एक मात्र पाषाणीय निदर्शनों में ही हम गतार्थ नहीं कर सकते। हां समरांगण सूत्रधार में प्रासादों की नाना विधाएं हैं जैसे पट्टिश, दारूज, लयन आदि आदि। पट्टिश से तात्पर्य वस्त्र-निर्मित, दारूज से तात्पर्य काष्ठमय, लयन से तात्पर्य गुहामय अथवा गुहाघर। अतः जहां तक शास्त्रीय सिद्धान्तों अर्थात् वास्तु-शास्त्रीय- शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों की जो समीक्षा है उससे यह तथा-कथित ब्राह्मण मन्दिरों के प्रासाद-वास्तु से बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, जैन प्रतीक एवं प्रासाद भी कला की दृष्टि से पृथक् नहीं किये जा सकते।

बात यह है कि वरेण्य पुरातत्व-विदों जैसे वर्जिज, फर्गुसन आदि आदि ने भारतीय वास्तुकला एवं मूर्तिकला के जो अन्वेषण, अनुसंधान तथा गवेषणात्मक विज्ञप्तियां प्रस्तुत की हैं वे सर्वथा उनके दृष्टि-कोण से ठीक ही हैं क्योंकि यह ई०पू० तथा ईसवीयोत्तर जितने भी निर्मित स्मारक तथा खनित उपलब्धियां प्राप्त की हैं उनकी ऐतिहासिक दृष्टि से भगति भ्रान्त नहीं है, परन्तु कला-समीक्षा की दृष्टि से इन सब स्मारकों और उपलब्धियों का एक समन्वयात्मक(Synthetic) अध्ययन आवश्यक है। दुर्भाग्य का विलास है कि रामराज तथा प्रसन्नकुमार आचार्य के पहले किसी भी विद्वान् ने वास्तु-शास्त्र अथवा शिल्प-शास्त्र के सिद्धान्त को न तो पढ़ा और न समझा। हमारे देश की संस्कृति के जहां आचार विचार, रहन-सहन, भोजन-भजन पर जब धर्म-शास्त्रों में, नीति-शास्त्रों में पूर्ण, प्रौढ़ एवं

प्रचुर प्रतिपादित किया गया है तो कला की निर्मिति और स्थापत्य के सिद्धान्तो का क्या बिना प्रतिपादन यह विलास, प्रोल्लास एवं महान् प्रकर्ष कैसे सम्भव था? अत: अब भारत-भारती के लिये इस अनुसन्धान की महती अपेक्षा है।

हम पहले ही ऊपर संकेत कर चुके हैं कि यह प्रासाद अर्थात् हिन्दू-मन्दिर की जन्मदात्री वैदिक चिति है तो बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, संघाराम इन निवेशों के मूलाधार क्या हैं ? स्तूप या चैत्य या विहार ये सब शाला एवं मण्डप के निवेश पर आश्रित हैं। शालायें और मण्डप वैदिक याग-संस्था में प्रवर्तित वैदिक इष्टि एवं चितियां अर्थात् वेदियां—ये सब इनकी अग्रजा थीं और ये सब इन्हीं की अनुजा हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्तूपाकृति वास्तु-निर्मितियों के बहुत संकेत मिलते हैं। चैत्य यथानाम चिति से ही निष्पन्न है। अत: यह समस्त तथा-कथित बौद्ध-वास्तु सब वैदिक वेदियों एवं सदसों पर आधारित था यहां। पर इस उपोद्घात में यह एक-मात्र अनुसंधान के लिये विषय की विवक्षा की गई है। अब हम स्थानाभाव के कारण यहां पर विशेष विवरण प्रस्तुत नहीं करना चाहते। इस ग्रन्थ में हमारा एक-मात्र उद्देश्य है कि हम बौद्ध विहारों, चैत्यों, और स्तूपों को भी हम प्रासाद निवेश में अवश्य गतार्थ करना चाहेंगे जिससे भारतीय स्थापत्य की एकात्मकता और भागीरथी गंगा के समान सनातनी धारा में हम स्नान करते हुये अपने को धन्य मानेंगे।

प्रासाद-वास्तु की ऐतिहासिक समीक्षा—तालिका

इस उपोद्घात के अनुरूप भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को हम निम्न स्तम्भो मे ाजित करना चाहते हैं —

१. पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता-कालीन
२. वैदिक-कालीन
३. उत्तर-वैदिक-कालीन
४. पूर्व-मौर्य-कालीन (४०० ई० पू०)
५. उत्तर-मौर्य-कालीन—अशोक-कालीन
६. शुंग-कालीन तथा आन्ध्र-कालीन (१८५-१५० ई० पू०)
७. लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद (२०० ई०पू०से २००ई०)
८. गान्धार-वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य-वास्तु
९. दाक्षिणात्य-पार्वत-प्रासाद-वास्तु (२०० ई० पू०-५०० ई०)
१०. उत्तरापथीय ऐष्टिक-वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास
११. गुप्त नरेशो के स्वर्णिम समृद्ध राज्य-काल म नागर प्रासाद-कला का जन्म, विकास एव प्रसार (३५०-६५०)
१२. चालुक्य-नरेशो के राज्य-काल मे प्रोल्लसित प्रासदो की समीक्षा
१३. पल्लव-राजवश की अनुपम देन (६००-९००)
१४. चोल-नरेशो की वदान्यता और उनके काल मे उत्थित विमान-प्रासाद (९००-११५०)
१५. पाण्ड्य-नरेशो के युग मे विमान-वास्तु मे नई आकृतियो तथा नवीन निवेशो का उत्थान (११००-१३५०)
१६. विजयनगर-सत्ता मे विमान-प्रासादो म नई उद्भावनायें तथा नई अलकृति-विच्छित्तिया (१३५२-१५६५)
१७. मदुरा के नायक राजाओ के काल मे दाक्षिणात्य प्रासाद-कला के चर्मोत्कर्ष मे विमान-वास्तु का सर्वश्रेष्ठ अवसान

टि० अब आइये उत्तरापथीय महाविशाल प्रासाद क्षेत्र की ओर जिनमे निम्न-लिखित वास्तु-पीठ विशेष विवेच्य हैं :—

१८. उत्काल या कलिंग (आधुनिक उडीसा)—भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी—केसरी राजाओ का श्रेय

१९. बुन्देलखण्ड खजुराहो—चन्देलो तथा प्रतीहारो की देन
२० गुर्जरों का महान् प्रकर्ष—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़
२१ सुदूर दक्षिण—खान-देश
२२. मथुरा-वृन्दावन

टि० इस विशाल भारत में दोनों महा प्रदेशो (उत्तर एवं दक्षिण) की प्रासाद-कला के इस वर्गीकरण के उपरान्त अब हमें पूर्व-परिचय के साथ बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर एव मध्य-एशिया की ओर भी जाना होगा

२३. बगाल—सेन एवं पाल वश मे प्रोत्थित प्रासाद-कला (८००—१७००)
२४. काश्मीर मे एक नवीन सगम का दर्शन (२००—१३००)
२५. नैपाली वास्तु-कला
२६. सिंहल-द्वीपीय प्रासाद-कला
२७. ब्रह्म (बर्मा)—देशीय मन्दिर
२८ बृहत्तर-भारतीय-प्रासाद-कला
(अ) कम्बोडिया
(ब) श्याम
(स) चम्पा
(य) जावा तथा बाली आदि

——•——

पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता के पूजा-वास्तु-निदर्शन

हमने अपने उपोद्‌घात में प्रासादों के जन्म एवं उदय में वैदिक चिति को मूल प्रकृति माना है और इसी मूल प्रकृति पर जो अनेक प्रतिकृतियां (prototypes) पल्लवित एवं विकसित हुईं, उनमें सभा अथवा मण्डप-भवन ही सर्व-प्राचीन निदर्शन है। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो हमें वास्तु-निदर्शन मिले हैं, उनमें स्नानागार तथा भौमिक भवनों के अतिरिक्त सभा-भवन भी प्राप्त हुये हैं और इनका एक-मात्र प्रयोजन सम्भवतः सामूहिक पूजा-भवन में था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता पूर्व-वैदिक-कालीन थी अथवा समकालीन थी। ऋग्वेद की नाना ऋचाओं में सहस्र-स्तम्भ सभा-भवनों पर प्रचुर संकेत हैं। त्रिभौमिक भवनों (त्रिधातु शरणम्) पर भी पूर्ण विवरण हैं। यह हुआ तत्कालीन वास्तु-कला का साहित्यक प्रमाण। ऋग्वेद में शिश्न देवा:—मूरदेवाः ये भी संकेत प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त वैदिक कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमें संकेत प्राप्त होते हैं पुनः इस वैदिक-कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमने संकेत किया है वह साक्षात् सिंधु-घाटी की सभ्यता में पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है। अतः यह जो बहुत दिनों से यह धारणा शनैः शनैः परिपुष्ट होती जा रही है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक काल से प्राचीनतर है वह सर्वथा ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मान्य मानी जाए परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक-कालीन सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता इस दृष्टि में समकालीन है। इसके स्पष्टीकरण में हमें दो तीन विवरणों की ओर जाना होगा।

(अ) बहुत से विद्वानों ने यह मान रक्खा है कि प्रतिमा-पूजा एक-मात्र उत्तर-वैदिक-काल अर्थात् सूत्रों, महाभारत, रामायण अथवा पुराणों के युग में प्रारम्भ हुई—यह धारणा मेरी दृष्टि में बिलकुल भ्रान्त है। इस महादेश में जब आर्यों और अनार्यों का संघर्ष हुआ तो हम अनार्यों की सभ्यता को क्यों भूल गये और उनके जीवन एवं उनकी कला पर बहुत बड़े अनुसंधान की आवश्यकता है। सिन्धु-घाटी की खुदाई में हमें जो पूजा प्रतीक (जैसे योनि-मुद्रा, शाकम्भरी देवी आदि अनेक प्रतीक एवं प्रतिमायें) तथा पशुपति शिव, लिंग-प्रतिमाएं प्राप्त हुई

हैं, उन से यह साक्षात् सिद्ध होता है कि यह सभ्यता अनार्यों, असुरों, द्राविड़ो अथवा नागो की थी ।

(ब)सभी विद्वानो ने ऐकमत्य से यह स्वीकार किया है कि लगभग ५००० साल पुरानी बात है कि यह आर्य जाति अपने आदिम निवास पूर्व-मध्य एशिया से पश्चिम(योरोप) पूर्व (भारत) तथा उत्तर (ईरान) मे अपनी अपनी टुकडियो मे विभाजित हो कर समस्त विश्व को आक्रात ही नही कर दिया वरन् अन्य जातियो को परास्त कर अपनी सभ्यता का पूरा प्रसार कर दिया ।

(स)अतः यह निर्विवाद है कि इस देश मे यह पूजा-वास्तु एक-मात्र आर्य-सस्था नही है वरन् अनार्य-सस्था भी है । जेता और जित दोनो के सम्पर्क से दोनो अपनी अपनी सभ्यता के मूल एक मे मिलकर महान् वटवृक्षोपम पल्लवता को प्राप्त होते हैं । अतः प्रासाद पद का नैरुक्तिक अर्थ जो है वह एक मात्र मन्दिर नही है वह एक प्रकार से ऐष्टिक वास्तु है जो वैदिक भित्ति पर आधारित है । भारतीय वास्तु-कला के प्रसिद्ध लेखक जैसे परसी ब्राउन ने यह स्वीकार किया है कि तत्कालीन सिन्धु घाटी सभ्यता मे जो भवन निर्मित हुये वे सब ऐष्टिक वास्तु हैं। आर्यों और अनार्यों की सभ्यता में एक ही अन्तर था—आर्य आरण्यक, ग्राम्य सरितोपकूलीय जीवन पर अभिनिवेश रखते थे, अनार्य परकोटो से घिरे पत्तनों, पुरों, दुर्गों में निवास करते थे। जहा आर्यों की जीवन-धारा में ग्राम्य और आरण्यक जीवन अकाट्य तथ्य सिद्ध है तो फिर हमारे जितने भी वास्तु अनवा शिल्प ग्रन्थ मिलते हैं तो उनमे ग्राम-निवेश नगर-निवेश मे जो यह अविच्छिन्न परम्परा थी कि सभी बस्तिया प्राकार,परिखा, वप्र, अटालक से अवश्य निविष्ट होने चाहियें तो क्या यह आर्य घटक हैं या अनार्य । डा० आचार्य ने भी सिन्धु घाटी सभ्यता मे शिखरालंकृत विमान-भवनो को भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता मे इन्हे मन्दिरो के रूप मे उपकल्पित किया है । हमने पहले पूजा-वास्तु के निदर्शन मे सभा-मण्डपो पर सकेत दिया ही है। मार्शल, साहनी वैनर्जी और आचार्य इन सब ने विमान-भवनो का भी परिपुष्ट प्रमाण से प्रतिपादित किया है। इन विमान—भवनो मे केन्द्र-प्रकोष्ठ मे दाढी वाली प्रतिमा अथवा लिंगाकृति मे स्थापित पाई गई है ।

इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध लेखक हरनाम गोट्स ने भी इस का पूर्ण समर्थन किया है, जिन का उद्धारण आवश्यक है :—

" One of these (VR-area at Mohenjodara) is approched from

the South by two symmetrically disposed stairs leading to a *monumental double gate; in the small court a ring of bricks* seams once to have enclosed a sacred tree or the statuette of a sitting bearded man; the fragments of which were found within the precincts. In the citadel of Mohenjodaro another religious building has been discovered, the centre of which is a tank to which at both ends, steps lead down from a surrounding passage *adjacent there is a pilastered hall and several sets of rooms* or cells"—Art of the World—India p. 27-28

२ वैदिक-कालीन-वास्तु

हम ऊपर वैदिक-कालीन पूजा-वास्तु के प्रमुख निदर्शनो मे वेदिका-वास्तु, शाला-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु पर कुछ इगित कर ही चुके हैं, ग्रत. वैदिक-कालीन उपासना-परम्परा मे बहुल देववाद का महान् ग्रभिनिवेश प्रारम्भ हुग्रा था। अतः इन देवो की पूजा के लिये ग्रौर उनको तृप्त करने के लिये तथा उनसे वरदान—ग्राधिराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य—ग्रादि के लिये यज्ञ के द्वारा ही उनको वशगत करने के लिये पूर्ण प्रयास किया। ग्रतः तदर्थ याग सम्बन्धी सवप्रमुख उपासना थी। याग-सस्था के लिये नाना वास्तु-कृतिया भी अनिवार्य थी। ग्रस्तु इन पर हम विशेष प्रवचन आवश्यक नही समझते—पूर्व-पटल—मूलाधार मे हम यह सब प्रतिपादित कर ही चुके हैं। ग्रत. हमारा यह ग्रध्ययन प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है। ग्रत प्रासाद की मूलभित्ति को जन्म देने के का श्रेय वैदिक वाङ्मय ग्रौर याग-सस्था ही है। प्रासाद की दो दृष्टिया है प्रथमा ग्राकार दूसरी प्राण। प्रासाद निराकार ब्रह्म की विराट् पुरुष की साकार प्रतिमा है प्रति कृति है। ऋग्वेद मे जिन दो देवो का पूर्ण सकेत है ग्रौर जिन का पूर्ण सम्बन्ध इस रचना ग्रौर प्रतिष्ठा मे वे है वास्तोष्पति तथा विश्वकर्मा। विश्वकर्मा ग्रार्य वास्तुकला के सर्व प्राचीन तम तथा आदिम (primordial) स्थपति है। मय ग्रनार्यों के सर्व प्राचीन-तम तथा ग्रादिम स्थपति हैं। महाभारत में मयासुर के द्वारा निर्मित सभा भवनो (इन्द्र-सभा, यम सभा वरुण-सभा) के उपाख्यानो से हम परिचित ही है। ग्रब ग्राइये वास्तोष्पति की ग्रोर। हमारे देश म लगभग पाच हजार वर्ष से यह सनातनी परम्परा है कि कोई भी भवनारम्भ वास्तोष्पति मत्र के विना कोई भी वास्तु-विन्यास प्रारम्भ नही किया जाता। यही वास्तोष्पति देव ग्रागे चलकर वास्तु-पुरुष वास्तु-ब्रह्म के रूप में विभावित किये गये। प्रासाद का ग्रर्थ—सदन साद प्रकर्षेण साद प्रासादः ग्रर्थात् जहा मान, धाम एव विन्यास-पुरस्सर नियम-बद्ध इष्टिका-चयन निष्पन्न होता है, वही चिति है, वही चैत्य है, वही प्रासाद है। ग्रत इस मूलाधार के मूल्याकन से कौन सी वास्तु-कृति इस वैदिक परम्परा से प्रभावित नही है। जहा तक ग्रामो, नगरो कुलो, गोत्रो—गोवाडो—गाव त्रायन्ते यस्मिन् इति गोत्रम्—गोपुरो ग्रादि—इन वास्तु-कृतियो से इस स्तम्भ में हमारा प्रयोजन नही है। ग्रतः वैदिक-कालीन प्रासाद-निवेश की देन स्वत प्रकट है ग्रौर विशेष विवरणो की यहा पर ग्रावश्यकता नही है।

मौर्य-कालीन (ई पू० ४००)

मौर्यकालीन वास्तु-कला के सम्बन्ध मे प्रौढ उपलब्धिया प्राप्त हुई हैं। ई० पू० पचम शतक मे मौर्यों की राज-सता की स्थापना हो ही चुकी थी। यह राज-सत्ता इस देश मे प्राय सर्वत्र एक विशाल साम्राज्य एव आधिराज्य स्थापित करने मे पूर्ण सफल हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्राठ् के राज-वेश्म, राज-प्रासाद का जो वर्णन मैगस्थनीज के वृतान्त मे पाया गया है उससे तत्कालीन वास्तु-विकास का पूर्ण परिपाक समर्थित होता है। राज-प्रासाद काष्ठमय था पाषाणीय नही था। ऐष्टिक वास्तु के प्रति विशेष अभिनिवेश नही था, अतः ऐष्टिक एवं शिलामय द्रव्य देव-प्रतिमाओ मे ही विशेष प्रयोग किये जाते थे। पुराणो को एक-मात्र गुप्त-कालीन कृतियो अथवा सपादनो मे विभाजित करना अनुचित है। पुराणो एव आगामो का का आदेश था—शिलाकुड्य, शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत अतएव तत्कालीन समाज मे इस देश की आब-हवा के अनुकूल मृन्मय, छाद्यमय, काष्ठमय आवास ही विशेष अनुकूल माने गये और यह परम्परा हमारे देश मे अब भी विद्यमान है। जहा तक वास्तु-कला के विलास, प्रोल्लास एव विकास की बात है उसका प्रतिविम्ब इस स्थापत्य-निदर्शन (मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज-प्रासाद तथा अशोक का भी राजमहल-पाटलिपुत्र) मे प्राप्त होता है। कैसे सभा-भवन, कैसे अन्त शालायें, कैसे मनोज्ञ स्तम्भ, कैसे प्राकार, कैसे परिखायें कैसे वप्र तथा अट्टालक—इन पूर्ण अलकृति के परिपाक मे विकसित हो रहे थे। यह सब जन-वास्तु एव राज-वास्तु की की बात है।

अब आइये, प्रासाद-वास्तु की ओर। दुर्भाग्य का विलास है कि इस काल मे पूजा-वास्तु के निदर्शन अनुपलब्ध है परन्तु मेरी दृष्टि मे उस समय सभी भवनो राज-भवनो या जन-भवनो मे सर्वत्र एक स्थान निर्धारित कर दिया जाता था जिसे देवगार,* देवकुल, देवनिकेतन् के नाम से पुकारा जाता था। यह हम प्रथम ही प्रतिपादित कर चुके है।

उत्तर-वैदिक-कालीन

ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक-कालीन, प्रासाद-वास्तु की समीक्षा वास्तव मे कठिन ही है। वैदिक-काल एवं उत्तर वैदिक-काल के तिथि-निर्धारण मे ही बडे २ मत-भेद है तो फिर तत्कालीन जीवन-धारा की अवि-च्छिन्न-परम्परा का मूल्याकन सुकर नही है। अतः हमे इस विवाद मे न पड़ कर यहा इतना सकेत ही पर्याप्त है कि उत्तर-वैदिक-काल मे सूत्र-साहित्य को विज्ञानों के जन्म मे बडा श्रेय है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष—इस षड्ङ्ग वेदाङ्ग से हम परिचित ही है। उत्तर वैदिक साहित्य में इस स्तम्भ में कल्प तथा ज्योतिष की ही देन का मूल्याकन आवश्यक है। हमने अपने आग्ल-ग्रन्थो में लिखा ही है कि यूनानियो ने विज्ञान को ज्यामिति (Geometry) से प्रारम्भ किया, हिन्दुओ ने भाषा-विज्ञान से किया। परन्तु इस समानान्तर धारा के साथ हिन्दुओ ने ज्यामिति को भी पूर्ण प्रश्रय दिया। कल्प-सूत्रो से तात्पर्य चतुर्विध सूत्रो से है—गृह्य, श्रौत, धर्म तथा शुल्ब। शुल्ब वेदि-रचना की माप से सम्बन्ध है। धर्म से तात्पर्य चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं चातुराश्रम्य-व्यवस्था से तात्पर्य है। पुनः शेष गृह्य एवं श्रौत-सूत्रो का सम्बन्ध यजन-याग, पूजा-उपासना आदि से है जो गार्हस्थ्य यज्ञ एवं सामाजिक एवं राष्ट्रीय यज्ञो से विशेष सम्बन्ध है। इन यज्ञ-वेदियो एवं यज्ञीय-निवेशो के मानादि, निर्माणादि एवं द्रव्यादि ने ही आगे की प्रासाद-कला की मूल-भित्ति को प्रस्तुत करते हैं। अतः इस अत्यन्त स्वल्प संकेत के बाद अब हमें थोडा सा महाकाव्यो (रामायण एव महाभारत) की काल-गरिमा पर भी कुछ सकेत आवश्यक है। रामायण में सौधो, विमानो, गोपुरो, तोरणो, प्रकार-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि परिवेष्टित एवं अलकृत नगरों आदि नाना वास्तु-वैभवो के वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत मे तो सभा-वास्तु का महान् विलास प्रत्यक्ष है जिसका पूर्व-सकेत हो ही चुका है। पुनः इस महाकाव्य मे अनेक तीर्थों, धामो, पुण्यतम सलिलाशयो, सरिताओ, पावन-कूलो का ही वर्णन नही है, वरन् मुख्य देव—त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव से सम्बन्धित अनेक स्थानो, स्थलो एव आयतनो के वर्णन प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इस उत्तर-वैदिक काल में तो प्रासाद-वास्तु अवश्य वृद्धिंगत हो चुका था। हा यह

अवश्य सन्दिग्ध है कि मन्दिरो के निर्माण मे किन २ द्रव्यो का विशेष प्रचार था। महाभारत के काल से सम्बन्धित कुछ स्थलो की खुदाई से धातुओं एवं पापाणो की बहुत सी उपलब्धिया प्राप्त हुई हैं। अतः पुरातत्वीयान्वेषण—इस तथ्य के भी पोषक हैं। अतः अव आइये ईसवरीय-पूर्व-कालीन प्रासाद-वास्तु की ओर जो तिथिक्रम से अवश्य अनुसन्धत्त हो चुका है।

मौर्य-राजवंश—अशोक-कालीन स्थापत्य

यद्यपि मौर्य-काल मे पूजा-वास्तु का प्राधान्य नही था तथापि भारतीय वास्तु-कला, जिस का मुख्य एव मूर्धन्य प्रासाद कला है, उस के विकासमान बीज पूर्ण रूप से पल्लवित हो चुके थे। पाटलिपुत्र का निवेश एव उसमे राज-भवन या राज-प्रासाद की रचना लौकिक-वास्तु (सेकुलर आर्कीटेक्चर) का परम निदर्शन प्रस्तुत करते है। इस काल की वास्तु-कला का प्रधान निर्माण द्रव्य काष्ठ था। पाटलिपुत्र के ध्वसावशेषो मे जो प्राचीन स्मारक प्राप्त हुये हैं, उनमे काष्ठ-मय प्रासाद के प्रौढ विकास का पूर्ण आभास मिलता है। हमने प्राचीन भारत के चार प्रमुख स्थपति-वर्गों मे काष्ठ-कला कोविद वर्धकि का कौशल वास्तु-शास्त्र का एक अभिन्न अग माना गया है, तदनुरूप मौर्य—कालीन वास्तु-कला-वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त एवं प्रशस्त दक्षता का निदर्शन है। पाटलिपुत्र की नगर-रचना एव राजधानी निवेश की जो व्यवस्था थी वह प्राचीन भारतीय-वास्तु-शास्त्र के अनुरूप ही थी—अर्थात् प्राकार, परिखा से गुप्त एवं हर्म्य आदि मण्डित तथा द्वार एव गोपुरो से सज्जित रक्षा-सविधान की परिपाटी प्रचलित। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र मे नगर-निवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है, उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है। अथच काष्ठमय प्रासादो के निर्माण में जहा काष्ठ-कला का वैशारद्य पूर्ण-रूपेण परिलक्षित है, वहाँ उनमें भूषा-विन्यास (पच्चीकारी) का भी कम कौशल नही है। वानस्पत्य विच्छित्तियो के साथ २ खग, मृग आदि पशु-ससार के चित्रण भी पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं।

मौर्य-वंश के अमरकीर्ति प्रियदर्शी राजर्षि अशोक का सरक्षण पाकर भारतीय स्थापत्य निखर उठा। अशोक-कालीन भारतीय स्थापत्य में विशेषकर बौद्ध-काल के विकास का श्रीगणेश माना जाता है, जिनमें निम्नलिखित छैं वास्तु-विन्यास विशेष उल्लेख्य हैं —

१. चट्टानों पर उट्टङ्कित शिला-लेख
२ स्तूप
३. एक-पाषणीय स्तम्भ (monolithic pillars)

४. एक-पाषाणीय आयतन
५. राज-प्रासाद तथा
६. पार्वतीय शालायें

प्रकृत मे यद्यपि इन निदर्शनो मे प्रासाद-कला का कोई आभास नहीं, परन्तु स्तूपो तथा आयतनो तथा प्रासाद-स्थापत्य की विच्छित्तियों एवं पार्वत-वास्तु के इन प्रारम्भो मे हिन्दू-प्रासाद के विकास एवं उत्थान के बहुत से घटकों के विकास-बीज अन्तर्हित हैं। अशोक के स्तम्भों की रचना से आगे के प्रासाद-स्तम्भो ने बहुत कुछ ग्रहण किया। प्रासाद के ध्वज-स्तम्भो की जो रचना आगे हम देखेंगे, उन पर अशोक के स्तम्भो का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। इन स्तम्भो पर गज, अश्व, वृक्ष, वृष एवं सिंह के चित्रणो मे प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक परम्परा प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत की अत्यन्त प्राचीन उपासना के नाना स्वरूपों मे वृक्ष-पूजा एक बड़ी प्रचलित संस्था थी। वृक्षों के प्रकाण्ड-काण्ड की यह परम्परा पाषाण-शिलाओं और पाषाण स्तम्भो मे भी परिणत हुई। बहुत से चित्रणो मे यह दृश्य विद्यमान है। पूज्य-स्तम्भों की परम्परा सम्भवतः इस देश मे बहुत पुरानी है। बेसनगर के स्तम्भ मे भी यही निष्कर्ष निकलता है। सम्भवतः अशोक के द्वारा निर्मापित एवं प्रतिष्ठापित इन अगणित स्तम्भो का उपलक्षण पूजा-वास्तु के रूप मे हम देख सकते हैं। इस प्रकार ये स्तम्भ देव-रूप थे और आगे के मन्दिरों के अग्रजन्मा। इनके अतिरिक्त पार्वतीय-शालाओं को भी हम प्रासाद-वास्तु के उपायकों एवं नियामकों मे परिगणित कर सकते हैं। इनकी विच्छित्तियां प्रासाद-शिखर-विच्छित्तियों के समान दर्शनीय हैं। पर्सी ब्राउन (देखिये इंडियन आर्किटेक्चर पृ० १०-१२) ने भी यह मत प्रकट किया है। अशोक-कालीन इन पार्वत-शालाओं के निदर्शन बाराबर पर्वत-माला मे कर्ण-चौपर सुदामा लोमस-ऋषि विश्व-झोपड़ी, नागार्जुनी-पर्वत माला में गोपिका, वहिजका, वादलहिरा के साथ सीता-मढ़ी-वर्ग मे भी द्रष्टव्य हैं।

टि० १. राज-प्रासाद के सम्बन्ध मे हम पहले ही संकेत कर चुके हैं।

टि० २. पर्वत की पाषाण-शिलायें प्रस्तर प्रतिमाओं को पूर्वजा हैं—

अ. शालग्राम, बाण-लिङ्ग जो स्वयम्भू प्रतिमायें हैं।

ब. गृहे-गृहे गोवर्धन-पूजा—पर्वत-पूजा का प्रतिनिधित्व है।

टि० ३. प्रासादों की समायें पर्वतों से—मेरु, मन्दर, कैलाश आदि (दे० अनुवाद)।

शुंग तथा आंध्र राजवंशों एवं वाकाटकों महीयान् तक्षण-स्थापत्य

अर्चा गृहो एव अर्चक-निवासो के आरण्यक, पार्वतीय एव नागर स्थानो की निर्मिति मे सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुग एव आन्ध्र राजाओ ने दिया। यद्यपि इस काल की वास्तु कृतियो के निर्माण म विकास-क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुल प्रयोग हुआ था अत वे कृतिया प्रत्यक्ष बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती है, परन्तु साची, मथुरा, अमरावती, गान्धार, आदि के स्मारको मे चित्रित प्राचीन पूजा गृहो (Primitive Shrines) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यो के बाद शुगवश का राज्यकाल आता है, पुन आन्ध्रो का। शुग सत्ता का उत्तर एव पश्चिम मे विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रो का दक्षिण मे। आन्ध्रो ने अपने को दक्षिणेश्वर के नाम से स्वय सकीर्तन किया है। ये दोनो ही राजवश बड़े उदार थे। अशोक के समय बौद्ध-कला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था, वह इनके समय मे भी आग बढता रहा। साची, बरहुत आदि महा कला पीठो के विकास का श्रीगणेश इसी समय हुआ। विशेपता यह है कि इनक समय मे प्राचीन पूजा-गृहो (early shrines) के भी निर्माण हुये जो आगे चलकर हिन्दू-प्रासद की निर्माण-शैली की पूर्वजा प्रतिकृति (Prototype)बन। हिन्दू पूजा-गृहो ने इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियो मे वेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्वसावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनक देव-स्थान निर्मित हुये जिन की समीक्षा भी यहा अवश्यक है। भिलसा के समीप वेसनगर मे स्थापित यह गरुड स्तम्भ वासुदेव-विष्णु मन्दिर पुरातत्वीय दृष्टि से सर्वप्राचीन प्रासाद-निदर्शन है।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास मे राज-कुल के सरक्षण का अभाव था ऐसा नही कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध विहार एव चैत्य थे और उन मे भी विभेद यह था कि उनके विकास की रूप रेखा मे बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओ—हीनयान एव महायान—की अपनी अपनी विशिष्टता के अनुरूप इन धार्मिक स्थानो, आवास-गृहो एव पूजा-गृहो की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ

एवं एक विशिष्ट कलाकृति गुहा-मन्दिर या लयन प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु Rock-cut-architecture—एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीठों में अमरावती सांची, अजन्ता, जुन्नार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उडीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्फा एवं गान्धार तथा तक्ष-शिला विशेष उल्लेख्य हैं।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास में यहां पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहां पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी? श्रम, अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बड़े २ पर्वतों को काट कर जो कला-भवन विनिर्मित हुए वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहां के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यों के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे, परन्तु वैदिक-कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी। अतः पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ २ ईसवीयोत्तर शतकों में ऐष्टिक-भवन (brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्व-प्रथम उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ, बनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि में आती है। पर्सी ब्राउन (see Indian Architecture p 40) ने ऐष्ट भवनों को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमें अधिकांश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण मन्दिर' के नाम से उपश्लोकित है। इन मन्दिरों में कानपुर जिले में भीटर गाव का ऐष्टिक-प्रासाद बड़े महत्व का है जो इष्टिका चयन-कला की उदात्तता एवं पुष्टता पर ही प्रकाश नहीं डालता है, वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूप-रेखा का भी संकेत करता है। भीटर गाव के अतिरिक्त मध्य प्रदेश में रामपुर जिले में खरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि में परिगणित किये गये हैं। बाम्बे प्रेसीडेंसी (आधुनिक महाराष्ट्र) में शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (shrines) भी इसी वर्ग-वृक्ष की वल्लरियां हैं।

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर वृक्ष (जो नागों का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता में मिलती है। भारशिव-नाग-राजाओं के समय में ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण

भी मन्दिर के तोरण-चौखटो पर अंकित होने लगा था। भूमरा और देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के अनुपम प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी मन्दिर-निर्माण-कला मे कम देन न थी। इनके समय मे शिवालयो का विशेष प्राधान्य था जिनमे एक-मुखी एवं चर्मु-मुखी लिंगो की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरो का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्त-कालीन मन्दिरो की वास्तु-कला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा और गुप्त-कालीन मन्दिरो की कला की लडी को जोडते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्राय: गुप्त-काल के हैं। सम्प्रदाय-भेद से नाग—वाकाटको के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायनुरूप तथा गुप्त वंशियो के वैष्णव-सम्प्रदायनुरूप है।

सातवाहन-वास्तु-कला में प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य

उत्तरीय-दाक्षिणात्य-प्रदेशीय (the Northern Deccan) सातवाहन साम्राज्य के इस स्वर्ण-युग ने भारतीय स्थापत्य को पराकाष्ठा पर पहुचा दिया। साची का स्तूप बौद्ध-प्रासाद ई० पू० प्रथम शतक के उत्तरार्ध का निर्माण है इसके चतुर्दिक् चार तोरण-गोपुर-द्वारो की आभा आज भी इस महनीय स्थापत्य-कला को जगमगा रही है। प्रतिमा-चित्रण (sculptures) जैसे लक्ष्मी आदि प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य की गाथा है। ये सब पूज्य एव पूजा-वास्तु की स्थापना करते हैं। इसी काल मे पश्चिम भारत के लयन प्रासाद जैसे भाज-गुफायें, कन्हेरी तथा कार्ली के चैत्य-मण्डप तथा नासिक-निकट पाण्डुलेन गुहायें भी इस युग के निदर्शन हैं।

सातवहनो ने ईशवीयारम्भ मे पूर्वीय वेला को जीत लिया और बहुसंख्यक स्तूपो की निर्मितियाँ प्रस्तुत की। इनम नागराज की प्रतिमा भारतीय पाषाणी-कला का एक तत्कालीन महनीय निदर्शन है।

टि० पर्सी ब्राउन ने इन सातवाहनो के श्रेय का कोई सकेत नहीं किया —ये स्तूप शुंगों तथा आन्ध्रो के काल मे कवलित किये गये हैं जिसके विवरण पीछे भी दिये जा चुके हैं।

इक्ष्वाकु-शैली

सातवाहन-स्थापत्य का अवसान इसी शैली मे सम्पन्न हुआ। ये इक्ष्वाकु आन्ध्र-भृत्यो के नाम से उपलोकित थे। जग्गय्यपेट्ट तथा नागार्जुनी-कोण्डा —ये दोनो प्रासाद पीठ जगद्विश्रुत है। इन वास्तु-पीठो पर दीर्घ-स्तम्भ-बहुल मण्डप विशेष दर्शनीय हैं जो इन बौद्ध-विहारो —बौद्ध-प्रासादो स सवृत हैं। इन पीठो पर यक्ष-यक्षणियो के मन्दिर भी दर्शनीय हैं। भगवान् कार्तिक्य का भी मन्दिर यहा पर द्रष्टव्य है। हर्मन गोट्ज—दी आर्ट आफ दी वर्ल्ड—इंडिया—पेज ६२—म इस प्रसिद्ध कला-इतिहास पर जो निम्न समीक्षा की है, वह वास्तव मे सत्य है। अत यह अवतारणीय है :—

"The characteristic features of the later South Indian temple, all turn up here for the first time in the third century Similar Siva temple, shaped like Chaitya-halls, have survived at Ter and Chezarla (4th 5th centuries), and they have also been prototype for one part of the later Pallava temples (7th century)—

इस आवतरण से मेरी पूर्व समीक्षा अब इस विद्वान् से भी समर्थित हो जाती है कि—ब्राह्मण-मन्दिरो और बौद्ध स्तूप-प्रासादो मे कोई मौलिक अन्तर नही है।

कलिंग-कला

कलिंग-कला दक्षिण-भारत-स्थापत्य के प्रोल्लास का श्रीगणेश करती है। प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुरूप कलिंग एक-मात्र दक्षिण ही नहीं वरन् इसका क्षेत्र आधुनिक उडीसा से विशेष सम्बन्धित है। प्राचीन उडीसा (कलिंग) खार्वेलों, मेघवाहनो और चेदियो के राज्यकाल मे तत्क्षेत्रीय कला का विशेष विकास जो आधुनिक अपनी गरिमा तथा रीति की आभा मे भारतीय-स्थापत्य को दीप्ति कर रहा है, वह है भुवनेश्वर। उसी के समकालीन एव पूर्व-कालीन क्षेत्र था शिशुपालगढ जिसकी सजा कलिंग-नगर थी और वह भुवनेश्वर के दक्षिण-पूर्व सन्निविष्ट था—इसकी चौडी परिखायें एव अष्ट-द्वार-भूषा आज भी विद्यमान है, वह भी स्थापत्य का विन्यास प्रस्तुत करता है। उदयगिरि की गुफायें कलिंग-कला की बडी ओजस्वी निर्मितियां हैं। हाथी-गुम्फा मे यह आज भी आभा प्राप्त होती है।

जहा कलिंग-कला का हम गान कर रहे हैं, वहा हम पुगो और आध्रो की देन को विस्मृत नही कर सकते। सर्व प्रथम कलिंगो एव आध्रो की कला का कीर्तन बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत से सम्बन्धित है। सिंघल-द्वीप (लका), ब्रह्मदेश (बर्मा), मलाया, कम्बोडिया, आसाम आदि प्रदेशो मे जो कला-निदर्शन दिखाई पडते हैं—वे सब कलिंगो, आध्रो का ही विस्तार प्रभाव प्रत्यक्ष है। मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, अन्नम आदि द्वीपान्तर भारत मे अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया मे जो तक्षण-कला प्रोल्लसित हुई उस पर अमरावती का प्रभाव प्रतिबिम्बित होता है।

टि० अस्तु इन विभिन्न प्राचीन वशों के इस स्वल्प सकीर्तन के उपरान्त एक तथ्य भी निर्देश्य है कि ज्योंही ईसवीय सवत् प्रारम्भ हुआ त्योंही इस देश मे विदेशियों के आगमन से एक नई धारा—मिश्रण धारा (commingling of cultures) बहने लगी। यूनानियों, सेमीटिनियों तथा शकों, पार्थियो सीथियो के ही प्रभाव से तक्षशिला तथा गान्धार कलाओं का (Clasical Art) विकसित हो गया।

लयन-प्रासाद——हीनयान-बौद्ध-प्रासाद

बौद्ध-भवन जैसे स्तूप, चैत्य, विहार तथा गुहा-मन्दिर—ये सभी हमारे प्रासाद-निवेश की कोटि में ही गतार्थ किये जा सकते हैं—इस पर हम पीछे भी कह चुके हैं कि वास्तु-शास्त्र एवं शिल्प-शास्त्र में जो हिन्दू प्रासाद अर्थात् मन्दिरों की जो नामावलियां दी गई है जैसे मेरू, मन्दर, कैलाश आदि आदि—वे भी यह पूर्ण-रूप से परिपुष्ट करते हैं कि हमारे प्रासाद-स्थापत्य का विकास सर्व-प्रथम बौद्धो के अर्चागृहों (चैत्यों) तथा अर्चक-निवासो (विहारों), संघारामों से ही प्रादुर्भाव हुआ है। जहाँ तक बौद्ध स्तूपों की बात है वह एक प्रकार से प्रतीकात्मक अर्घ्य-स्मारक हैं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जो स्तूप-स्थापत्य का प्रदर्शन करते है। किसी महापुरुष के मरणोपरान्त उसके ध्यान एवं स्मरण के लिये इसी प्रकार स्तूप बनाये जाते थे। अतएव महात्मा बुद्ध के मरणोपरान्त इसी प्रतीकत्व के आधार पर स्तूप-निर्मितियां प्रारम्भ हुई। हिन्दू प्रासाद (मन्दिर) की आकृति पर्वताकार ही है। अतएव आकार और संज्ञा दोनों इस तथ्य का पोषण करते हैं कि समरांगण सूत्रधार में प्रासाद वर्गों में लयन-प्रासाद, गुहाधर प्रासाद गुहराज-प्रासाद संकीर्तित किये गये हैं। इस दृष्टि से शास्त्र और कला दोनों का स्वतः समन्वय प्रस्तुत हो जाता है। हमारे देश में गुहा-निवास सनातन से चला आ रहा है; अतएव भारतीय स्थापत्य में जो लयन प्रासाद जैसे लोमस, ऋषि, खंडगिरि, उदयगिरि, हाथी-गुम्फा भाज, कोण्डन, कार्ली अजन्ता, एलौरा, मामल्लपुर आदि आदि ये सभी पीठ इन लयनादि प्रासादों के सुन्दर निदर्शन हैं।

वास्तु-शास्त्र के अनुसार जो पद प्रयुक्त किये गये है जैसे लयन गुहराज तथा गुहाधर इस दृष्टि से उपर्युक्त निदर्शन लयन के निदर्शन हैं। गुहाधार प्रासाद अजन्ता की गुफाओं में शैलिमालायमान निदर्शन है। एलौरा और मामल्लपुर के मन्दिर गुह-राज के नाम से हम संकीर्तित कर सकते हैं।

गान्धार वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य वास्तु—महायान बौद्ध भक्ति सम्प्रदाय के क्रोड में आधुनिक विद्वानों ने भारतीय वास्तु कला के मूलाधारों नहीं किया कला संस्कृति का मुकुर माना जाता है। जब भारत इस महादेश की संस्कृति के सम्बन्ध में सभी विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि संस्कृति एक ही है तो फिर कलाओं को विशेष कर प्रासाद-कला—Temple architecture

को विभिन्न वर्गों मे अथवा विभिन्न श्रेणियो मे कैसे बाटा जा सकता है? पीछे के स्तम्भ म प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास पर जो मूलाधार हैं उनके विवरण दिये ही जा चुके है। अत बौद्ध अर्चा-गृहों तथा ब्राह्मण अथवा जैन अर्चा-गृहो मे थोडे से आन्तरिक भेद-घटक अवश्य दिखाई पडते हैं। परन्तु जहा तक मूलाधारो की बात है, वे एक ही हैं। प्रासाद का अर्थ एक-मात्र मन्दिर से हो, नही है। प्रासाद, वैदिक चिति, बौद्ध स्तूप, बौद्ध चैत्य—इन सभी में गतार्थ होता है। जो भी पूजा एव पूजा-वास्तु है वही प्रासाद है। इस दृष्टि से तथा रथित बौद्ध-धर्म में उत्थित महायान सम्प्रदाय में जो भक्ति धारा वही, उसका स्रोत पौराणिक धारा ही थी। हम सब लोग यह जानते ही हैं कि पूजा के इतिहास में बडे बडे परिवर्तन हुये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हम पूजा को तीन वर्गों में बाट सकते हैं वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र। वैदिक पूजा से तात्पर्य इष्टि से है और मिश्र से तात्पर्य पौराणिक पूजा से है जिससे तात्पर्य है देव-पूजा, तीर्थ-यात्रा, देवालयों का निर्माण, वापी कूप आदि जलाशयो का निर्माण एव दानादि उत्सर्ग। इस महायान सम्प्रदाय की भक्ति-धारा के इतिहास में दो महान् प्रभाव प्रादुर्भूत हुये हैं। एक पौराणिक और दूसरा तान्त्रिक। प्राचीन, पूर्व-मध्य कालीन जो महायान सम्प्रदाय था उसमे पौराणिक प्रभाव विशेष था। आगे चलकर तन्त्रो का जो उद्दाम विकास हुआ उसने समस्त ससार को आक्रान्त कर लिया था। अतएव महायान मे ही काल-यान, वज्र-यान, सुख-यान (महासुखवाद) आदि नाना सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हो गया। तन्त्र का सर्वांगीण प्रभाव भारतीय स्थापत्य ही विशेष निदर्शन है।

इस उपोद्घात के अनन्तर जब हमें पाठको को इतना ही सकेत करना था कि भारतीय कला को हम एक ही प्रकार के मूलाधारों म गतार्थ कर सकते हैं, अतएव हम इस ग्रन्थ यथानाम प्रासाद-निवेश मे बौद्ध पूजा एव पूज्य वास्तु को नही हटा सकते हैं

अब आइये गान्धार की ओर। गान्धार को आधुनिक विद्वानो ने चार सास्कृतिक धाराओ अथवा चार जातियो का सगम माना है अर्थात् यूनानी पार्थियन, सीथियन तथा हिन्दू। हमे इस प्रकरण मे विशेष विवरणो म जाने की आवश्यकता नही है। बहुत दिनो से एक बडा विवाद चला आ रहा था कि बौद्ध प्रतिमायें जो गान्धार की बुद्ध मूर्तिया हैं, उनकी निर्मिति म कौन सी कला है भारतीय या यूनानी? कला के क्रोड में किस मूलाधार को नवनित किया जा

सकता है। यह प्रकृत विषय विशेषतर पूजा एवं पूज्य-वास्तु-पीठों से सम्बन्ध रखता है तथापि यहा पर यह कहना सगत नही कि ये प्रतिमायें सर्वथा यूनान की देन है। यह धारणा बिलकुल भ्रान्त है। ईसा से पूर्व बहुत पहले हमारे देश में मूर्ति-कला (तक्षण-कला) विकसित हो चुकी थी। ईसा से पूर्व वैदिक सभ्यता के अनुरूप यज्ञ-संस्था सर्वदा विलीन नही थी। इसलिये मूर्तिया के निर्माण मे लोगों ने विशेष अभिनिवेश नही पनपने दिया। बहुत से विद्वानो ने यहा तक लिख डाला है कि वैदिक-काल मे प्रतिमा-पूजा तो थी ही नही—यह बिलकुल गलत है। इस महादेश में उस समय दो महान् जातिया अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप जीवन यापन कर रहे थे। अतएव आचार-विचार, उपासना एवं अन्य संस्थाओं में एक दूसरे से अपना अपना वैशिष्ट्य रखते थे। जब हमें सिन्धु-घाटी की सभ्यता में नाना मूर्तियो के निदर्शन प्राप्त होते है, तो वैदिक वाङ्मय में भी प्रतिमाओं के अनेक साहित्यिक सदर्भ प्राप्त होते हैं तो हम यह कैसे मान सकते हैं कि यह प्रतिमा कला उस समय इस देश में बिलकुल विकसित नही हुई थी।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षा के उपरान्त अब हमें गान्धार केन्द्र की स्थापत्य विशेषता का कुछ मूल्याकन करना है। इस प्रसिद्ध पीठ पर दो प्रकार के निदर्शन प्राप्त होते हैं—स्तूप तथा सघाराम। स्तूप और सघाराम पूज्य और पूजको का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार अफगानिस्तान, पेशावर, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के प्रासाद-पीठ प्राप्त होते हैं। पर्सी ब्राउन ने इस स्तम्भ पर काफी प्रकाश डाला है वह वही पाठनीय है।

इसी स्तम्भ में हमें उत्तर से दक्षिण की ओर भी मुड़ना है और साथ ही साथ मध्य-देश के उत्तुंग बौद्ध-मन्दिरों पर भी दृष्टिपात करना है।

दाक्षिणात्य-बौद्ध-प्रासाद-पीठ

इनकी तालिका निम्न रूप में निभालनीय है, इनको हम दो वर्गों मे बाट सकते है--लयन-प्रासाद तथा स्तूप-प्रासाद।

अ. लयन :-

१ गुण्टू-पल्ले - यह स्थान कमवरपुकोटा के पश्चिम मे ६ मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान किस्तना जिला के इलोरा तालुका म स्थित है।

२ मकरम यह अनकापल्ला नगर के पूर्व की ओर एक मील की दूरी पर स्थित है।

ब स्तूप :—

१. जगय्य पेट (किस्तना जिले मे)
२. पेद्दामद्दरू (गुन्टूर जिला)
३ पेद्दामद्दर ग जम (निदर्शन १ २ ३ ई० पू० श्रा०)
४ भट्टी प्रोलू (किस्तना जिला)
५, गुडीवादा (किस्तना जिला)—मुसलीपट्टम के उत्तर-पश्चिम
६ घन्टसाल —मुसली-पट्टम के पश्चिम किस्तना जिले मे
७ गरिक-पद (कि० जि०)
८ अमरावती (गुन्टूर जि०)
९ नागार्जुनी-कोडा (गुन्टूर जि०)

अब आइये मध्य-देश की ओर जिसको बहुत से विद्वानों ने पश्चिम भारतीय प्रदेश के रूप म गतार्थ किया है। दक्षिण भारत के जो निदर्शन उपरोक्त तालिका में अभी प्रस्तुत किये गये हैं, उनको हीनयान-सम्प्रदाय में गतार्थ किया है और नया-स्थित इस पश्चिम भारत अर्थात् मध्य-देश के जो प्रख्यात बौद्ध-पीठ हैं, इनमें विशेष उल्लखनीय महायानी लयन-प्रासाद के निम्न क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध हैं—जैसे अजन्ता एलोरा और औरंगाबाद तथा कुछ और क्षेत्र भी इसी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।

अजन्ता —अजन्ता के विहार और चैत्यों की निम्न तालिका कालानुक्रम प्रस्तुत की जाती है :—

अ. हीनयान-वर्ग—ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक

१. विहार—सख्या ८
२ चैत्य-सभा-भवन—सख्या ६
३. चैत्य-सभा-भवन— ,, १०
४-५. विहार—सख्या १२ तथा १३
टि०—विश्रान्ति—ईसवीयोत्तर द्वितीय से ४५० तक

ब. महायान-वर्ग—ईसवीयोत्तर ४५०-६४२

६-८. विहार—सख्या ११, ७ तथा ६—४६०—५०० ई०
६-१३. ,, ,, १५, १६, १७, १८ तथा २०— ,, ई०
१४ चैत्य-सभा-भवन—१६—५५० ई०
१५-१६ विहार—सख्या २१ से २५—५५०— ६०० ई०
२०. चैत्य-सभा-भवन—सख्या २६ ,, ,,
२१-२५ विहार—सख्या १ से ५—६००—६२५ ई०
२६-२७ ,, ,, २७ तथा २६—६२५—६४२

उत्तरापथीय ऐष्टिक वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास

वास्तु-कला के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पर्सी ब्राउन ने ऐष्टिक-वास्तु (brick-building) का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म की छत्र-छाया माना है। मेरी दृष्टि मे यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। पिछले स्तम्भो मे हमने प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर वैदिक-चिति की अमिट छाप पर प्रौढ प्रकाश डाला ही है। अत: आधुनिक योरोपियन लेखको को हमारे प्रासाद जन्म की इस समीक्षा के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नही था। आधुनिक वास्तु-कला-लेखको ने पुरातत्वीय दृष्टि से ही भारतीय वास्तु-कला के इतिहास पर समीक्षा की है। यह सभी जानते हैं कि कला सभ्यता और संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तथा मूर्धन्य प्रतीक है। अतः जब तक हम कलाओ के विकास के आधार-भौतिक अथवा मौलिक भित्तियो का मूल्याकन नही करते तब तक हम कलाओं की समीक्षा पूर्ण रूप से नही कर सकते हैं। पूजा-वास्तु अर्थात् मण्डपो का जन्म और विकास कहा से हुआ- इन सभी की अग्रजा अथवा जननी वैदिक चिति है।

वैदिक चिति की सर्व प्रमुख-रचना ऐष्टिक-वास्तु थी तो फिर ईसवीयोत्तर काल मे हीनयान सम्प्रदाय के क्रोड मे ही ऐष्टिक-वास्तु का जन्म हुआ तो यह कैसे संगत समीक्षा मानी जा सकती है। हा यह एक तथ्य है कि हमारे देश मे पाषाण-कला (पार्वत—वास्तु) भी काफी समृद्ध थी जो नाग तक्षको की देन थी। आर्य ऐष्टिक-वास्तु के जन्मदाता हैं। अनार्य अर्थात् द्राविड या नाग या असुर पाषाण वास्तु के महान् प्रसिद्ध तक्षक एव कुशल कला-विज्ञ थे। डा॰ जायसवाल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारशिव नाग पाषाण-कला के परम-प्रसिद्ध तक्षक एव प्रवीण थे।

अतः यहा इन दो भिन्नताओ को दूर करने के लिये यह अवश्य माना जाये कि वैदिक युग के उपरान्त ऐष्टिक-वास्तु बहुत शिथिल हो चुका थी। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक ससर्ग आदान प्रदान आचार-विचार, रीति-रिवाज—अपने आप एक महा-सगम की धारा हमारे इस देश म प्रस्फुटित हो गई। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस देश म ईसवीय पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले ऐष्टिक-वास्तु पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। मोहनजोदाडो

और हड़प्पा की खुदाई से भी इस प्राचीन ऐष्टिक-वास्तु का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत हो जाता है। पुन कालान्तर पाकर जब बडे २ सघर्ष उपस्थित हो पडे, नानान् जातियो का यहा पर प्रभाव भी पडा तो बहुत कुछ समिश्रण अपने आप उपस्थित हो गये। इतिहास साक्षी है कि जब कोई भी परम्परा असाधारण कारणो क द्वारा विलुप्त हो जाती है, तो वह अपने आप पुनर्जन्म एव विकास के लिये प्रयत्नशील हो जाती है। ईसवीयोत्तर काल मे इस देश म ऐष्टिक-वास्तु ने अपनी प्राचीन परम्परा को पुन पल्लवित, पुष्पित एव विकसित होने के लिय कदम उठाया, जिसका श्रेय यहा क तत्कालीन वदान्य नरेशो को है।

वास्तु-द्रव्य की विधाये नाना हैं—मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण तथा इष्टिकायें।

आधुनिक लेखको ने पाषाणीय अथवा एष्टिक या काष्ठमय भवनो क सम्बन्ध मे ही कुछ लिख सके ह। हमारी शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप भवनों की चार प्रमुख श्रणिया थी—आवास भवन (Residential Houses) जन भवन (Public Buildings) जैसे सभा, मागशाला विश्रान्ति-भवन प्रक्षा गृह नाट्य-सगीत-नृत्य-आदि-शालाएँ, राजभवन तथा देव भवन। जहा तक आवास-भवनो की कथा है कि हमारे देश मे सनातन से आवास-भवनो के लिये मृत्तिका अथवा काष्ठ ही का प्रयोग होता आया है। इसका प्रमुख कारण देश की जलवायु से सम्बन्ध है। यत यह देश उष्ण-प्रधान देश है, अत पुराणो और आगमो का आदेश है—शिलाकुड्य शिला स्तम्भ—नरावासे न योजयेत— अतएव जहा हमारे देश में देव भवनो और राज-भवनो के निर्माण में शिला का तो अवश्य प्रयोग हुआ परन्तु आवास-भवन सदैव मृण्मय-भवन उपयुक्त माने गये हैं। इनकी वास्तु-शास्त्रीय सज्ञा शाल-भवन है। इसपर हम विशेष विवरण अपने भवन निवेश में द हो चुके हैं। इन शाल-भवनो (छाद्य-भवनो) की मूल भित्ति पर छाद्य-प्रासादो, सभा-मण्डपो का विकास हुआ। जहा तक काष्ठ–निर्माण द्रव्य की बात है, उसका परम निदर्शन पाटलिपुत्र स्थित अशोक का राज प्रासाद जगत प्रसिद्ध है, जिसम हम उसक विवरणो पर विशेष अभिनिवेश की आवश्यकता नही है। अस्तु इस समीक्षा क उपरा त अब हम आधुनिक लेखको का अनुसन्धान अनुकरण आवश्यक नही है।

यह ग्रन्थ प्रासाद-निवेश म सम्बन्धित है, अत प्रासाद-कला के ऐतिहासिक

विहगावलोकन में जो हम ने अभी तक जो समीक्षा प्रस्तुत की है उसके उपरान्त हमे इस वास्तु-सागर की तीन महाधाराओ के कूलो पर विचरण करना है। पहली धारा दाक्षिणात्य कला है, दूसरी धारा उत्तरापथीय है और तीसरी धारा को हम वृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत—के रुप में परिकल्पित कर सकते हैं। महाधाराओ के साथ कुछ क्षुद्र धाराओ का भी अवगाहन करना होगा, जैसे पूर्वी धारा (बगाल) बिहार (आसाम) उत्तर पश्चिम-धारा (काश्मीर नैपाल आदि)। अस्तु, अत्यन्त सूक्ष्म उपोद्घात के उपरात अब हमें पहली महाधारा दाक्षिणात्य प्रासाद कला की ओर जानाहै ।

दक्षिणापथीय-विमान

द्राविड प्रासाद

(भौमिक विमान)

तथा

वावाट (वंराट) प्रासाद

१ चालुक्य-वंशीय

२. पल्लव-वंशीय

३. चोल-वंशीय

४ पाण्ड्य वंशीय

५ होयसल-वंशीय

६. राष्ट्रकूट-वंशीय

७. विजयनगर राज-वंशीय

८: मदुरा नायक-वंशीय

दाक्षिणात्य प्रासाद-स्थापत्य

प्रासाद-निवेश के वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर पीछे के पटल में पहले ही पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भारतीय वास्तु-कला विशेषकर प्रासाद-कला की दो प्रमुख शैलियां हैं—एक नागर (नागर शैली), दूसरी द्राविड (द्राविड़-शैली)। इन दोनों शैलियों की विशेषताओं पर हम प्रकाश डाल ही चुके है तथापि यहां पर कुछ पुनरावृत्ति आवश्यक है। नागर-शैली के प्रासादों को हमने शिखरोत्तम प्रासाद की संज्ञा में कवलित किया है। द्राविड शैली के प्रासादों को हमने भौमिक विमानों के रूप में परिकल्पित किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दो शैलियों में कौन प्राचीनतर है और कौन प्राचीन है। आधुनिक विद्वानों ने नागर-शैली(Northern Style)को प्राचीनतर माना है और द्राविड शैली (Southern Style) को नागर शैली के बाद मानी है। लेखक ही एक-मात्र इस आधुनिक भारत-भारती (Indology) में एक ही व्यक्ति है, जो द्राविड़ शैली को नागर शैली से प्राचीनतर मानता है। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य कामकोटि-पीठम् के द्वारा अयोजित शिल्प-आगम-तन्त्र-सदस जो इलयाथागुडी(Illiyathagudi) में प्रारम्भ हुई थी, तथा अन्य स्थानों पर भी आयोजित हुई थी, उसमें स्वामी जी ने विशेष रूप से मुझे आमन्त्रित किया था, तो मैं ने लगभग दस हजार व्यक्तियों के सम्मुख यह घोषणा की कि नागर-शैली को जो आधुनिक विद्वानों ने प्राचीनतर माना है, वह भ्रान्त है। शिल्प-शास्त्रों में विशेषकर समरांगण-सूत्रधार में जो प्रासाद की प्रतिकृति-प्रसृति आदि पर प्रकाश डाला गया है, उसमें विमान ही प्रासाद का जनक है। दक्षिणापथ पर प्रोल्लसित प्रासादों (मन्दिरों) को विमानों की संज्ञा में ही पुकारा गया है। पुनश्च आर्यों की सभ्यता का आदिम विकास उत्तरापथ पर ही हुआ था। उत्तरापथीय आर्य पाषाण-कला में विशेष निष्णात नहीं थे। हम ऊपर संकेत कर ही चुके है कि द्राविड, नाग या असुर ही पाषाण-तक्षण के कुशल स्थपति थे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के प्रसिद्ध पीठों पर जो प्रोल्लसित प्रासाद-कला दिखाई पडती है, उसको आधुनिक विद्वानों ने तक्षक-कला (Sculptor's Art) के रूप में प्रतिपादित किया है। अतः हमारे उत्तरापथ पर जो नागर-शैली में प्रासाद उत्थित हुए हैं और उनमें जो पाषाणी कला की महती प्रतिरंजना एवं अलंकृति -विच्छित्ति दिखाई पडती है, वह सब

नाग-तक्षकों की ही देन है। इस पर कुछ संकेत पाठकों को आगे भी मिलेगा।

यद्यपि हमने दक्षिण के प्रासादों को भौमिक विमानों में ही परिकल्पित किया है तथापि शिखर-विन्यास जो नागर-शिखरोत्तम-प्रासाद का मूर्धन्य कौशल है, उसमें भी पल्लवों की महती देन है। इस देन का श्रीगणेश आयोहल, पट्टदकल (वातापि) से प्रारम्भ हुआ है। इसका रहस्य उत्कल अथवा कलिंग नरेशों का इस प्रदेश के नरेशों के साथ संसर्ग लगभग पाचवीं शताब्दी में जो हुआ था वह इतिहास साक्षी है कि इसी के द्वारा उत्तरापथीय प्रासाद-वास्तु की भंगिमा, नाना-शिखर-विच्छित्तियों में निखर उठी। इस शिखर-विन्यास-विच्छित्तियों पर हम आगे के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे। (दे० मेरी समीक्षा तथा पर्सी ब्राउन का समर्थन—भुवनेश्वर-मण्डल)। अब आइये प्रकृत की ओर।

भौमिक विमानों के सम्बन्ध में वास्तु-कला की दृष्टि से हम निम्नलिखित तीन घटकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं :—

अ—विमान प्रासाद की प्रमुख विशेषता भूमिकायें है—ये भूमिकायें एक-भूमि से ले कर द्वादश-भूमियों तक साधारण विन्यास है।

ब—प्रत्येक भूमि पर क्षुद्र-विमान अथवा हर्म्य अथवा अल्प-विमान उत्थित होता है।

स—प्रत्येक भूमि-भित्ति संवृत होती है, जो अल्प-प्रासादों में घिरी हुई होती है।

इस प्रकार नाना भूमियों और उनके सम्भार-बाहुल्यों का जब एकाकार प्रस्तुत होता है तो यह आकार पैरेमिड का रूप धारण करता है। इसीलिये दक्षिण के प्रासादों को Paramidal Form के रूप में विभावित किया गया है, और यह आकार किसी भी दाक्षिणात्य प्रसिद्ध प्रासाद पीठ देखें जैसे तंजौर (बृहदीश्वर), मदुरा (मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर), रामेश्वर आदि आदि उन पर यही आभा निभालनीय है।

जहां शिखरोत्तम प्रासादों का सर्वोच्च अलंकरण आमलक है वहां इन भौमिक-विमानों पर स्तूपिका ही सर्वातिशयिनी विशेषता है। अब हमें एक महान् ऐतिहासिक क्रान्ति की ओर भी जाना है। हम सहमत हैं कि उत्तर भारत में जो सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एवं कलात्मक स्वर्णिम-युग का जन्म

गुप्त-काल में प्रारम्भ हुआ, वैसा ही प्रोल्लास दक्षिण-भारत में पल्लवों के काल में प्रारम्भ हुआ। जहां पर उत्तर भारत में इस सांस्कृतिक विकास का श्रेय पुराणों को है जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भव्य धारा को बहाकर इस आवर्त को पुनीत कर दिया था, उसी प्रकार यह दक्षिण भारत भी इसी धारा के अनुरूप अपनी विशेषता से विकसित हुआ। यह बहुत पुरानी कथा है कि महामुनि अगस्त्य ने ही दक्षिण भारत को आर्य-सभ्यता से आक्रान्त किया था। तथापि इस देश की मौलिक भित्ति का यदि हम मूल्यांकन नहीं करते तो यह समीक्षा अधूरी रह जाती है। जहां उत्तर भारत में पौराणिक धर्म का साम्राज्य था तो दाक्षिणात्यों ने अपने पुराण आगमों की संज्ञा से रचे, जिनमें शिव का ही माहात्म्य था। जिस प्रकार भगवान् विष्णु का आधिराज्य उत्तर में था, उसी प्रकार शिव का आधिराज्य दक्षिण में था। परन्तु इस महादेश की सांस्कृतिक, धार्मिक, एवं कलात्मक प्रगतियों की एकता के लिये हमारे संतों ने महान् योगदान दिया। एक समय था कि वैष्णवों एवं शैवों में एक महान् संघर्ष उपस्थित हो गया था। अतः इसको दूर करने के लिये दक्षिण के तामिल नयनार तथा अलवार संतों ने तामिल भाषा में एक सार्वजनिक भक्ति धारा का प्रसार कर दिया जिसमें शिव और विष्णु दोनों की गाथा गाई गई। इन्होंने तामिल-पुराणों की रचना की। भारतीय ऋषियों, महर्षियों, संतों, महन्तों की इस विशाल बुद्धि को हम विस्मृत नहीं कर सकते। सब से बड़ी देन समन्वय-विचारधारा (synthetic and syncristic movement) थी जिसके द्वारा तथाकथित घोर विरोधी धर्म अर्थात् बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक महात्मा बुद्ध को यहां के महापण्डितों ने विष्णु के दशमावतार में परिगणित कर बौद्ध-धर्म को यहां से एक-मात्र निकाल कर आत्मसात कर लिया तो फिर इस क्षुद्र वैष्णव-शैव-विरोध एक क्षण में इन लोगों ने दूर कर दिया। अतएव क्या उत्तरापथ क्या दक्षिणापथ सर्वत्र ही शिव एवं विष्णु दोनों की पूरी २ महिमा, गरिमा निखर उठी। अस्तु इस समीक्षा के बाद अब हम इस दाक्षिणात्य-प्रासाद कला को निम्नलिखित अष्ठवर्गों में विभाजित करते हैं।

दक्षिण-कला के विकास में निम्नलिखित सात राज-कुलों की वरेण्य सनाथ्यता एवं वरिष्ठ प्रासाद-कला संरक्षण प्रस्तावनीय :—

१. चालुक्य-नरेश (४५०, १०५०—१३००)

२ पल्लव राजवंश (६००-६००)

३ चोल राजवंश (६००-११५०)

४. पाण्ड्य-नरेश (११००-१३५०)

५ होयसल-नरेश (१०५०—१३००)

६ राष्ट्रकूट-वंश

७. विजयनगर-नरेश (१३५०-१५६५)

८. मदुरा-नायक-राजा (१६००)

टि० चूंकि चालुक्य-काल तीन कालों में विभाज्य है, अतः इन तीनों कालों को एक ही साथ ले सकेंगे—दे० चोलों के बाद ।

पल्लव-राजवंशीय-प्रासाद-स्थापत्य-इतिहास

चालुक्य-प्रासाद-कला—टि० इस पर हम आगे चालुक्यों के तीनों कालों को एक साथ रखेंगे अतः पल्लवों से प्रारम्भ करते हैं।

द्राविड़ देश में द्राविड़ी शैली के विकास में पल्लव-राजवंश के संरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओं के अनन्तर द्राविड़ देश की राज-सत्ता पल्लवों के हाथ में आई और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राज सत्ता का सीमा-प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कलाकृतियों की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र में इनके राज-पीठ कंजीवरम् (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तंजौर तथा पुडुक्कोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशों तक पहुँचा।

इस काल के पल्लव राजवंश में चार प्रधान नरेश हुए, जिनके नाम पर पल्लवों की वास्तु-कृतियों के भी चार वर्ग किये गये हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन चारो वर्गों को वास्तव में वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है—प्रथम में आपूर्ण पावत वास्तु (Wholly Rock-cut) के निदर्शन तथा द्वितीय में आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly Structural) के निदर्शन आपतित होते हैं। यहां पर पूर्व-सकतित चार राजाओं के कालक्रमानुसार वर्ग निम्नलिखित चार विभाजनीय हैं

१—महेन्द्र-मण्डल (६१० ६४०) मण्डप-निर्माण—पावत-वास्तु

२—मामल्ल-मण्डल (६४०-६६०) विमानों एवं रथों का निर्माण

३—राजसिंह-मण्डल (६६०-८००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट वास्तु

४—नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-९००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट-वास्तु

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतियां मण्डगपट्टु, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम्, मोगलाजुंनपुरम् आदि नाना स्थानों पर फैली हुई हैं। द्वितीय

वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहा के सप्त-रथ (Seven Pagodas) की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथो का सकीर्तन पञ्च पाण्डवो और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, सहदेव, गणेश आदि।

तृतीय वर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहा-मन्दिरो के तक्षण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानो एव प्रासादो की ओर मुड़ते हैं। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था, जिसके काल मे मामल्लपुरम् पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मुकुन्द। पनमलाई (S. Arcot Distt.) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरूमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन है।

चतुर्थ वर्ग पल्लव-राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल मे विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव एव साहित्य-वैभव राज सत्ता के वैभव की निशानी है। अत: जब राज-सत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीन होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग मे प्रमुख निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातगेश्वर, चिंगलपट मे ओरगदम् के वदमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडीमल्लम् क परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

अन्त म पल्लवो की इस महादेन में सर्वप्रथम विशेषता का प्रारम्भ गोपुर-विन्यास, मडप-विन्यास, अन्तारिका (Circum-ambulatory passage) विशेष उल्लेखनीय हैं। पल्लव-प्रासादो में कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पैरुमल विशेष उल्लेखनीय हैं जो इन गरिमाओ का निदेशन प्रस्तुत करते हैं।

चोल-राजवंश में प्रोत्थित प्रासाद-कला

चोलों का युग दक्षिण भारत में मध्यकालीन स्वर्णिम युग के नाम से उद्घोषित किया जा सकता है। इसी युग में मन्दिर-नगर विनिर्मित हुये। चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंग विमान-प्रासाद विकसित हुये। चोलों के राज्य में हीं दक्षिण के उत्तुंगातितुंग विमान जैसे बृहदेश्वर, राज-राजेश्वर विनिर्मित हुये। साथ ही साथ पहले के मन्दिर-पीठों पर विभिन्न निर्मितियों से उनका विस्तार किया गया। आगे पाण्ड्यों की भी यही विशेषता हम देखेंगे। इस प्रकार चोलों को ही श्रेय है कि यह दाक्षिणात्य कला इस प्रकार से पूर्ण रूप से विकसित एवं स्थापित हो गई। सबसे बड़ी विशेषता प्रासाद-निवेश में प्राकारों का विन्यास, गोपुरों का विनिवेश, तडागों की स्थापना, नट-मडपों, व्याल-मडपों, कल्याण-मडपों तथा परिवार-मन्दिरों जैसे उमा-पार्वती, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय तथा गणेश (अर्थात् शिव मन्दिरों में) विस्तार किया गया।

इस विस्तार के अतिरिक्त शैली में भी अतिरंजन और विच्छित्ति-वैभव भी प्रोल्लसित हो गया। सिंह-शार्दूल-चित्रणों से भूषित स्तम्भ-पट्टिकाएँ, वर्तुल विमानाकृति, भूमि-विस्तार विशेष उल्लेख्य हैं। सभा-भवन, उपचार-भवन, आदि-आदि ने जो प्रासाद-प्रतिमा को राजोचित उपचारों एवं सम्भारों से भूषित कर दिया वह भी इसी काल की विशेषता है। चोलों के ही समय में गोपुरों की आभा प्रासादों से बढ़ गई। गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद जैसे के तैसे बने परन्तु गोपुर विशेष स्थापत्य कौशल एवं रचना एवं विच्छित्तियों में खूब बढ़ गये। चिदम्बरम् तथा त्रिवेन्द्रम के पद्मनाभ स्वामी के गोपुरों का मूल्यांकन आज भी हम उसी दृष्टि से कर सकते हैं। चोलों के राज्य-काल की प्रभुता लगभग १५० वर्ष (६००-११५०) तक रही और इसी काल में विशेषकर उत्तर चोल-काल में लगभग १०० मन्दिरों का निर्माण हुआ। चोलों के आधिराज्य में लगभग ३० मन्दिर-नगरियों की प्रसिद्धि हो गई जो कन्याकुमारी से लेकर कृष्णा नदी के अधरोत्तर भाग तक फैले हुए थे। इनमें प्रसिद्ध मन्दिरों की विशेष प्रस्तावना प्रस्तुत करेंगे।

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता-संघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में

पल्लवो चोलो, चालुक्यो, पाण्ड्यो एव राष्ट्रकूटो—सभी ने इस काल (९००-११५०) मे अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामत चोलो क प्रभुता-सघर्ष मे विजय-श्री ने उन्हे ही वरा।

चोलो की प्रासाद-कला को दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र-कृतिया तथा बृहत्तर विशाल-कृतिया। यत अपने शासन-काल के प्रभात मे वे राज्य की दृढता, सुरक्षा एव सीमा-विस्तार मे लगे रहे, अत १०वी शताब्दी की कृतिया पुड्डकोट्टाई के इतस्तत विनिर्मित हुई जिन्हे क्षुद्र कृतियो क रूप म ही परिणत किया जा सकता है। इनमे निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं:

क्षुद्र कृतिया

प्रासाद	पीठ	प्रासाद	पीठ
सुन्दरेश्वर	तिरूक्ट्टलाई	मुचुकुन्देश्वर	कोलट्टूर
विजयलय	नरतमलाई	कदम्बर	कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)
मुवरकोइल (त्रि-आयतन)	कोडुम्बेलुर	बालसुब्रह्मण्य	कन्नौर

इसी प्रकार चोलो की अन्य कृतिया सुदूर दक्षिण अरकाट जिले मे भी पाई जाती है। ये सभी कृतिया १०वी शताब्दी की है।

विशाल कृतिया

चोलो की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतिया चोला के बृहत्तर एव विशाल राज्य-विस्तार एवं महान् ऐश्वर्य के प्रतीक है। य है—तञ्जौर का बृहदीश्वर-मन्दिर तथा गगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद-कारक यजमान महामहीपति राजाधिराज राजराज (९८५ १०१८) है, जिसन अपनी अपार धनराशि एव लोकोत्तर वैभव को देवचरणो मे समर्पित करने के लिए यह महा-अनुष्ठान ठाना। ऊचाई मे और अकार म दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एव अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। द्वितीय अर्थात् गगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८-१०३०) सम्भवत अपने पूर्वज से प्रतिस्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलो की अनुपम कृतियो म भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली क उत्पादन की पराकाष्ठा पहुच गयी। यद्यपि सख्या कम है परन्तु गुणातिरेक स चोला का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड-यनरेशों के युग में विमान-वास्तु में नई आकृतियों तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००-१३५०)

चोलों की राज्य-सत्ता के बाद दक्षिण भारत में पाण्ड्यों की प्रभुता का आविर्भाव हो गया। पाण्ड्य नरेशों की भावना विशेषकर पौराणिक पूर्त-धर्म की ओर अग्रसर हुई। इन्होंने नवीन प्रासाद-विमानों की रचना के प्रति विशेष अभिनिवेश न देकर पूर्त-धर्म के अन्तर्गत जीर्णोद्धार-व्यवस्था के लिए सर्व-प्रथम नेता बने। साथ ही साथ इन नरेशों ने दाक्षिणात्य वास्तु में जो चोलों ने विस्तार-पद्धति अर्थात् गोपुरों और प्राकारों के निवेश का श्रीगणेश किया था, उनको इन्होंने और भी महती आस्था और वदान्यता के साथ इस अग को और भी आगे बढाया। प्रसिद्ध मन्दिर-नगरों के सम्बन्ध में हम कुछ पहले ही संकेत कर चुके हैं, परन्तु पाण्ड्यों ने वास्तव में बडी बुद्धिमत्ता से ढहे हुवे इतस्ततः विकीर्ण नाना क्षेत्रों में मन्दिरों का जीर्णोद्धार प्रारम्भ कर दिया और साथ ही साथ इन पवित्र धामों और पीठों पर प्राकारों और गोपुरों की नवीन रचनाएं प्रारम्भ कर दी।

पाण्ड्य राजाओं के काल में प्रासाद-कला में एक अभिनय कला-कृति का उदय हुआ। पीछे के अध्याय में मन्दिरों को हम तीर्थ-स्थानों के रूप में देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू संस्कृति का पौराणिक विलास है। अब जो भी मन्दिर बन गये, जहां कहीं भी देव-स्थान प्रकल्पित हो चुका वह सदा सर्वदा के लिए पूज्य बन गया। अतः वास्तु-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरों के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं पूर्त-व्यवस्था को प्रश्रय देते रहे। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य राजाओं के समय में चोलों के विशाल विमानों की रचना नहीं हुई और चोलों के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तामिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्सन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय

दाक्षिणात्य वास्तु कला में एक अभिनव वास्तु-चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरों का प्राकार विन्यास तथा मन्दिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुंग गोपुरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छित्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी जैसे कञ्जीवरम् के कैलाशनाथ-मन्दिर, तथापि यह परम्परा पूर्ण रूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वविनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर वास्तु-कला की सविस्तर समीक्षा का यहां पर अवसर नहीं है। पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दारासुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

यहां पर कतिपय पाण्ड्य गोपुर-विन्यासों का समुल्लेखन आवश्यक है। चिदम्बरम् का सुन्दर पाण्ड्य गोपुरम्, तिरूवन्नमलाई, कुम्भकोणम्, श्रीरंगम्, तथा जम्बुकेश्वरम् इन प्रासाद-पीठों पर गोपुरों की रचना का श्रेय पाण्ड्यों को है। तञ्जोर के, दारासुरम् के प्रसिद्ध मन्दिर पर जिस गोपुर का निर्माण इन्हों ने कराया वह दाक्षिणात्य कला की दृष्टि से बड़ा ही उत्कृष्ट माना जा सकता है और यही रचना आगे चलकर विजयनगरम् की प्रासाद-कला का घटक बन गया। दक्षिण भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध मदुरा-स्थित मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर पाण्ड्यों की प्रमुख देन है। जब मुसलमानों ने १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस मन्दिर की महिमा को नष्ट कर दी तो पुनः आगे चलकर तिरुमलाई नायकों ने १७ वीं शताब्दी में महान् सम्भार के साथ जीर्णोद्धार के द्वारा जो इसकी पुनः प्रतिष्ठा की और नाना रचनाओं की योजना की इससे यह मन्दिर दक्षिण का सर्वप्रख्यात प्रासाद-पीठ बन गया। त्रिभुवनम् पर स्थित रंगनाथ पल्लि-वन्नमल नामक रंगनाथ-मन्दिर भी पाण्ड्यों की ही देन है।

चालुक्य-नरेशों के राज्य-काल में प्रोल्लसित प्रासादों की समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि चालुक्यों की प्रासाद-रचना दक्षिण भारत में सर्वप्रथम गति थी, परन्तु दक्षिण-भारत के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं कि चालुक्य-नरेशों के तीन राज्यकाल माने जाते हैं—पूर्ववर्ती (Early), परवर्ती (Later) तथा पश्चिमीय (Westrn)। अतः हमने इस ग्रन्थ में चालुक्यों के तीनों कालों में जो प्रासाद-कला विकसित हुई, प्रवृद्ध हुई—इसकी समीक्षा इसी एक स्तम्भ में करना विशेष उचित माना है।

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तु-कला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी, वैसी ही उसी काल में (४५०-६५० तथा ६००-७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य-नरेशों के संरक्षण में यह कला दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल बादामी (वातापि) तथा पट्टदकल—इन तीन चालुक्य-राज-पीठों पर नाना देवायतनों, विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ। इन प्राचीन राज-पीठों पर वास्तु पीठों का जो विकास हुआ, उनमें उत्तरापथीय तथा दाक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुपगिक क्रम देखने को मिलेगा। पापनाथ जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (ये उत्तर-शैली में) तथा सङ्गमेश्वर विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुन्मेश्वर आदि (दाक्षिणात्य वास्तु-शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इस अत्यन्त स्थूल उपोद्घात के बाद, अब हमें पाठकों का ध्यान भी आकर्षित करना है कि पूर्ववर्णीय चालुक्य कर्नाटक के माण्डलिक नरेश थे। छठी शताब्दी में पुलकेशिन प्रथम सत्याश्रय ने अपने को कर्नाटक राज्य-सत्ता से स्वाधीन घोषित कर दिया और आयोहल की राजधानी से वातापि (बादामी) पर अपनी राजधानी स्थापित कर दी। यह एक प्रकार से पार्वत्य उपत्यका थी अतः यह किलाबन्दी से सुदृढ़ हो गई थी। पूर्व-वर्णन के अनुसार जब चालुक्यों की राज सत्ता में तीन अवान्तर विस्फोट और प्रस्फोट हुये तो उनकी कला कृतियों की धाराएं भी अपने आप प्रादुर्भूत हो गईं। अतः चालुक्यों की राजधानियाँ तीन थीं—आयहोल, बादामी तथा पट्टदकल। और इन

तीनों पीठों पर नाना मन्दिरों की रचना हुई । अत हम इन चालुक्य प्रासादों की कृतियों का हम निम्नलिखित तीन वर्गों में पीठानुसार वर्णित करेंगे :

१. ऐयोहल मडल

यहा पर पर विशेषकर शिव-मन्दिरों में जो प्रासाद बने है, उनको आधुनिक वास्तु-लेखकों ने बौद्ध विहारों के रूप में मूल्याकन किया है । यह धारणा भ्रान्त है कि शिल्प-शास्त्रों म विशेषकर समरागण-सूत्रधार मे जो नाना प्रासाद-जातियों का उल्लेख है, उनमे सर्वप्रथम स्थान छाद्य-प्रासाद तथा सभामडप-प्रासाद की जाति-सकीर्तन प्राप्त होता है अत मेरी दृष्टि मे ये प्रासाद बौद्ध-विहार के क्रोड मे कवलित नही किये जा सकते है। ऐयोहल का सर्व-प्रथित मन्दिर दुर्गा-मन्दिर है जिसको हम सभा-मडप-प्रासाद के रूप में ले सकते हैं। हम पहले भी यह कह चुके है कि ब्राह्मण-वास्तु और बौद्ध वास्तु एक ही मूल की शाखाएँ हैं अतः यदि हम इसे चैत्य-मडप, सभा-मण्डप के रूप में कहें तो भी अनुचित नही । विहार, छाद्य-प्रासाद, चैत्य, सभा-मडप सब एक ही हैं। हम यहा पर यह भी कहना चाहते है कि इस दुर्गा-मन्दिर का तक्षण-कौशल पूर्ववर्गीय गुप्त-नरेशों की कला का पूर्ण प्रतिबिम्बन ही नही करते बल्कि अनुपम भी प्रस्तुत करते है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त हुच्चीमल्ली-गुड्डी तथा नागनाथ मन्दिर भी एक नया युग उपस्थित करते है। ये यहा पर नागर एव द्राविड शैलियों का सगम उपस्थित करते है। इन मन्दिरो म शिखरोत्तम प्रासाद तथा भौमिक विमाना दोनो का श्रीगणेश यही से प्रारम्भ माना जा सकता है । ऐयोहल पर स्थित गुटी-नामक जैन मन्दिर नागर-शैली का पूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है ।

२ वातापि (वादामी) मण्डल

चालुक्य नरेशों की यह दूसरी राजधानी है । इसका प्राकृतिक वाता-वरण बडा ही आकर्षक है । साथ ही साथ पार्वत्य प्राकारो के द्वारा यह एक प्रकार से बडी सुदृढ नगरी थी। इस राजधानी में उपत्यकाओं एव शिखरो दोनो पर मन्दिर प्रोथित हुए । अजन्ता के लयन-प्रासादो (गुहा-मन्दिरो) के समान यह भी छटा प्रस्तुत करता है । इन मन्दिरो म दो मन्दिर शिवालय हैं। इन मे सर्वोच्च शिव-मन्दिर स्थापत्य एव तक्षण दोनो दृष्टियों मे बडा ही अनुपम प्रासाद माना जा सकता है । यहा पर शिल्प एव चित्र दोनों के

स्वर्गीय आधिराज्य मे महती आभा से यह दीप्यमान बन गया है। विष्णु की एक बहुत बृहदाकार मूर्ति देखने योग्य है। सुन्दरी देवियो के चित्र भी तथा दीवालो पर विमुग्धकारी चित्र तथा प्रासाद-स्तम्भ एव पट्टिकाएं भी दर्शनीय है।

चित्रकला का सवप्रथम निदर्शन प्राचीन प्रासादो मे यही एक स्थान है। इन तीनो मन्दिरो व कृतित्व और मन्दिर आधुनिक विद्वानो ने स्वतन्त्र संस्थान माने है विशेषकर मैलेगिही शिवालय— इसका निदर्शन प्रस्तुत करता है। हमने अपने अनुसन्धानात्मक एव गवेषणात्मक ग्रन्थो मे विद्वानो के सामने यह पहिला उन्मेष रक्खा है कि नागर-कला मे प्रोदित शिखरोत्तम प्रासादो के विन्यास का श्रेय इसी स्थान को है अतएव उस पीठ पर गुप्त एव पल्लव दोनो की स्थापत्य विशेषता दृष्टव्य है। यहा पर नटराज शिव के चित्रण भी प्राप्त होते है जो पल्लवो का प्रभाव माना जा सकता है।

३ पट्टदकल मण्डल

चालुक्यो की यह तीसरी राजधानी है और दक्षिण मे इसे पवित्र तीर्थ भी मानते है। यहा पर अनेक मन्दिर निर्मित हुवे। ७वी शताब्दी मे शैवो और वैष्णवो का घोर सघर्ष उठ खडा था। जहा उत्तर मे विष्णु-महिमा वहा दक्षिण मे शिव-महिमा थी। इसी सघर्ष-युग मे इसी राजधानी पर जो विष्णु-मन्दिर था उसको शिव-पापानाथ के रूप मे पुनर्प्रतिष्ठा के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया और साथ ही साथ षोडश-स्तम्भ सभा-मडप का निर्माण कराया गया।

इन मन्दिरो के अतिरिक्त विजयश्वर (आजकल सगमश्वर), लोकश्वर (आजकल विरूपाक्ष) तथा त्रैलोकेश्वर (आजकल मल्लिकार्जुन) यह सब पल्लवो का ही प्रभाव था।

एलौरा —चालुक्यो के स्थापत्य की इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हम एलौरा को नही भुला सकते। एलौरा का कैलाश काञ्ची के कैलाश नाथ का ही एक प्रकार का विस्तार है जो इसको हम अपनी शिल्पपरिभाषा मे लयन और गुहाधर से आगे बढकर गुहराज प्रासाद के रूप मे विभावित कर सकते है।

पश्चिमीय चालुक्य —इन विवरणो से पूर्ववर्तीय और परवर्तीय चालुक्यो की देन का मूल्याकन कर सकते है। परन्तु यह समीक्षा पूरी नही हो सकती,

जब तक हम पश्चिमी चालुक्यों को इस स्तम्भ में नहीं लाते हैं। तैल द्वितीय, जिसने राष्ट्र-कूटों का सर्वनाश किया था, उसी ने पुन बादमी के चालुक्यो की वश-परम्परा का पुनरुत्थान किया। यद्यपि इन पश्चिमी चालुक्यों का (९७३-१२००) आधिराज्य न तो बहुत दिन तक रहा और न बहुत बड़े क्षेत्र पर फैल सका तथापि इनकी देन बहुत बड़ी थी। दक्षिण का मध्यकालीन स्थापत्य इन्ही की वदान्यता का प्रतिफल है। साथ ही साथ शैली में भी कुछ नई उपचेतनाएँ हुई। इन चालुक्यों के मन्दिर लगभग सौ संख्या में कृष्णा, तुगभद्रा तथा भीमा इन तीनो नदियो की उच्च उपत्यकाओं में ही फैली हुई हैं। इनमें निम्नलिखित निदर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं —

	स्थान	संज्ञा
१	कुक्कनूर	कल्लेश्वर
२	लखुन्डी	काशीविश्वेश्वर
३	लखुन्डी	जैन-मन्दिर
४	हवेरी	सिद्धेश्वर
५	हगल	तारकेश्वर
६	बाकापुर	अरवहुखम्बद
७	इट्टगी	महादेव
८	दम्बल	दोदावसप्पा
९	कुरुवट्टी	मल्लिकार्जुन
१०	गडग	सोमेश्वर

होयसाल नरेशों की देन

आधुनिक लेखको ने होयसालो और राष्ट्र-कूटो को एक प्रकार से भुला दिया। जिस प्रकार दक्षिण-नरेशो मे इनकी विशेष गणना नही जहा तक प्रासाद-कला की बात है, उसी प्रकार उत्तर म प्रतीहारो तथा कान्य-कुब्ज-नरेशो का भी मूल्याकन नही हुआ। अतएव हम इस ग्रन्थ मे इन राज-वशो को लाकर अपना ऋण चुकाना चाहते है। ये होयसाल नरेश मैसूर मडल से सम्बन्ध रखते हैं। ११वी शताब्दी म ये स्वतन्त्र हो गये और अपनी राजधानी को इसी स्थान पर स्थापित किया जो १०२२-१३४२ तक चलती रही। यह काल एक प्रकार से महती उद्दाम-विचार-धारा का प्रतीक बन गया। इसी काल मे सामाजिक और धार्मिक दोनो प्रकार के सुधार (Reforms) का उपदेश किया गया। इन उपदेशको मे विशेषकर *कीर्तनीय हैं—शैवो म लिंगायत और वैष्णवो मे रामानुज, माधव और*, नम्बार्क।

जहा उत्तर भारत म नागरी शैली मे अलकृति-प्रमुख शैली को जन्म देन का श्रेय गुर्जरो को है तथा इसी शैली म प्रोल्लसित प्रासादो को लाट-प्रासादो के नाम से पुकारते है उसी प्रकार दक्षिण म इन होयसालो ने इसी प्रकार के अलकृति-पूर्ण विस्तार-प्रस्तार-बाहुल्य विमानो का निर्माण कराया। अतः इस विस्तार-माला की निम्न स्वल्पा-सूची प्रस्तुत करते हैं —

बलि-मण्डप	महामण्डप वा अन्तराल
शुकनासी	सम्मुखीन स्तम्भबहुल अर्ध-मण्डप
नवरग	पूजा-सभा-भवन
सन्निधि	बृहन् मन्दिर
महाद्वार	*गोपुर*
यज्ञ-शाला	
वाहन-मण्डप	नन्दी, गरुड़ आदि देव-वाहनो के मण्डप
कोष्ठागार	
पाक-शाला	

कूट एव कोष्ठ, पञ्जर, पुष्प-बोधिका दे० वा० शि० प०

राष्ट्रकूटों की महती अभिख्या

राष्ट्रकूटो की राजधानी एलौरा अथवा इलापुर जगद्-विख्यात है। इनकी सर्वोत्तम कृति (master piece) एलोरा का कैलाश-मन्दिर है। यह स्थान तत्कालीन विभिन्न धर्मों का संगम-स्थान था जहा पर ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध सभी के मन्दिर बने। राष्ट्र-कूटो का यह श्रेय बडा ही उत्कृष्ट है। प्रसिद्ध जर्मन के लेखक हर्मान गोट्स का आकूत है कि दीचपल्ली, बोधन तथा सन्दूर ये मन्दिर-पीठ राष्ट्रकूटों की ही देन है, जहा पर यह शैली पश्चिमीय चालुक्यों से ही प्रभावित हुई है।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प सकीर्तन के उपरान्त महामहिमामयी स्थापत्य-गरिमा के प्रतीक ऐलोरा-गुहाधर-मन्दिरो की निम्न तालिका प्रस्तुत करते हैं। यहा जैसा सवेत है सभी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं :—

मंदिर		संज्ञा
१ विहार	(बौद्ध)	घेरावारा
२ सभा-भवन	,,	
३ विहार	,,	
४-८ ,,	,,	महारावाड़ा
९ विहार-मवृत	,,	
१० चैत्य-सभा-भवन	,,	विश्वकर्मा
११-१२ विहार	,,	दो थाल तीन थाल
१३ क्षुद्र सभा-भवन	ब्राह्मण	
१४ मन्दिर	,,	रावण की खाई
१५ ,,	,,	दशावतार
१६ ,,	,,	कैलाश
२१ ,,	,,	रामेश्वर
२५ ,,	,,	कुम्भारवाड़ा
२७ ,,	,,	ग्वालिनी गुहा
२९ ,,	,,	डूमारलेन (सीता नहनी)
३३ ,,	जैन	इन्द्र-सभा जगन्नाथ सभा
,,	,,	

विजय--नगर

जहा पूव मध्यकाल में चालुक्यो उत्तर का मध्य-काल में चोलो का प्रासाद-निवेश में गहरा योगदान था, उसी प्रकार विजयनगर साम्राज्य ने भारतीय-स्थापत्य में एक नया जागरण प्रादुर्भूत कर दिया। गोट्ज महोदय की निम्न लिखित समीक्षा मेरी दृष्टि में ठीक ही है—

'Of no other period of India's past we know so many, so impressive and so richly decorated temples, halls, enclosures, gateways, votive images in stone and bronze murals etc"

राज-हर्म्य एव देव प्रासाद दोनों ही उत्तुग शिखर पर विराजमान हो गये हैं। जिस प्रकार से राजा के लिए नाना-उपचारोचित, विलासोचित तथा वासोचित नाना उपकरण अनिवार्य थे उसी प्रकार मन्दिर की देवता के लिए भी इसी प्रकार के सम्भार अनिवार्य हो गये। विजयनगर की सत्ता से दाक्षिणात्य स्थापत्य कला एक प्रकार से मनोरम-कला (Fine Art) बन गई। हमारे शिल्प-शास्त्र में वास्तु, शिल्प और चित्र, सगीत तथा काव्य के समान ही मनोरम कला मानी गई हैं। विजय-नगरीय मन्दिरो मे कल्पना, कविता तथा नृत्य तीनो मिलकर एक नई स्फूर्ति, नवीन चेतना, नवीनतम उद्भावनाओ का प्रारम्भ करते है। इन मन्दिरो मे *कल्याण मडप प्रथम उपन्यास है।* विजयनगर इस प्रसिद्ध नगर के भौमिक विमानो और प्रासादो का निम्नलिखित सूची प्रस्तुत करते हैं —

१ विट्ठलस्वामिन
२ हजराराम
३ हजराकृष्ण
४ पट्टाभिरामस्वामी
५ पम्पापति

इस शैली मे निर्मित अन्य मन्दिर-पीठो की सूची है—वेल्लूर, तिरूपती, लेपाक्षी अथवा काञ्ची, ताडपत्री तथा श्रीशैलम्। काची के एकाम्रेश्वर का दक्षिण गोपुर, ताडपत्री का कल्याण-मडप, श्रीशैलम् का मल्लिकार्जुन—ये सब नवीन निर्मितियों मे विभाव्य हैं।

—•—

मदुरा के नायकों का चरमोत्कर्ष

मदुरा दक्षिण भारत के स्थापत्य का चरमोत्कर्ष माना जाता है। इस १६ वीं शताब्दी के बाद इस प्रदेश पर नायकों का आधिराज्य चमक उठा। मदुरा के तथा अन्य पीठों जैसे श्रीरंगम्, त्रिचनापल्ली आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिर सब नायकों की ही देन है। हा मदुरा शैली एक प्रकार से पाड्यों की शैली का पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण करती है।

मयाचार्य ने मयमत की रचना बहुत पुराने समय में की थी। मयमत की प्रासाद परिभाषा में न केवल गर्भ-गृह एक-मात्र प्रासाद है वरन् मंडप, प्रपा, शाला, रंगमण्डप, प्राकार गोपुर भी इसी परिभाषा में लाये गये हैं। अतः यह परिभाषा वास्तव में १७ वीं शताब्दी में ही पूर्ण रूप से आदर्श बनी। मदुरा शैली में विनिर्मित मन्दिरों में सर्वप्रमुख विशेषताऐं गोपुर, मडप और प्राकार हैं। मदुरा के मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मन्दिर की ओर मुड़ें तो सबसे बड़ी आभा गोपुरों की छटा है। सर्वोत्कृष्ट विन्यास मडपों का, सर्व-प्रकृष्ट विन्यास प्राकारों का और ये ही बीज अन्य इसी काल में उत्थित प्रासाद-विमानों की सुषुमा हैं। यहां पर एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि मन्दिरों का निर्माण तथा मूर्तियों की स्थापना तथा जलाशयों का निर्माण—ये सब प्रतिष्ठा तथा उत्सर्ग—पौराणिक पूर्त धर्म का ही विलास है। जहां महाराजाओं अधिराजाओं, माडलिकों आदि ने मन्दिर-निर्माण में महान् योग-दान दिया वहां जनता भी पीछे नहीं हटी। इन नाना मन्दिर-पीठों पर अनेक परिवारों तथा धार्मिक लोगों ने अपने अपने नाम से नाना मडपों की रचना कराई, जलाशय बनवाये। कोई मडप सहस्र मडप है अर्थात् हजार खम्भों वाला कोई शतमडप है अर्थात् सौ खम्भों वाला। इन्हीं विन्यासों से दक्षिण भारत में इसी काल में ये मन्दिर नगर बन गये। अन्त में हम एतत्कालीन मदुरा शैली में निर्मित लगभग ३० मन्दिरों की सूची में निम्नलिखित प्रमुख मन्दिरों की अवतारणा करते हैं—

स्थान	सज्ञा
मदुरा	मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर तथा सहस्रमण्डप
२—श्रीरंगम् मन्दिर	अनन्तशायी नारायण (रंगनाथ)
३-४—जम्बुकेश्वर तथा चिदम्बरम्	८—तिरुवन्नमलाई
५—तिरुवरुर	६—श्रीविल्लीपुतुर
६—रामेश्वरम्	१०—वरदराज पेरुमल (काञ्ची)
७—तिन्नेवेल्ली	११—कुम्भ-कोणम् (रामस्वामी)

उत्तरापथीय प्रासाद

नागर-प्रासाद

तथा

लाट-प्रासाद

१ केसरी एव गाङ्ग राजाओ का श्रेय - उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) —भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी ,

२ प्रतिहारो खूर्जरो एव चदेलो की देन बुन्देल खण्ड, बघेल खण्ड ,

३ कलचुरिया एव परमारो की वदान्यता —मध्यभारत एव राज्यस्थान एव उदयपुर ग्वालियर आदि,

४ सोल की राजवश का परम अभियान —गुजरात (लाट) तथा काठियावाड

५ हेमदपन्त के द्वारा प्रोल्लसित प्रासाद सुदूर दक्षिण — (खान देश)

६ साधारणजनो की भावना मे मथुरा-वृन्दावन —प्रोल्लास

उत्तर भारत—उत्तरापथीय महाविशाल प्रसाद-क्षेत्र की ओर

उपोद्घातः—सर्व-प्रथम एक बडी गहन गवेषणात्मक मीमासा यह करनी है कि उत्तरापथ की स्थापत्य शैली, जिसको नागर शैली के रूप मे विभावित किया गया है, उसका जन्म, विकास कैसे प्रादुर्भाव हुआ ? पुरातत्वीय अन्वेषणो मे प्राप्त सामग्री के आधार पर भारतीय स्थापत्य-कला मे सर्वप्राचीन तथा सर्वप्रमुख निदर्शन भीटर गाव का मदिर माना जाता है। इस मन्दिर का निर्माण ईसवीय शताब्दी के प्रारम्भ म निर्मित माना जाता है। यह मन्दिर ऐष्टिक वास्तु का सर्वप्रचीन निदर्शन है। यह प्रारम्भ एक-मात्र इसी क्षेत्र म सीमित नही। अतः उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास म निम्नलिखित तीन क्षेत्र विशेष माने जाते है—

अ—भीटर गाव—उत्तर-प्रदेश कानपुर तथा निकटीय क्षेत्र,

ब—सीरपुर तथा खरोद (जिला रायपुर) मध्यप्रदेश,

स—तेर — शोलापुर (महाराष्ट्र) के निकटीय।

भीटर गाव का मन्दिर—पाचवी शताब्दी म निर्मित माना गया है और इसे एक अत्यन्त विलक्षण एव प्रकृष्ट शैली मे एकमात्र निदर्शन प्रकल्पित किया गया है। पुरातत्वीय दृष्टि से नागर-शैली का यह प्रथम निदर्शन है।

उत्तरापथीय स्थापत्य-कला के विकास का प्रथम श्रेय गुप्त नरेशो को दिया गया है परन्तु गुप्तो के स्वर्णिम समृद्ध काल मे प्रोल्लसित प्रासाद-कला की समीक्षा के समक्ष हमे एक यथापूर्व-सकेतित विषय की समीक्षा भी करना आवश्यक है। यह नागर-शैली मे विशिष्ट विकास-परम्परा अर्थात् शिखरोतम-प्रासाद का कैसे जन्म हुआ और किस को श्रेय है। आधुनिक विद्वानो ने गुप्तो और पल्लवो को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की क्रमश प्रासाद-कला के उन्नायक-प्रतिष्ठापक माने जाते है। जिस प्रकार उत्तर मे गुप्तो की नई

अवतारणा, नये आविर्भाव (new emergences)। उसी प्रकार दक्षिण मे पल्लवो के द्वारा इन्ही अवतारणाओ के अविर्भाव माने जाते हैं। जब आधुनिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि उत्तरापथ के इस गुप्तकालीन स्थापत्य मे सीथियन तथा हैलेनेष्टिक प्रभाव तथा प्रत्यक्ष घटक हैं अर्थात् विदेशी प्रभाव स्वीकृत है पुनश्च चालुक्यो, पल्लवो की कला मे कोई विदेशी प्रभाव नहीं माना गया है तो फिर सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि प्रासाद-कला – विशेषकर शिखरोत्तम तथा भौमिक विमानो के विकास में कौन अनुज है और कौन अनुज नहीं है। दक्षिण का वास्तु तथा शिल्प पूर्ण रूप से पौराणिक विचार, धर्म एवं भक्ति का अनुवाद है। यद्यपि जैसा हमने पहले भी सकेत किया है कि जहा शैवो और वैष्णवो का सघर्ष था वहा इस पुराण-गगा ने ही यह पारस्परिक विरोध का उन्मूलन कर तीर्थ-राज-प्रयाग की गगा-यमुना की सगम-धारा के अनुरूप धार्मिक आस्था एवं भक्ति-भावना तथा समन्वय (synthesis) प्रादुर्भूत कर दिया। यह समन्वय सार्वजनिक धार्मिक सम्प्रदाय को है, जिसका पथ-प्रदर्शन नायनार तथा आलवार सतो ने किया था।

अब पुन प्रश्न उपस्थित होता है कि दाक्षिणात्य और उत्तरापथीय इस प्रासाद-कला के उद्भावक कौन थे? जहा तक दक्षिण की बात है उसके सम्बन्ध मे बहुत से विद्वानो ने (विशेषकर ह गोट्स) पल्लवो को ही प्रथम उन्नायक माना है। मेरी दृष्टी मे यह धारणा ठीक नही है। मैं तो और भी आगे जाना चाहता हू कि चालुक्य ही उत्तरापथीय और दक्षिणापथीय दोनो शैलियो के प्रथम उन्नायक तथा प्रतिष्ठापक हैं। जिस प्रकार से उत्तर भारत मे तथा मध्य भारत मे गुप्तकालीन प्रासाद कला का उदय हुआ उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी यह उदय चालुक्यो का श्रेय है। आदि चालुक्यों की प्रथम राजधानियो मे आयोहल यथा वादामी मे जो प्रासाद निदर्शन प्राप्त होते हैं उनमें सर्व-प्रमुख (दे० इन्डियन आरकीटैक्चर पेज, १०१) जो उन्होन विवेचन किया है वह भी मेरी समीक्षा का पूर्ण पोषण करता है।

"A type of temple in a primitive Indo-Aryan style had begun to appear as far south as in the territory of the Chaulukyans as early as the sixth century A. D, implying that it may have originated in that quarter. That there can have been any direct

connection between the early Chalukyan structures on the south-west, and the temples of Ganjam on the east is somewhat improbable but the fact remains that certain architectural affinities are observable which suggest a linking up of the temple design in these two divergent places If such a correlation is admitted, it may be traced to the political contract which no doubt existed between the Ganga Kings of Western India on the one hand, and the Ganga dynasty of Kalinganara, now the modern Mukhalingam, on the other. It was from their capital in Ganjam that the country of Kalinga at present called Orissa, was administered by the Eastern Gangas from about A D 600. By some such means the cultural activities of the Early Chalukyans may have been conveyed to this region on the east, where, begining from the eighth century certain architectural forms appear, which bear a resemblance to those produced slightly earlier at Aihole and Pattadakal '
Indian Architecture —*Buddhist & Hindu Period*—P Brown—II ed p. 101

इस प्रकार से इस महाभारत की इन दोनों शैलियों का यद्यपि समानान्तर प्रसार दोनों प्रदेशों पर होता रहा है, तथापि उपर्युक्त अवतरण से यह सिद्ध हो जाता है कि चालुक्यों का नागर-शैली के उन्नयन और विकास में बड़ा योगदान है। आयोहल और बादामी में उत्थित दुर्गा-मन्दिर तथा लादखान इन दोनों में शिखर और मंडप प्राचीनतम निदर्शन है।

इस समीक्षा के उपरान्त अब हम उत्तरापथीय वास्तु-कला को क्षेत्रानुरूप मूल्यांकन करेंगे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली नागर-शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राज-पीठों में ही हुआ। अतः वहां की कला का वर्णन राजवंशानुक्रम (*Dynastically*) में विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर-भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था। अतः उत्तरी प्रासाद-कला को राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने

समीक्षा करने मे कठिनता अनुभव की है। तदनुरूप स्थानीय केन्द्रो से इस शैली का विवेचन किया गया।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (local developments) के अनुरूप स्थानीय-कला-केन्द्रो का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थित किया जाता है :—

१—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उडीसा)—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी,

२—बुन्देलखण्ड—खजुराहो,

३—मध्य भारत एवं राजस्थान,

४—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड,

५—सुदूर दक्षिण (खान-देश),

६—मथुरा-वृन्दावन।

स्थानानुषङ्ग के प्राधान्य का सकेत करने पर भी हम राजवशानुक्रम को भी नही छोड सकेंगे। अस्तु, इस स्वल्प उपोद्घात के अनन्तर अब हमें कुछ थोडी सी और भी मीमासा करनी है।

आधुनिक विद्वानो ने प्रतीहारो का कोई विशेष रूप से सकेत नही किया है। प्रतीहारो का राज्य पूर्व-मध्यकाल मे कन्नौज, गुजरात तथा राजस्थान मे फैला हुआ था। ये प्रतीहार कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सम्राट् थे और गुर्जर-जातियो एव राज-पूतो के भी ये ही उस समय शासक थे। राजपूत वश इन्ही प्रतीहारो से ही उतरे। इन वशो को गुर्जर-प्रतीहार, चाहमान, कच्छपघट, चापोत्कट (आधुनिक छावडा) सोलकी, परमार, चन्द्रात्रेय, कलचुरि-हैहय के नाम मे कीर्तन किया गया। यहा पर इन प्रतीहारो की धार्मिक, आस्था तथा कला-प्रियता की ओर कुछ सकेत करना आवश्यक है। ये लोग गोरख-नाथ-पथ के रहस्यवाद को ओर वैयक्तिक दृष्टि से जरुर आस्था रखते थे लेकिन इनका सब से बड़ा श्रेय प्रासादो की प्रतिष्ठा और निर्माणो मे कुछ नई उद्भावनाएँ प्रारम्भ कर दी। यह उद्भावना प्रासाद-विन्यास मे सम्बन्ध रखता है। उत्तरापथीय प्रासादो विशेषकर निरन्धारो की ही विशेषता थी, परन्तु इनके युग मे शिल्प-शास्त्र-दिशा से सान्धार प्रासादो का भी विकास प्रारम्भ हो गया। सान्धार का अर्थ है गर्भगृह के चारो

और प्रदक्षिणापथ का अनिवार्य निर्माण। दूसरी विशेषता उनके साम्राज्य में पुराणों की पंचायतन-परम्परा प्रारम्भ हो गई। जिस प्रकार दक्षिण में शिव-पूजा, विष्णु-पूजा समान-भक्ति-अभिनिवेश से चलने लगी थी, उसी तरह यहाँ पर भी वह साम्य पल्लवित हो गयी। निरन्धार प्रासादों में एकमात्र पूज्य देवता की ही प्रतिष्ठा हो सकती थी परन्तु सान्धार-प्रासादों के लिए विन्यासानुरूप उत्तुंग एवं विशाल तथा लम्बी चौड़ी जगती अथवा पीठ की आवश्यकता थी तो फिर चारों ओर परिवार-देवालय तथा पंचायतन-परम्परा के अनुरूप अन्य देवों एवं देवियों के भी मन्दिर बनने लगे। इस दृष्टि से हरमन गाट्ज़ की यह उद्भावना पूर्ण रूप से पोषित होती है :—

"This fully developed mediaeval temple cathedral stands on a vast platform (medhi) and consists of several buildings a flight of steps (nal), and open pillared hall enclosed by a balustrade (ardha or nal-mandapa), a closed cult-hall (gudha-mandapa) opening only into a few balconies, dark porch (antarala, mu khamandapa) and the shrine (prasada) surrounded by a circumambulatory passage (pradaksinapatha, bhrama) with three balconies of pillars standing on a balustrade (vedi) The open hall (natya-mandapa, sabha-mandapa), reserved for the performance of the dancing girls (devadasis), and the ritual dining-hall that is occasionally found (bhoga-mandapa) are sometimes separate buildings To these have to be added, also as separate structures, subsidiary temples, triumphal arches (torana) and holy baths (kunda, especially fon the sun-god) All these temple-rooms are raised on a high receding plinth (pitha, within very thick walls (Mandovara) and are surmounted by a huge sikhara and a pyramidal roof The walls are broken up into system of pilastars (jangha) alternat-

ing with narrow recesses, which are constitued above the cornice (chhajja) as subsidiary sikharas (paga) flanking the central sikhara Horizontally these pilaster-walls are divided into the plinth (pitha) consisting of a series of friezes, of demonmasks (giraspati), animals (asvasthara and gajathara) and scenes from human life (narathara), all between various richly decorated angular or rounded mouldings (bandhana) On the leval of the shrine and cult halls, niches and brackets project from the walls, carrying the figures of the principal gods and of the Parivaradevatas, accompanied by innunerable heavenly nymphs (surasundari), eaves and pediments from the transition to the cornice (chajja), above which the sikharas and subsidiary sikharas rise like a huge mountain range to the copying stone (amalaka) And infact, the whole building complex forms one integral unit, ascending from hill to mountain, and at last to the highest peak of the 'World Mountain' above the principal shrine In the interior, massive comlumns (stambha) support an octagonal entablature of brackets sculptured with divine dancing girls or cusped arches on which the low corbelled dome rests, decorated with circle upon circle of floral bands and flying gods, or with radiating ribs of heavenly nymphs The pillars themselves are arcaded towers in miniature, in which gods and heavenly dancers posture The walls are covered with image niches and images in consoles The shrine entrance follows the same schemes as in the late Gupta period but friezes and statues have multiplied" Prof. S Kramrisch has

more characterstically outlined these mediaeval temples of North India in her—"Hindu Temple"

अस्तु, इस उद्भावना के उपरान्त अब यह भी सवेत करना है कि ज्योंही प्रतीहारों का साम्राज्य छिन्न हो गया तो नाना राजवंश प्रान्तिक नरेशों के रूप में उदय हो गये। जिस प्रकार योरोप में मध्यकालीन इतिहास में एक बिल्डिग-मनिया प्रारम्भ हुई उसी प्रकार से इस महादेश में भी यही प्रासाद मनिया प्रादुर्भूत हो गई। भुवनेश्वर का लिंगराज, खजुराहो का कन्डरिया महादेव, उदयपुर का उदयेश्वर आदि आदि जगत् विश्रुत प्रासाद आज भी अपनी आभा से प्राचीन वास्तु कला की जगमगाहट से जगमगा रहे हैं। यह साम्राज्य लगभग १० राजवंशों में बिखर गया, जिनका उल्लेख यहाँ पर आवश्यक नहीं है। अब हम स्वल्प राजवंशानुषङ्ग से ही यथा सकेतित उत्तरापथीय षड् प्रासाद मण्डलों का भ्रमण कर इस सागर की गागर में कवलित करने की चेष्टा करेंगे।

केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)

उत्तरी-शैली की कला-कृतियो म सर्वप्रथम सकीतन कसरी राजाओ का वास्तु पीठ भुवनेश्वर है। भुवनश्वर (उडीसा) क धम क्षेत्र पर हम पूव अध्याय म प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दि दिगन्त म उडाने का श्रेय 'लिंगराज' क मन्दिर को है।

भुवनेश्वर केशरी राजाओ की राजधानी रहा है। कसरी राजओ की, चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध स लेकर ११वी शताब्दी तक उडीसा-मण्डल की मन्दिर-माला के अतिरिक्त २ मन्दिर और विशेष विख्यात हैं कोनार्क का सूय-मन्दिर तथा पुरी का श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर। अत पहल हम भुवनेश्वर को लेते है।

उडीसा मण्डलीय प्रासादो की तालिका सवप्रथम हम कालानुरुप उपस्थित करते है तभी भुवनश्वर को ले सकत है —

पूव मध्यकालीन ७५० ९०० ई०।

मन्दिरमाला	स्थान
परशुरामेश्वर	भुवनश्वर
वैताल दुएल	,,
उत्तरेश्वर	,,
ईश्वरेश्वर	,,
शत्रु गणश्वर	,,
भरतेश्वर	,,
लक्ष्मणश्वर	,

मध्यकालीन ९००-११०० ई०

मुक्तेश्वर	ई० ९७५	भुवनश्वर
लिंगराज	,, १०००	,
ब्रह्मेश्वर	,, १२७५	,,

रामेश्वर	, १०७५
जगन्नाथ	, ११०० पुरी

उत्तर मध्यकालीन ई० ११००-१२५० ई०

आनन्दवासुदेव	भुवनेश्वर
सिद्धेश्वर	,,
केदारेश्वर	,
यमेश्वर	
मघेश्वर	,
सारीदुएल	,,
राजरानी	,,
सूर्य-मन्दिर	कोनार्क १२५० ई०

(अ) भुवनेश्वर—नागर शैली की स्थापत्य कला का अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है। यहा के प्रासाद वास्तु के दो भाग हैं विमान और जगमोहन। विमान से तात्पर्य केन्द्रीय मन्दिर और जगमोहन से मण्डप। किन्हीं किन्हीं मन्दिरों में इन दो प्रधान निवासों के अतिरिक्त और निवास भी हैं जिन्हें नाट्य-मन्दिर और भोग मन्दिर कहते हैं। उडीसा मण्डल में तीन मुख्य मन्दिर हैं—भुवनेश्वर में लिंगराज का मन्दिर पुरी में श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर और कोणार्क में श्री सूर्यनारायण का मन्दिर।

लिंगराज मंदिर के पूर्व में स्थित सहस्रलिंग तालाब के चारों ओर लगभग १०० मंदिर हैं जिनमें ७७ अब भी सुरक्षित हैं। लिंगराज के ही उत्तर में बिंदु-सागर नामक विशाल तडाग है जिसके बीच में एक टापू है और वहा एक सुन्दर मंदिर दर्शनीय है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मंदिरों के अपने अपने तीर्थ-जलाशय हैं—यमेश्वर ताल रामेश्वर ताल गौरी कुण्ड केदारेश्वर ताल, चनधुआ कुण्ड तथा मरीचि-कुण्ड आदि।

भुवनेश्वर की मंदिर-माला बड़ी लम्बी है। उसके गुम्फन में लगभग दो तीन सौ वर्ष (१०वीं से १२वीं शताब्दी) लगे होंगे। केसरी राजाओं के इस राज-पीठ में स्थापत्य-कला के प्रोज्ज्वल प्रकर्ष के लिए जो राज्याश्रय मिला उसी को श्रेय है कि ऐसे विलक्षण अदभुत एवं अनुपम मंदिर बने। कहा जाता है कि केसरी राजाओं ने इस स्थान पर ७००० मंदिर बनवाये जो अभी

शताब्दी से लेकर ११वी शताब्दी तक निर्मित होते रहे । अब भी भुवनश्वर और उनके आस पास ५० मदिर हैं जिनम निम्न विशेष उल्लखनीय है —

१	मुक्तेश्वर	१४	सावित्री
२	केदारेश्वर	१५	लिंगराज सारिदेवल
३	सिद्धेश्वर	१५	सोमेश्वर
४	परशुरामेश्वर	१७	यमेश्वर
५	गौरी	१८	वटितीर्थेश्वर
६	उत्तरेश्वर	१६	हट्केश्वर
७	भास्करेश्वर	२०.	कपालमोचनी
८.	राजरानी	२१	रामश्वर
६	नायेश्वर	२२	गोरक्षश्वर
१०	ब्रह्मेश्वर	२३.	मशिरेश्वर
११.	मेघेश्वर	२४	कपिलेश्वर
१२.	अनन्तवासुदेव	२५.	वरुणेश्वर
१३	गोपालिनी	२६	चक्रेश्वर आदि आदि ।

अस्तु, उडीसा-मण्डलीय इन प्रमुख तीनो महामन्दिर-पीठो—भुवनश्वर, कोनाक तथा पुरी—क इस स्वल्प सकीर्तनोपरान्त हम अन्त मे इस शैली क सम्बन्ध म अवश्य निर्णय करेंग ।

पुरी—जगन्नाथ—पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एव कारक-यजमान पर भी एतिहासिको म मतभेद है । श्री मनमोहन चक्रवर्ती (see his paper on the date of Jagannath Temple in Puri—J. A. S. B., vol 67 for 1898, pt 1 pp 328 331) ने निम्नलिखित श्लोक —

प्रासा पुरुषोत्तमस्य नृपति को नाम कर्तुं क्षम—

स्तस्येत्याद्य नृपैरुपक्षितमय चक्रेऽथ गंगश्वर ।। (गगावश ताम्रपत्र) के आधार पर इस प्रासाद को गगेश्वर (गोडगग) का बनवाया हुआ बताते हैं। यत गोडगग का राज्याभिषेक १०७८ ई० म हुआ था अत इस मन्दिर की तिथि १०८५–१०६० मननोहमन न माना है । इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार (God Purusottama at Puri—J O R, Madras

vol 17 pp 209-215) ने उड़िया के प्रख्यात पुराण (Chronicle) मादला पाञ्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोडगग को न दे कर उनके दरपोते (great grandson) अनगभीम तृतीय को देते है। मित्र तथा हन्टर महाशय (Cf 'Antiquities of Orissa' Vol II pp 109—110 and Orissa Vol I pp. 100—102) भी इसी मत को पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं —

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्राशुरूपनक्षत्रनायके।

प्रासाद कारयामासानगभीमेन धीमता ॥

(Also see—'History of Orissa'—by Dr R. D. Bannerjee) अस्तु इस ऐतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे ग अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तिया तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन है—सम्भवतः ईशवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानो ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है कि १६वीं शताब्दी म मराठा ने इसके जीर्णोद्धार म योग दिया था।

इस मन्दिर की वास्तु-कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है। बौद्धो के त्रि-रत्न—बुद्ध धर्म और सघ की भाँति इस मन्दिर मे जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तिया हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदि का स्थापत्याकन अथवा चित्राकन पुरुष और प्रकृति के रूप मे हुआ है, तब यह भाई बहिन का योग बौद्धो के प्रभाव का स्मारक है—बौद्ध, धर्म को स्त्री-सरक्षक मानते हैं। अस्तु, पुरी के जगन्नाथ-मदिर के अतिरिक्त मुक्ति-मडप, विमला देवी का मदिर, लक्ष्मी-मदिर, धर्मराज (सूर्यनारायण) का मदिर, पातालेश्वर, लोकनाथ मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि मदिर विशेष प्रसिद्ध है।

(स) कोणार्क—सूर्य-मन्दिर-कोणार्क एक क्षेत्र है। इसे अर्क-क्षेत्र अथवा पद्म-क्षेत्र कहते हैं। निकट ही बगाल की खाडी की उत्ताल तरगो से उपकण्ठ-भूमि उद्वेलित रहती है और मन्दिर के उत्तर मे आध मील पर चन्द्रभाग नदी बहती है।

कोणार्क-मन्दिर किसने बनवाया—असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नही। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवत ६ वी शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एव कलेवरता मे विद्य-

मान था क्योकि आधुनिक रथ तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है, जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध हो कर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नही ऐशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है । लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर मे ढका हुआ पडा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रुपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था। तब लोगो को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला । इसकी वास्तु-कला एव अन्य विभिन्न विवरण स्वल्प मे ही प्रस्तुत हो सकेंगे।

इस अनुपम मन्दिर को हम एकमात्र वास्त्वाकृति ही नही मानेंगे—यह शिल्प एव चित्र दोनो की अनुपम आकृति निभालनीय है। पौराणिक आख्यान एव लोक-विश्वास मे भगवान् भास्कर सदैव रथ मे विराजमान उदित एव अस्त होते हैं। इन के रथ मे सात घोडे होते हैं, इनका सारथि अरुण है। इसी प्रतीकाख्यान का अनुवाद इस महावास्तु मे परिणत कर दिया गया है। रथ-यान पर आरूढ यह मन्दिर है, अश्वो का चित्रण दर्शनीय है । रथ-यान गर्भ-गृह-सम्मुखीन निर्मित है ।

इस स्वल्प सकीर्तन के बाद पाठको की जिज्ञासा का समाधान आवश्यक है। कोनार्क के सूर्य-मन्दिर के बाह्य कलेवर—मण्डोवर, स्कन्ध, ग्रीवा, शिखर आदि पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तियो का क्या प्रयोजन था । गोट्स महोदय ने इस पर यह समीक्षा की है कि यत सान्धार-प्रासादो एव भौमिक विमानो म जब नाना विस्तार-प्रसार विकसित हुए तो अनायास नाट्य, नृत्य आदि मण्डपों मे देवदासिया, नर्तकिया मन्दिर-देवता के लिये समर्पित कर दी गयी थी, अत इन्ही नर्तकियो के अश्लील चित्रण एक-मात्र अप्रबुद्ध स्थपति (apperentice artisian-masan-architect) के द्वारा यह सम्भवत सम्पादित किया गया है। एसे चित्रण कन्दरीय महादेव (कन्डरिया महादव) खजुराहो, मीनाक्षी सुन्दरेश्वर मदुरा आदि प्रासाद-पीठो पर भी यह अश्लील चित्रण भी उद्ङ्कित किये गये हैं। अत मेरी दृष्टि मे यह प्रभाव तान्त्रिको का ही है जो उत्तर-मध्य कालीन-युग मे यह एक महाधारा बह निकली थी। इस ने बौद्धो को भी पूरी तरह से अभिभूत कर दिया था, ब्राह्मण तो अपने आप ही इसके महा अनुयायी थे।

तिब्बत के यावयूम चित्रणो से हम परिचित ही हैं। कामाख्या आसाम से भी परिचित ही है, अत यह न केवल भारतीय वरन् वृहत्तर भारतीय प्रभाव है।

अस्तु, केशरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चौवालिस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८वी श०) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्रचीम गरिमा एवं भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिये इसे ही उपयुक्त समझा।

अस्तु, इन साधारण विवरणों के उपरान्त अब हम प्रासाद-कला की विशेषताओं पर आ रहे है। शिखरोत्तम प्रासाद का प्रारम्भ हम आयोहन में पहले ही कर चुके हैं। शिखरों के विन्यास विकास और प्रोल्लास का पूर्ण अवसान इस मडल में निभालनीय है। मजरी-शिखर भुवनेश्वर की सर्वप्रमुख विशेषता है। मूलमञ्जरी, उरोमञ्जरी तथा नाना रथों और रथिकाओं की विच्छित्ति और वैभव तथा अलकृति पराकाष्ठा प्राप्त कर चुकी है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन में शिखरों की नाना श्रेणियों का वर्णन किया है—मजरी-शिखर, लता-शिखर, अडक-शिखर आदि आदि। इसी प्रख्यात प्रासाद-पीठ से अडक-शिखर की वर्तना प्रारम्भ हुई है। लिंगराज (एकाडक-शिखर) तथा खजुराहो के कन्दरीय महादेव में यह विकास पूर्ण प्राप्त होता है। भुवनेश्वर का राजरानी मन्दिर ही खजुराहो का अग्रज माना जाता है। आजकल के विद्वानों ने यह भी माना है कि उड़ीसा की अपनी नई शैली है जिसमे प्रासाद-विन्यास के ४ प्रमुख अग हैं.—

१—द्यूल अथवा शिव-मन्दिर अर्थात् गर्भ-गृह (विमान)
२—सभा-मडप अथवा जगमोहन
३ नृत्य-शाला अर्थात् नट-मन्दिर तथा
४—भोग मन्दिर।

लिंग-राज इन मन्दिर-विन्यासों का प्रतीक है। समरागण-सूत्रधार की परिभाषा में मेरी दृष्टि में भुवनेश्वर के मन्दिर विशेषकर लिंगराज को एकाडक शिखर में गतार्थ करना व्यापक समीक्षा नहीं है। यह तो मेरी दृष्टि में लताश्रृंग का अनुपम उदाहरण है। समरागण-सूत्रधार में लतिन प्रासादों को

तथा भी प्राप्त होती है और प्रसिद्ध लेखक डा० क्रैमरिश अपने हिन्दू टेम्पिल (दे० पृ० २१५ फुट नोट १८) में जो उद्भावना की है वह सर्वथा सगत है :—

"The Orissan variety of the Rekha temple of the Nagara class would thus most perfectly be a Latina temple' see details in Hindu Temple, P. 216.'

इस दृष्टि से हमने जो आदि पारुनवों की समीक्षा में शिखरों के उदय में उनकी देन की समीक्षा की है वह सर्वथा सार्थक है। शिखरोत्तम प्रासादों का आयोहल में जो प्रारम्भ होता हुआ भुवनेश्वर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर मध्य-भारत खजुराहो आदि प्रासादों के पीठों पर प्रत्यवसायित हुआ वह ठीक है—मेरे पुत्र डा० नलिन कुमार शुक्ल ने भी जो अपनी Ph. D. Thesis (A study of Hindu art and architecture with esp. ref. to Terminology) में जो यह निम्न समीक्षा की है, वह भी बड़ी सार्थक एवं प्राउन की समर्थक भी है-—

"The Muktesvara temple is regarded to be the most beautiful of all Orissan temples, but the most graceful and elegant example of this period is Rajarani temple whose affinity with the Sikharottamas of Khajuraho is a land-mark in the contention that the Nagara style of temple architecture as illustrated in the temples of Bhuvanesvara and Khajuraho, have a common fountain and are a manifestation of one movement which had its begining from its southern extremity of Ganjam within the old Madras Presidency to its northern off-shoot, in the state of Mayurbhanja having its ramifications in the territory of Chalukya, the last of which shows the political contact between the Ganga kings of Western India and the Ganga Dynasty of Kalinganara the modern Mukhalingam which brought this manifestation of an all India composite style of temple architecture''.

—:o:—

चन्देलों का वास्तु-पीठ-खजुराहो—बुन्देल-खण्ड-मण्डल

खजुराहो इस समय एक छोटा सा गाव है, परन्तु किसी समय यह जभोति (यजुर्होति) प्रान्त की राजधानी थी। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था। सम्भवत यजुर्होती इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। चन्देल-राज-वंशीय राजन्यो मे यशोवर्मन एव उसके पुत्र धगदेव का विशेष गौरव है जिन्होने इस राजवश की नीव को सुदृढ बनाने मे कसर न रखी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवी शताब्दी मे चन्देल राज्य को नीव डाली थी। ८ वी से लगाकर लगभग १६ वी शताब्दी तक चन्देलो का प्रभुत्व रहा। चन्देलो का मुख्य स्थान कालिञ्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोबा। खजुराहो को उन्होने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना था।

बुन्देलखण्ड-मण्डल का शिल्प, कला का प्रतिनिधि ही नही सर्वस्व खजुराहो के मन्दिर है। इनमे कडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एवं सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानत दसवी शताब्दी मे राजा धगदेव ने बनवाया। कहा जता है कि निनोरा ताल, खजुराहो गाव और निकटवर्ती शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्तत प्राचीन समय मे ८५ मन्दिर थे। उनमे से अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान है।

चन्देलो की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होने अन्य धर्मो एव सम्प्रदायो के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बरती। वैष्णव-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म सभी के स्मारक-चिन्ह यहा पर विराजमान है। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहा पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहो के विद्यमान प्रासादो के अन्यतम निदर्शनो की पुष्प-मालिका के सौरभ का आनन्द पाठको के सम्मुख रखते हैं।

इस मण्डल के मुकुट-मणि खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो महोबा से ३४ मील दक्षिण और छतरपुर से २७ मील पूर्व है। इलौरा-मन्दिर-पीठ के समान खजुराहो भी सर्व-धर्म-सहिष्णुता का एक अन्यतम निदर्शन है। यहा पर वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म और जैन-धर्म आदि विभिन्न मतो के अनुयायियो ने पूरी स्वतन्त्रता से अपने मन्दिर निर्माण किये हैं। इसमे यह विदित होता है कि चन्देल राजाओ ने, शैव होते हुए भी अन्य सम्प्रदायो के प्रति सराहनीय धार्मिक सहिष्णुता दिखाई। निनोरा ताल, खजुराहो गाव (जो पहले एक बड़ा नगर था) एवं निकट-स्थित शिव सागर झील के इतस्तत फैले हुए प्राचीन समय मे ८५ मन्दिर थे जिनमे अब भी २० ही शेष रह गये हैं। इनमे निम्न-लिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :—

१— चौसठ योगनियों का मन्दिर (९वी शताब्दी),

२. कडरिया *(कन्दरीय)* महादेव—यह सर्वश्रेष्ठ है—विशालकाय, प्रोत्तुग, मण्डपादि-युक्त, चित्रादि 'Sculptures)-विन्यास-मण्डित;

३. लक्ष्मण-मन्दिर—निर्माण-कला अत्यन्त सुन्दर;

४. मतगेश्वर महादेव—इसमे बडे ही चमकदार पत्थरो का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वी-मूर्ति, जो अब ध्वंसावशेष हैं ;

५. - हनुमान का मंदिर,

६. जवारि-मंदिर मे चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७. दूला-देव-मन्दिर—इस नाम की परम्परा है—एकदा एक बारात इस मंदिर के सामने से निकली तत्क्षण वर जी नीचे गिर कर परम धाम पहुच गये तभी से इसका नाम दूला-देव मंदिर हो गया।

अस्तु इस स्थूल विवरणो के उपरान्त हमे थोड़ा सा इस प्रमुख-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठ के अतिरिक्त और भी अन्य-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठो पर कुछ संकेत भी आवश्यक—सुरवाया, ग्वालियर के दक्षिण मे सुन्दर मन्दिर तथा बुन्देल-खण्ड, के चन्देल राजाओं की पर्वतीय राजधानियो महोबा तथा कालिञ्जर आदि मे वैष्णव-मन्दिरो तथा हैह्य कलचुरी मन्दिरो के भग्नावशेष बुन्देलखण्ड के दक्षिण और चन्दरेहा, बिल्हारी, तिवारी (त्रिपुरी) और सोहागपुर मे भी ये उल्लेखनीय हैं।

पूर्व सकेतित प्रतीहार—वशीय राजाओ मे ही चौहान-कला भी विकसित हुई। यह चौहान कला प्रतीहार-शैली को पूर्ण आस्था स बनाये रखी। इस चौहान-कला मे दसवी शताब्दी का हर्षनाद-मन्दिर (शिखर), विलासपुर, बरौली, मेवाड—ओसिया, किराडू के मन्दिर भी इसी चौहान-कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु अब हम राजस्थान और मध्यभारत की ओर आते है।

चाहमान अथवा चौहान नरेशो की कला का कुछ सकीर्तन हो ही चुका है। पूव सकेति प्रतीहारवशीय उत्तरवर्ती राजाओ एव माण्डालिको को भी हम नही भुला सकते। इनका प्रसार मध्य भारत म भी फैल गया था विशेष कर ग्वालियर मे। ग्वालियर क सहस्रबाहु मन्दिर (सासबहू—अपभ्रश) का श्रेय कच्छपघटो को है जो हम आगे—मध्य भारत तथा राजपूताना—के स्तम्भ म प्रकाश डालें गे।

इसी प्रकार प्रतीहारीय उद्भवो मे गहडवालो को भी नही विस्मृत कर सकते। वाराणसी क निकट प्राचीन मन्दिर गहडवालो की देन है। सारनाथ के बौद्ध—विहार भी इसी कोटि मे आते है। गहडवालो ने त्रिगर्त-शैली को भी प्रश्रय प्रदामन किया जो कागडा के स्मारको म विभाव्य है। इस शैली को यथानाम काश्मीरी तथा चाहमानी इन दोनो कला का विश्रण विभाव्य हैं।

राजस्थान एवं मध्य-भारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत में देवद्विषाक्ष से शतशः मन्दिर मुसलमानों के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरों के नाश की कथा—मध्यकालीन मुस्लिम-सत्ता की कलंक-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अत: बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशेष हैं। पर्सी ब्राउन की समीक्षा कितनी सत्य है जो अवतारणीय है'—

"Some idea of the amount and quality of the temple architecture produced in these parts may be obtained from an examination of the remains built into these two famous Islamic monuments, the Qutb Mosque at Delhi and the Arhai din ki Jhompara at Ajmer, the earliest architectural efforts of the Afghan invaders From inscriptional evidence it is known that twenty six temples were dismantled to provide materials for the Delhi mosque, the number of pillars in which amounts to 240 Each single Mosque pillar however is made up of two pillars of the temple type, one being placed above the other thus giving a total of 480 in all or an average of rather more than eighteen pillars from each temple But the Ajmer mosque is a much larger structural compilation, three of the tem pel examples are superimposed, so that nearly a thousand pillars were used, representing the spoils of at least 50 temples' Indian ArchitectureP.—114

राजपूताने के कुछ भागो मे यवनो का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर मे दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला, धाननडी मे महामन्दिर नाम से विख्यात है जिसमे अनेक शिखर है तथा जिसका मण्डप सहस्र स्तम्भ है। दूसरा एक शिखर मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य मे भी दो बडे सुन्दर मन्दिर मिलते है। उदयगिर परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादव का मन्दिर मालवा मे सर्वश्रेष्ठ है। एक-लिग' क नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी स बारह मील उत्तर एक घाटी म श्वेत सगमरमर का है। कहत है कि एक-लिंग' की स्थापना मेवाड के आदि पुरुष बाप्पा रावल क समय मे हुई थी और ईस्वी १५ वी शताब्दी म महाराणा कुम्भा न इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना क पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसम (सास बहू) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवत ७ वी या ८ वी सदी मे हुई। फर्गुसन के मत मे यह '११ वी शताब्दी म बना था।

मध्यप्रान्त क ग्वालियर का 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरो मे कलचुरि-राजाओ ने जो मन्दिर बनवाये थे, उन में चौसठ जागिनियो का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरो का वणन नही विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहा पर विभिन्न देवो के मन्दिरो की सख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें इक मन्दिर सूर्य का भी है। इस मन्दिर पीठ पर ब्राह्मणो एव जैनो दोनो के मन्दिर हैं। ब्राह्मणो मे ही हर मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है।

राजपूताना के मन्दिरो की गाथा मे आबू पर्वत पर बने हुए जैन-मन्दिरो का सकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बडे ही सुन्दर हैं और सगमरमर पत्थर के बने हैं। करोडो रुपियो की लागत उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओ का कहा जाता है। इन मन्दिरो की कारीगरी दर्शनीय है।

इस मण्डलीय-प्रासाद-स्थापत्य की सर्व प्रमुख महिमा द्वार-शाखाओ की है—एक-शाख-द्वारो से लेकर नव-शाख-द्वारो का विलास दिखाई पडता है।

सोलंकी--राजवंश का प्रासाद--निर्माण--संरक्षण–गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिम

उत्तर-भारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति-समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य-कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एवं कच्छ-प्रदेश आधुनिक काठियावाड़ रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरों का ही निर्माण नहीं हुआ, वरन् प्रासाद-कला में एक नवीन शैली (लाट-शैली) का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ़ एवं समृद्ध सोलकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड़-पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलंकियों के राज्याश्रय में पनपी प्रासाद-कला १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलकी राज-वंश के काल में प्रोत्थित प्रासाद-पीठों में निम्नलिखित पीठ विशेष उदाहरणीय हैं —

कालानुक्रम	पीठ-सज्ञा
१०वीं शताब्दी	सुनक, कनोद, डेलमल तथा केसर—गुजरात
११वीं शताब्दी	नवलखामन्दिर—घुमली तथा मेजाकपुर
	सूर्यमन्दिर—मोधारा
	विमलमन्दिर—*आबू पर्वत
	किरादूमन्दिर—मेवाड
१२वीं शताब्दी	रुद्रमल—सिद्धपुर गु०
	सोमनाथ—काठियावाड
१३वीं शताब्दी	तेजपाल—*आबू पर्वत

*टिप्पणी—इन पुष्पाङ्कित मन्दिरों का पिछले स्तम्भ में हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं तथा सोलंकियों की गाथा के लिये यह पुनरावृत्ति अनिवार्य थी।

इस मण्डल के मन्दिरो में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है, वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नही। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है जो सिंध से आसाम तक और हिमाचल से कन्याकुमारी तक फैले हुए है। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एव प्रशस्त आकार में मुक्त काठियावाड की दक्षिण-समुद्र-वेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानो की चढाइयो का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२ १०७२) ने ही प्राचीन मदिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था। प्रात स्मरणीय सरदार पटेल ने भी भारत की स्वाधीनता मे पग उठाया था जो आधुनिक जीर्णोद्धार से अब भी भव्य है।

गुजरात और काठियावाड के मण्डलीक मन्दिरो की विरुदावली के बखान मे काठियावाड की दो पहाडियो—शत्रुञ्जय पर्वत तथा गिरनार पवत है, जहा पर जैनियो ने एक नही अनेक मन्दिर बनवाये। यहा के ये स्थान मन्दिर-नगर Temple Cities के नाम से सकीर्तित हैं। कहा जाता है कि इन मन्दिर नगरो मे रात मे तीर्थ-यात्री टिकने नही पाता।

इन मदिरो को दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात ११वी से ले कर १३वी शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण मे राज्याश्रय तो निश्चत ही है, परन्तु १६वी शताब्दी मे इस प्रदेश मे एक अभिनव मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रय हेमदपन्त को है, *जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगो को अज्ञात है। यह इतना प्रसिद्ध है कि* लोग उस पौराणिक पुरुषो म परिगणित करते हैं। वास्तव म वह देवगिरि राजवश के रामचन्द्र देव (जो इस वश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधानामात्य था। इसने सैकडो मन्दिर बनवाय और इन मन्दिरो का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली म हुआ।

हेमदपन्ती शैली के पूव विनिर्मित मन्दिरो मे थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश मे बालसेन पर विराजमान त्रि-यायतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नही है। इसी प्रकार नासिक जिले मे सिन्नार पर गोण्डेश्वर, झोगडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले मे पदगाव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध है। निजाम हैदराबाद के राज्य मे नागनाथ का

मंदिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मंदिर ११ वी से लेकर १३ वी शताब्दी के बीच में बने और ये मंदिर वास्तव में यथानिर्दिष्ट पञ्चम वर्ग (दक्षिण-खानदेश) के मण्डल-मण्डन हैं, जिनकी प्रस्तावना तत्रैव ही विशेष प्रासंगिक होगी।

अस्तु, इस किञ्चित्कर स्वल्प समीक्षण के उपरान्त हमें इस मण्डल के महामहिम भास्वन्मरीचिमाला-दीपित मोधारा के सूर्य-मन्दिर पर थोडा सा संकेत और भी आवश्यक है।

इस मण्डल की प्रासाद शैली की सर्वोपरि विशिष्टता मण्डोवर-विन्यास, स्तम्भ-बाहुल्य-विच्छित्ति, सभा भवन-न्यास एवं शिखरालंकृति-विच्छित्ति विशेष स्तोत्य हैं। अधिक विवरणों में न जाकर पर्सी ब्राउन की यह समीक्षा हृदय को गद्गद् कर देती है :—

"In viewing the Modhera temple, the aesthetic sense at once responds to the elegance of its treatment and its proportions as a whole, the entire composition being lit with the living flame of inspiration. But apart from its material beauty, its designer has succeeded in communicating to it an atmosphere of spiritual grace The temple faces the east so that the rising sun at the equinoxes filters its golden cadence through its opening, from door way to corridor, past columned vestibnles finally to fall on the image on its inner chamber In its passage the rays of the heavenly body to which the shrine is consecrated, quiver and shimmer on pillar and archway, giving life and movement to their groven forms, the whole structure appeariag radiant and clothed in glory To see this noble nonument with its clustered columns not only rising like an exhalation but mirrored on still waters below is to feel its creator was more than a great artist, but a weaver of dreams." Indian Architecture pp. 120

दाक्षिणी उत्तर-शैली-मण्डल---खान-देश

अस्तु, अन्त मे हम नागर कला के दक्षिण प्रसार को नही भुला सकते हैं। यह दक्षिण प्रदेश (Deccan) जिसको खानदेश के नाम से पुकारते हैं, वह एक प्रकार से दो प्रातो के बीच से प्रोल्लास प्राप्त कर रहा है— उत्तर मे लाट शैली का प्रभाव है, तथा दक्षिण मे चालुक्यो का। तथापि ये मन्दिर प्रोल्लास स्वाधीन विलास के प्रतीक हैं। ये मन्दिर *शिखरोत्तम प्रासादो की ही दीप्ति से ही दीपित है। हमने अपने शास्त्रीय* अध्ययन मे प्रासाद मडोवर के ऊपर जिन तीन विधाओ का वर्णन किया है—

१—मजरी शिखर—खजुराहो।

२ गवाक्ष शिखर—एकाडक शिखर—भुवनेश्वर—उडीसा

३—लता-मञ्जरी उरो मञ्जरी शिखर—मध्यभारतीय मन्दिर जैसे नीलकण्ठेश्वर उदयपुर

अतएव ये खानदेशीय मन्दिर तृतीय श्रेणी के हैं निदर्शन है। इन दक्षिण मन्दिरो (Deccanese temples) मे यह धारणा प्राप्त होती है। इन शिखरो की *आकृति उरो मजरी अथवा एक-श्रृग के समान नही है।* लहसन की आकृति मे ही विभावित किये जा सकते है। लहसन और मडक मे कोई अन्तर नहीं हैं। अत ये भी मडक ही शिखर है। इन दक्षिण-प्रासादो में प्रसिद्ध निदर्शन अम्बरनाथ मन्दिर है। यह महाराष्ट्र के थाना जिला मे स्थित है। इस शैली में खानदेश बाघली स्थान पर जो मन्दिरो की माला देखने योग्य है। हमदपथी शैली मे निर्मित अनेक मन्दिरो का गुणगान हो ही चुका है वे भी इस प्रदेश मे बिखरे पड़े है।

अस्तु, इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हम तालानुरूप नागरशैली मन्दिरो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

काल		संज्ञा एवं	स्थल
११ वीं शताब्दी	१	अम्बरनाथ	थाना जि०
,,	२	त्रि-आयतन-मन्दिर	बालसन — खान देश
,,	३	महेश्वर ,,	— ,,
१२ वीं शता०	४	गोण्डेश्वर	सिन्नर — नासिक
	५	महादेव	झोगड - ,,
	६	लक्ष्मी-नारायण	पडगाव - अहमदनगर
१३ वीं शता०	७	नाग-नाथ	औंध — आध्र प्रदेश
		हेमद-पन्थ-शैली	
,,	८	दैत्य-सूदन विष्णु-मन्दिर	लोनार सतगाव } Deccanese

. मखर

टि० १ इस मण्डल का मण्डन अम्बरनाथ मन्दिर है । इसकी अलंकृति एवं प्रासाद-स्थापत्य बड़ा ही ओजस्वी है ।

टि० २ बालसन-पीठ पर लगभग ८ मन्दिर आज भी विराज-मान हैं ।

टि० ३ यह पीठ समन्वय धारा Syncrestic movement का भी एक प्रसिद्ध विलास है —पञ्चायतन-परम्परा ही यह समर्थित करती है ।

— • —

मथुरा-वृन्दावन—उत्तर-मध्य-कालीन अर्वाचीन प्रासाद

अब रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल—मथुरा-वृन्दावन, अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और राजाओं के अतिरिक्त सेठों, साहूकारों एवं साधारण भक्तजनों का भी संरक्षण इन मन्दिरों की रचना में कम नहीं है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडा-स्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अतिप्रशस्त पद था परन्तु यहां के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास में मुसलमानों की संहारका-रिणी, पैशाची प्रवृत्ति व निर्ममता की कमी नहीं परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर के औदार्य एवं पर-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के अतिनिकट वृन्दावन में उसी काल में चार प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन चार मन्दिरों के नाम से हम सभी परिचित हैं :—

१—गोविन्द-देवजी
३—गोपी-नाथ
२—राधा-वल्लभ
४—जुगुलकिशोर
५—मदनमोहन।

८	नुग्गी-हल्ली	लक्ष्मी-नरसिंह (त्रि-आयतन)
९.	सोमनाथपुर	शुद्ध केशव
१०.	हलेबिड	होयसलेश्वर

अन्त में यह अन्तिम निदर्शन होयसलेश्वर चालुक्य-होयसाल-परम्परा का सर्वप्रमुख निदर्शन है। शिल्प-चित्र-वास्तु का चरमोत्कर्ष यह निदर्शन है। यह श्रेय चालुक्य-होयसाल-मण्डल को है जो मौलिमालाय-मण्डन है—"It is the supreme climax of Indian architecture in its most prodigal plastic menifestation".

पूर्व-पश्चिम-मण्डलीय प्रासाद

भूमिज-प्रासाद

पर्वताकृति-आयतन-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद—तीर्थ-स्थान, स्तूप, चैत्य, संघाराम आदि

शैली में एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एवं खजुराहो के मंदिरों पर जो मूर्ति विन्यास प्राचुर्य देखा जाता है वह यहाँ पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरों के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इस नवीनता में मुसलिम रचना का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में यह नवीनता उत्तर मध्यकालीन नाट्य-शैली की अतिरञ्जनात्मक शैली की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है। पुनः जब धन एवं तत्त्वय शैथिल्य एवं दारिद्र्य की ओर अग्रसर होता गया तो शैली की अतिरञ्जना तथा धन-संकोच अपने आप ही शिथिलता को प्राप्त हो गया।

इस वास्तविक तथ्य के निर्देशोपरान्त हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि ये मन्दिर प्रासाद स्थापत्य की दृष्टि से हीन हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र में प्रासाद-निवेश में सर्वमूर्धन्य विच्छित्ति एवं प्रतीकत्व आमलक है—यह आमलक—'अमल-शिला' जितनी सुन्दरता से यहाँ निविष्ट की गई है वह सर्वातिशायिनी कृति है।

पर्सी ब्राउन ने जो अपनी समीक्षा में (see Indian Architecture p 130 last line) " but as a work of art this from of Sikhara has not much to commend it" उनकी यह समीक्षा मेरी दृष्टि में उनकी दृष्टि का विरोध (Contradiction) उपस्थित करती है —see ibid

' But the most distinctive portions of several of these Brindaban temples are the sikharas which in style and shape are unique, as they bear little or no resemblance to any other kind of Indian temple spire They rise from an octagonal plan and taper into a tall conical tower (see Madanmohan of 65 ft. hight) with a broad band of mouldings outlining each angle At intervals throughout their height are similar bands of mouldings placed transversely, so that the surface effect is that of a senes of diminishing rectangular panels Overhanging the whole at

the apex is a ponderous finial, or amalasila (Amalaka-*shukla*) a flat circular disc, its outer edge ornamented with a border of massive knob-like petals or flutes."

टि०—भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की दो प्रमुख धाराग्रों—दक्षिणी तथा उत्तरी—की अवान्तर -धाराग्रों चालुक्य, पल्लव, चोल, पाण्ड्य ग्रादि (दक्षणी) तथा केसरी, चन्देल, प्रतीहार, राजपूत ग्रादि (उत्तरी) के साथ साथ जो स्थूल समीक्षा हो चुकी है इस विशाल भारत के प्रासाद-स्थापत्य को दो प्रमुख शैलियों मे बाटा गया है—नागर तथा द्राविड । इनके ग्रतिरिक्त शिल्प-शास्त्र-दिशा से हम ग्रन्थ तीन शैलियो को विस्मृत नही कर सकते हैं। इनमे वेसर, वावाट तथा भूमिज विशेष उल्लेखनीय हैं। हमने इस ग्रन्थ मे शास्त्रीय सिद्धान्तो के निरूपण की क्रोड मे पहले ही कुछ प्रकाश डाल ही दिया है । ग्रतएव वेसर, भूमिज वावाट, इन सभी तीन शैलियों को हम भौगोलिक रूप में गतार्थ नही कर सकते हैं। वेसर पर हमने पहले ही नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर ही दी है। इस शैली का प्रमुख प्राचीन निदर्शन दुर्गा-मन्दिर है ।

जहा तक वावाट शैली का प्रश्न है, इसके निदर्शन परवर्तीय चालुक्यों और होयसालो के मन्दिरो मे प्राप्त होते हैं। मैसूर के मदिर वास्तव में स्थपति (Architect) का कौशल ही नही हैं, वरन् तक्षक (Sculptor) का महान् योगदान है । इन मैसूर मन्दिरो के तक्षण मे ऐसा मालूम पडता है कि स्थपति नक्षक ही नही, वह मानो चदन-काष्ठ-पच्चीकार, वर्धकि है ग्रथवा हस्ति-दन्त कलाकार ग्रथवा धातुकार है। सच पूछा जाये तो वह साक्षात् स्वर्णकार है। इस शैली में निर्मित मन्दिरो की सूची प्रस्तुत की जाती है :—

	स्थान	नाम
१	दोद्दा गोडवल्ली	लक्ष्मी-देवी
२.	बेलूर (वेलपूर)	चैन्न केशव
३.	नगमगल	केशव (त्रि-ग्रायतन)
४.	कोर-मंगल	बूचेश्वर (त्रि-ग्रायतन)
५.	ग्रर्सीकेरी	ईश्वर (द्वि-ग्रायतन)
६.	हरिहर	हरिहर (द्वि-ग्रायतन)
७.	होस्रोहल्ली	केशव (त्रि-ग्रायतन)

बंगाल-विहार-मण्डल

काश्मीर-मण्डल

नेपाल-मण्डल

ब्रह्म-देश (वर्मा)-मण्डल

सिंहल-द्वीपीय (लंका)-मण्डल

भूमिज—बंगाल-विहार-मण्डल

भूमिज की आधुनिक भारत-भारती म प्रथम व्याख्या जो मैंने दी है—उस के अनुसार यह बगाल विहार-मन्दिरो से सम्बन्धित है। इस प्रदेश की जलवायु ने तथा मुसलिम आक्रमणो ने यहा के निदर्शनो को अल्पावशेष कर दिया। तथापि हम इस शैली म उत्थित मन्दिरो को तीन भागो मे वर्गीकृत कर सकते हैं —

१—प्रथम—इस को हम दो शाखाओ मे आलोचित कर सकते हैं—एक तो बृहत्तर बग और दूसरा सीमित बग। बृहत्तर बग, उडीसा के मामान प्रसिद्ध है। सीमित बग से तात्पर्य तद्देशीय जन स्थापत्य (local and popular) है, क्योकि वहा के सामाजिक एव धार्मिक विचारो के अनुरूप ही ये विकास अपने आप उदित हुए।

२—बौद्ध-विहार—हम जानते ही है कि महायान सम्प्रदाय के आविर्भाव मे बगाल विहार प्रधान पीठ था। अतएव यहा पर बौद्ध निदर्शन अपनी अभिख्या से आज भी प्रकाशित हैं।

३—पाल और सन राजवशो की छत्रछाया म यह पूर्वीय परम्परा (Eastern School of Art) ने बृहत्तर भारत, द्वीपान्तर भारत मध्य ऐशिया आदि के प्रधान जो मन्दिर आज भी विद्यमान हैं उनके निर्माण म इसी भारत के पूर्वीय स्थापत्य परम्परा को श्रेय है।

अन्त मे हम इस शैली के एक दो निदर्शनो पर भी पाठको का ध्यान आकर्षित करते हैं—पहली श्रेणी म खिचिंग मन्दिर-पीठ है। दूसरा श्रेणी मे निदर्शन राजशाही जिला म पहारपुर पर एक बौद्ध स्मारक विहार है जिसको धर्मपाल ने बनवाया था। तीसरी श्रेणी मन राजाओ की राजधानी लखनौती प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय स्थापत्य म पाल चित्रण (Pal Sculpture) वज्रयान बौद्ध-सम्प्रदाय का प्राल्लास माना जाता है।

अस्तु, इन भूमिज प्रासादो की क्रोड म, सौभाग्य म इस मण्डल म कन्द

नगर (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मंदिर उल्लेख्य है और वह अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में उन्नीसोत्तर अष्टम शतक से लेकर अष्टादश शतक तक मन्दिर बनते रहे। अर्वाचीनों में वृन्दावनी-मन्दिरों के समान विष्णु-पुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

अन्त में इस स्तम्भ में प्रासाद-स्थापत्य-वास्तुल्य इस शैली की भी कुछ प्रस्तावना आवश्यक है। यद्यपि उड़ीसा-मण्डल का भी प्रभाव यहां अनिवार्य था तथापि बंगालों अपनी वैयक्तिक प्रखरता को भी न दबा सके। इन मन्दिरों के शिखरों में बेंगन-आकृति की भूषा विशेष दर्शनीय है। साथ ही साथ प्रासाद-निवेश में मुख-मण्डप का न्यास विशेष उल्लेख्य है। शिखर-विच्छित्तियों में 'पञ्चरत्न' 'नव-रत्न' की भूषा भी प्रख्यात है। इन मन्दिरों में अन्तराल (ठाकुरवारी) गर्भ-गृह का प्रमुख विन्यास है। जोरबंगला के मन्दिरों में द्वि-आयतन—निवेश भी उल्लेख्य है। बाकुरा जिला में स्थित सिद्धेश्वर मन्दिर भी बड़ा प्रसिद्ध है। विहार के मान-भूम जिला के भी मन्दिर विख्यात हैं। इन सभी में यह विच्छित्ति दर्शनीय है। बर्दवान आदि अन्य गौड़ भी आज ये निदर्शन प्रस्तुत करते है

काश्मीर-मण्डल

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहां के मन्दिरों की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य प्रदेश के अनुकूल ही हैं। काश्मीर के मन्दिरों में सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवीं शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शंकराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखते है। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवीं शताब्दी) में आते हैं। इनमें अवन्तिस्वामी का विष्णु-मंदिर तथा अवन्तीश्वर शिव-मंदिर विशेष प्रख्यात है। इनके निर्माण में काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों का हाथ था। शंकरवर्मन, जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुआ, उसने भी बहुसंख्यक मंदिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मंदिरों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं।

इस काश्मीर-मण्डल में नाग-पूजा (Snake-cult) भी पूर्ण आस्था से चल रही थी, अतः इस परम्परा ने भी इस स्थापत्य में कुछ नवीनतायें ला दी थीं। इस अत्यन्त संक्षिप्त समालोचना के अनन्तर हमें बौद्ध-मंदिरों को नहीं भुलाना चाहिए। सर्वप्रथम प्रासाद-कृतियां बौद्ध हैं। जो चैत्य बने वे पूर्ण मंदिराकृति में ही बने। पुरातत्त्वीयान्वेषण (खुदाई) से जो श्रीनगर-निकट हरवान तथा बरमूला के निकट जो भग्नावशेष प्राप्त हैं वे प्राचीनतम निदर्शन हैं।

यह भी ग्राह्य है कि इस पार्वतीय-प्रदेश पर मध्य एशिया तथा उपत्यका-प्रदेश—गान्धार, तक्ष-शिला आदि मण्डलों का भी इस मण्डल पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। इस मण्डल में एक अभिनव शैली अपने आप उदित हो गयी। पर्सी ब्राउन का भी कथन सार्थक है कि इस कला पर पार्थियन, रोमन, हेलेनिस्टिक विदेशी प्रभाव भी असंदिग्ध है। पुनः आगे चलकर दक्षिणापथ पर बौद्ध-प्रासाद उदित हुए जो बड़े भव्य हैं। इनके शिखरों एवं मण्डोवरों की आभा विमानाकृति विशेषकर स्तूपाकृति (Pyramidal shape) विद्यमान है। इस प्रासाद-कला की दूसरी विशेषता स्तम्भ-विच्छित्ति है। आगे चलकर उत्तर भारत की धारा ने भी इस मण्डल को भी आक्रान्त कर दिया—अन्य पञ्चायतन, कीर्ति-स्तम्भादि सब प्रोत्सर्पित हो गये।

नेपाल-मण्डल

काश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नेपाल-मण्डल के मंदिरों का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल में तो घरों से अधिक मंदिर हैं। यहां बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों के मंदिर मिलते हैं। स्वयंभू-नाथ का स्तूप, बुद्धनाथ बौद्ध-नाथ का मंदिर और चुगुनाथ का मंदिर विशेष प्रसिद्ध है। एक ममनाथ (वास्तव में मन्मथनाथ) मंदिर भी सकीर्त्य है। इनमें प्रथम दो मंदिरों का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत में हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध भिक्षुक के रूप में नेपाल की तीर्थ-यात्रा की और उसकी स्मृति में अगणित स्तूपों का निर्माण कराया, उन्हीं में दो ये भी हैं।

मुल्ना राजाओं के राज्याश्रय से नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पड़ी। इस राज वंश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिति तथा यक्ष (१४वीं तथा १५वीं शताब्दी) ने जिस राज-निवेश-योजना को लेकर चले उसमें पूजा-वास्तु प्राप्त हुआ। पशुपति-नाथ का मंदिर नेपाल के मंदिरों में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह १७वीं शताब्दी की कृति है परन्तु इसके प्रांगण में अनेक मंदिरों का न्यास एवं अनेक देवों की प्रतिष्ठा से यह वास्तु-पीठ-कला और तीर्थ दोनों के रूप में विश्वविश्रुत हो गया।

अब आइए, तिब्बत की ओर।

तिब्बत, सिक्किम तथा कांगड़ा—

नेपाल के अतिरिक्त हिमाचल उपत्यकाओं में फैले हुए प्रदेशों में तिब्बत और सिक्किम में भी हिन्दू स्थापत्य के अनेक निदर्शन पाये जाते हैं। तिब्बत में बौद्ध-विहारों का ही प्राधान्य है। इनमें पोत्तल-नामक विहार, जिसको अरुण-प्रासाद, के नाम से पुकारा जाता है, विशेष प्रसिद्ध है। यहीं पर दलाई लामा का निवास है। सिक्किम का स्थापत्य तिब्बत से ही प्रभावित हुआ है। पेमाची-नामक मंदिर यहां का विशेष उल्लेखनीय है। कांगड़ा के दो मंदिर वैजनाथ तथा सिद्धनाथ विशेष प्रख्यात हैं। इन में विशेषकर सिद्धनाथ में सभा मंदिर एवं शिखर-भूषा दोनों का उदाहरण मिलता है।

सिंघल-द्वीप तथा ब्रह्मदेश (बर्मा)

लंका—भारत के दक्षिण एवं उत्तर तथा नेपाल आदि हिमाचल-प्रदेशों के इस प्रासाद-वास्तु वैभव की भाकी देखने के बाद दक्षिण मे पुन पदार्पण करे तो सिंहलद्वीप (लंका) का स्मरण अवश्य आ जाता है। अगाध समुद्र-जल राशि कभी व्यवधान उपस्थित नही कर पाती। आधुनिक भारतीय-जीवन राम-चरित से अधिक प्रभावित है तो राम-चरित मे रावण को कौन भूल सकता है? लंका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आजकल तो सिंहल-द्वीप मे वास्तु-कला की दृष्टि से वहा के राज-पीठो का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। अत यह स्थान अति-प्राचीन समय मे ही बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था। अत वहा पर हिन्दू प्रासादो को कौन प्रश्रय देता? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिव-भक्त था तथापि मंदिरों के नाम से लंका-तिलक (जेतवनाराम) मंदिर (१२वी शताब्दी) का तो सकीर्तन कर ही लेना चाहिए। इसमे बुद्ध भगवान् की जो मूर्ति खोदी गयी है वह लगभग ६० फीट की है। सिंघल-द्वीप-स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दाक्षिणात्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। वहा के स्थापत्य मे पार्वत वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण-मात्रा में। जेतवनाराम (विहार) मंदिर के अतिरिक्त लंका मे एक सप्तभौमिक-विमान भी है जिसको सात-महल-प्रासाद है। पोलनरुवा के ध्वंसावशेषों में दल्ल-मालिगाव के नाम से प्रख्यात वास्तव मे शैव आयतन है जो लगभग १२वी शताब्दी में बना था।

इस सक्षिप्त प्रस्तावना के उपरान्त हम बौद्ध-प्रासादों की विशिष्ट कीर्ति पर भी कर्णकुहरो को अमृत-निस्यन्द से भर देवें। अनुराधापुर बौद्ध-प्रासाद-पीठ पर बहुत से विद्वानो ने लिखा है। अत इस महापीठ को हम नही भुला सकते। इस पीठ पर बौद्ध स्तूप-प्रासादो की भरमार है। सिंहलियो ने इन स्तूपों को षड्वर्ग मे विभाजित कर नाना रचनाएँ की हैं। स्तूप को दगोबा कहते हैं जो मेरी दृष्टि मे गर्भ-गृह का अपभ्रंश है। पुन बौद्धो की पदावली मे धातु-गर्भ (Relic chamber) को सभी जानते हैं। पुन इन स्तूपों

में छत्रावली भी विशेष उल्लेखनीय है। इन प्राचीन स्मारकों में निम्न तालिका विशेष प्रस्तोतव्य है :—

रुवानवाइली	Ruwanwaeli	ई० पू० द्वितीय श०
थूपरामा	Thuparama	„ „ तृतीय „
अभयगिरिया	Abhayagiriya	ई० उ० तृतीय „
जेतवनाराम	Jetawanarama	ई० „ चतुर्थ „

लंका का लोहपासाद (लौह-प्रासाद) भी उल्लेख्य हैं जो मामल्लपुरम् की आकृति का अनुकरण करता है। अस्तु, इतनी ही कथा काफी है।

बर्मा—सिंहल-द्वीपीय कलाके इस किंचित्कर आलोचन के उपरान्त बर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी प्रासंगिक है। यहां का काष्ठ-स्थापत्य wooden-architecture) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो बर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास-धारायें हैं, परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मंदिर ही विशेष विख्यात हैं। इनमें पगान के मंदिर दर्शनी हैं। यह एक मंदिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्य-काल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का देश मण्डित है। माण्डले के इतस्ततः बहु-संख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ। पगोडा एक प्रकार से स्तूप और मंदिर दोनों के लिए ही बोधक है।" कहा जाता है बर्मा में आठ सौ से एक हजार तक मंदिर बने थे जिनको आजकल पगान के ध्वंसावशेष कहे जाते हैं। इन में आनन्द नाम का बड़ा ही अद्भुत मंदिर या उसकी भूमिकाओं एवं शिखरों को देखकर दक्षिण के विमान-प्रासाद की पूर्ण प्रतिमूर्ति प्रतीत होती थी। पगान के अन्य मंदिरों में महाबोधि-मंदिर भी विशेष उल्लेख्य है जो बोध-गया मंदिर के अनुकरण पर बना था

अस्तु, इस स्वल्प स्तवनोपरात अब हमें कुछ विशेष बखान की आवश्यकता नहीं। यहां पर केवल तालिकानुरूप ही उपस्थापन अनुकूल था, परन्तु इतना ही संकेत काफी है कि पगोडा ही बर्मा के प्रासाद हैं।

बृहत्तर-भारतीय-प्रासा

हिन्दू-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद

अ. १. कम्बोज-मण्डल

२. श्याम-मण्डल

३. चम्पा-मण्डल

४. जावा-वाली-सुमात्रा-मण्डल

५. रमण्य-देशीय-मण्डल

६. मलाया-मण्डल

ब- मध्य एशिया—

स. विश्व-विक्रान्त—चीन, जापान तथा अमेरिका—

बृहत्तर भारतीय स्थापत्य

अ. द्वीपान्तर भारत —

भारत-वर्ष के पूर्वदिग्भाग पर फैले हुए इस द्वीपान्तर-भारतीय-स्थापत्य विकास-प्रोल्लास धाराओं की निम्न तालिका से बृहत्तर भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की कितनी महनीय कीर्ति आज भी दिग्दिगन्तव्यापिनी है वह पाठकों की समझ में आसकेगी :—

कम्बोडिया—कम्बोजदेश, लोअर कोचीन, चीन आदि

सियाम—श्याम-देश

अनम—चम्पादेश

जावा-वाली सुमात्रा (व का)

यवन-देश – रमण्य देश

टि०— इसकी राजधानी चूडानगरी को आजकल-नाम म्याग के नाम से पुकारते हैं।

मलाया-प्रदेश—(टापू)

साथ ही साथ हम मध्य-ऐशिया सुदूर ऐशिया को भी नहीं भुला सकते जिसमें चीन, जापान आदि महादेशों में भी भारतीय स्थापत्य ने इन महादेशों को भी आक्रान्त कर लिया था। इससे बढ़कर और क्या विक्रम बताया जा सकता है? यह कला मध्य-अमरिका तक भी फैल चुकी थी जिसके सब के सा के निदर्शन अब भी पुरातत्त्वीयान्वेषणा से पूर्ण समर्थित हैं।

कम्बोज (कम्बोडिया)-मण्डल—इस द्वीपान्तर निवासी ख्मेर लोड कुशल स्थपति थे जैसे जावा के। दोनों ने भारतीय धर्मानुरूप नाना वास्तु कृतियों के निर्माण में परम प्रसिद्ध हुए। ख्मेरों को फर्ग्युसन ने 'one of the greatest building races of the world'— जो कहा वह सर्वथा सत्य है।

इस द्वीपान्तर भारत में यह कम्बोज-शैली मध्य काल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। अंगकोर वट को फर्ग्युसन ने—the largest and most impressive stone temple in existence—जो कहा है

सर्वथा सत्य है। अगकोर संस्कृत शब्द 'नगर' का अपभ्रंश है। यह एक प्रकार का नगर-मंदिर Grand Cathedral है। वट से अभिप्राय बौद्ध भवन से था। पहले यह भगवान् विष्णु के लिये बनवाया गया था, बाद में जयवर्मन (११८१ १२०१) ने इसे बौद्ध-मन्दिर मे परिणत कर दिया। कम्बोडिया के अगकोरवट नामक मंदिर की छटा दर्शनीय है, जो वहा के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ा रही है। यहा के बयोन-मंदिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वाछित है। यह सम्भवत. ब्रह्मा का मंदिर था, इसी प्रकार कम्बोडिया के बत्तेयस्री या वैनतेयश्री मंदिर का निर्माण खमेर-राजवश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ। कम्बोडिया के अन्य मंदिरो में वैग मेलेया तथा बाफुन भी उल्लेख्य हैं।

श्याम-मण्डल—श्याम देश का रामायण में भी सकेत है। बौद्ध-परम्परा में अशोक और कनिष्क दोनो ने ही धर्म-दूतो को बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ श्याम देश भेजा था। श्याम में, खमेरो की सभ्यता (जो ईसवीय शता० से बहुत पुरानी थी उस) में जो स्थापत्य-अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव परिलक्षित है। आगे चलकर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से प्रभावित जिन कलाकृतियों का जन्म हुआ उनमें विहार और मण्डप दोनो प्रकार के वास्तु-सस्थान प्रचुर-मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। राम, सीता, विष्णु, गणेश की प्रतिमायें तथा रामायण और महाभारत के अनेक कथानक यहा के प्राचीन स्मारकों में चित्रित हैं। श्याम के महाधातु-मन्दिर मे तथा अन्नम (फ्रेंच इण्डोचाइना) में जो मंदिर हैं उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपलोकित हैं। भीम-मंदिर, पुन्द्रदेव-मंदिर, प्रम्बनम, पनतरम, आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद अब हमें ऐतिहासिक दृष्टि से भी थोड़ी सी प्रस्तावना करनी है।

वैसे ता श्याम विभिन्न कलो एव स्थापत्य-परम्पराओ के सगम को पूर्णरूप से मार्थक करता है। बहुत से विद्वान् लेखकों ने इस अन्तरीप-प्रदेश की नौ कला-धाराओं का गुणगान किया है, परन्तु ऐतिहासिक निदर्शनों

वे श्रोड मे तीन ही काल विशेष उल्लेख्य हैं :—

द्वारावती-काल	(१०वी शताब्दी तक)
खमेर-काल	(१२वीं से १३वी शताब्दी तक)
ताई-काल (राष्ट्रीय युग)	(१३वी से १७वी ,, तक).

द्वारावती-स्थापत्य.—इस काल में गुप्तो, पल्लवो एवं चालुक्यो का भी प्रभाव पूर्ण प्रत्यक्ष है। इस काल में महातत-मदिर विशेष उल्लेख्य है।

खमेर-काल यही काल इस अन्तरीप का महान् प्रोल्लास है। इस काल में वट महाधातु विशेष कीर्त्य हैं। यह १२वी शताब्दी की निमित है। इसकी शिखर-विच्छत्तियो में नागर-प्रासादो की अमल-शिला (आमलक) भी पूर्ण प्रत्यक्ष है।

ताई-काल :—में लका-तिलक के सदृश एक मदिर बना जो भगवान् बुद्ध की प्रतिमा एव पूजा आदि की प्रेरणा थी। अस्तु, इस स्वल्प सकीर्तन उपरान्त यह भी आवश्यक है कि श्यामदेशीय स्थपति वास्तु विद्या के ही विशारद नही थे, वे नागो, असुरो के समान बडे कुशल तक्षक (Sculptor) भी थे।

चम्पा-मण्डल चम्पा का रामायण मे सकेत है। सुग्रीव ने सीता की खोज मे दूतो को यहा पर भेजा था। अरकानी-परम्परा के अनुसार चम्पा का पहला राजा बनारस के एक राजा का पुत्र था जो यहा आकर रामवती (रामवाई अथवा रामरी) पर रहता था। दूसरी परम्परा के अनुसार चम्पा के भारतीय राजा चन्द्रवशी कौण्डिन्यो के नाम से प्रसिद्ध थे। चम्पा मे बहुत से मन्दिर पाये जाते है। इन मन्दिरो को कला विशारदो ने पाच वर्गों में वर्गीकृत किया है। इन मन्दिरो के स्तम्भ विशेष दर्शनीय हैं। इन वर्गों मे मैसोन, डाग पानगर, पोहाई क्षेत्र-विशेष उल्लेख्य हैं। मैसोन के मन्दिरो मे शिव लिग के अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य इन्द्र तथा अन्य देवो और देवियो की मूर्तिया प्रतिष्ठित हैं। डाग-वर्ग-माला के मन्दिरो मे बौद्ध चैत्यो एव विहारो का ही प्राधान्य है। पो नगर के एक मन्दिर मे उमादेवी की एक सुन्दर प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है। इसी

प्रकार अन्य वर्गीय मन्दिरो की क्या है। डा० मजूमदार के मत मे चम्पा के मन्दिरो और दक्षिणी मामल्लपुरम् के रथ-विमानो मे बडा सादृश्य है। कजीवरम् और तातामी के मन्दिरो का भी कम सादृश्य नही है। चम्पा के मन्दिरो के शिखर मामल्लपुरम् के धर्मराज के रथ और अर्जुन-रथ के शिखरो के समान ही है।

अस्तु इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षण के उपरन्त अब हमे यह भी स्वीकार करना है कि चम्पा के कारीगर पच्चीकारी तथा चित्रकारी मे भी बडे दक्ष थे। पुन जैसा ऊपर सकेत है तदनुरूप यहा के मन्दिरो मे शिखर-विन्यास तथा स्तम्भ-न्यास एवं मूर्ति-न्यास ये सब भारतीय स्थापत्य के प्रतीक हैं।

सुमात्रा-जावा-बाली-मण्डल—यह सुमात्रा स्वर्णद्वीप के नाम से रामायण मे पुकारा गया है। यहा पर पूजा-वास्तु के निदर्शन बहुत कम मिलते हैं। बाली भी मन्दिर-स्थापत्य म विशेष महत्वपूर्ण नही है। यहा के मन्दिर अब ध्वसावशेष है।

जावा—का बोरोबुदर अर्थात् अनेक बुद्धो का आयतन विशेष प्रसिद्ध है। यह यथानाम बौद्ध-गृह है परन्तु जावा मे हिन्दू-मन्दिरो की भी कमी नही है, जिनमे प्रम्बन आदि विशेष उल्लेख्य हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली दुर्गा तथा गणेश की पूजा के लिये निर्मित हुए थे। पुरातत्वीय शिलालेखो के द्वारा जावा के ब्राह्मण-धर्म पर और ब्राह्मण-कला के विकास पर काफी प्रकाश पडता है।

अस्तु, इस मण्डल के स्वल्पोपोद्धात के उपरान्त हम एक तालिका प्रस्तुत करते है जो इस स्थापत्य की सञ्चिका बन जाती है। परन्तु इसके पूर्व हम यह भी सकेत करना आवश्यक है कि पूर्व-काल हिन्दू-मन्दिर-काल था तदनन्तर बौद्ध-प्रसार मे एक महा-मन्दिर बोरो बुदर बन गया जो जावा की कीर्ति दिग्दिगन्त-व्यापिनी बन गयी। तीसरा काल ह्रास-काल है। यह मण्डल वास्तव मे जावा के पश्चिम, पूर्व एवं मध्य से सम्बन्धित है।

पश्चिम-जावा ६२५ ई० हिन्दू	मध्य-जावा (स्वर्णिम-युग) ६२५ से ९२८ ई० इन्डोजावानीज्			पूर्व-जावा ९३८ से १४७८ ई० इन्डोनेसियन हिन्दू-बौद्ध		
	हिन्दू ६२५—७५०	बौद्ध ७५०—८६०	हिन्दू ८६० ९५०	११वीं तथा १२वीं	१२५०—१२९२	१२९४—१४७८
तरुमा-राज्य	डिजेंगप्लेटो	शैलेन्द्र सुमात्रा	'पुनरुद्धार' Restoration	कीर्तिस्तम्भ आदि	सिंगसरी	सिम्पिंग,
				स्नानागार	किदल	पपोह,
			मातृ-मन्दिर	ललातुण्डा	जगो	जोवियंग
पौधी तथा पञ्चम शतक के शिला-लेख	भीम,	कलसन,	परबनम्	बेलहन	मंदिर	पनतरम;-
	अर्जुन,	मेन्डुत,				सवेन्तर
	पुन्ता-देव,	सारी,				तिगवगई
	श्रीकन्दी,	सेवा,				डिजेडाग
	वगेलन,	सेपू				सुकुह
	पेक्लोगम	पवान,				सुखाना
	तथा परिसित	प्लेम्रोसन तथा बोरोबुदर				

टि०—जहां तक मलाया तथा यवन-देश की बात है उस पर विशेष प्रस्तावना की आवश्यकता नही। यवन-देश की राजधानी पूशनगरी को आजकल सांग-क्वाग के नाम से पुकारते हैं। मलाया तो प्रतिनिकट द्वीपान्तर—अन्तरीप-प्रदेश है। अस्तु, अब हम मध्य ऐशिया तथा अमेरिका पर भी विहगावलोकन करें।

मध्य एशिया का भारतीय-स्थापत्य:—

मध्य एशिया के भारतीय-स्थापत्य मे खोटान विशेष उल्लेख्य है। यहा के स्मारको मे स्तूप, विहार, आयतन, मन्दिर, प्रासाद, मण्डप, दुर्ग सभी के निदर्शन प्राप्त होते हैं। इन मे रावक-स्तूप और विहार विशेष प्रसिद्ध हैं, जिस मे सो बुद्धो की प्रतिमायें चित्रित हैं। दादलिक के आयतनो मे हिन्दू-मन्दिरो का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

स. विश्व-विक्रान्त-चीन-जापान-मध्य-अमेरिका-आदि पर भारतीय स्थापत्य निदर्शन.—

भारतीय-स्थापत्य के भारतीय निदर्शनो एवं प्रसिद्ध स्मारको के साथ-साथ हिमाद्रि के अंचल मे फैले हुए नेपाल तथा तिब्बत के स्थापत्य पर दृष्टि डालते हुए द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना अनुपम स्मारको का गुणगान करते हुए हम मध्य एशिया तक पहुंच गये। परन्तु भारतीय स्थापत्य की गौरव-गाथा यही नही समाप्त होती। भारतेतर अन्य देशो एवं महादेशो जैसे चीन और जापान के अतिरिक्त यह कला दूसरे महाद्वीपो विशेषकर मध्य अमेरिका मे भी पहुंची। चीन देश मे जो मन्दिर पाये जाते है वे भारतीय कला मे अत्यधिक अनुप्राणित है। यद्यपि ये ये सभी मन्दिर बौद्ध-पूजा-गृह हैं परन्तु उनका निवेश हिन्दू-मन्दिरो के समान है। यहा के पेकिन नगर का स्वर्ग-मन्दिर अथवा महानाग (ग्रेट ड्रेगन) विशेष उपश्लोक्य है। जापान के बौद्ध-मन्दिरो मे चीन का प्रभाव स्पष्ट है। मध्य अमेरिका मैक्सिकन टैरीटरी म जो युकतान मे मयासुर की वास्तु-कला मिली है उसको वहा के विशेषज्ञ विद्वानो ने भारतीय-कला ही माना है। वहा के ध्वंसावशेषो म जावा के मन्दिरो के समान स्मारक प्राप्त हुए हैं। यदि वहा पर और खोज हो तो और बहुत से महत्व-पूर्ण अवशेष मिल सकेंगे ऐसी आशा है।

वास्तु-शिल्प-पदावली

प्रासाद-खण्ड

१. प्रासाद-काण्ड—नागर-शिल्प;

२. विमान-काण्ड—द्राविड-शिल्प;

३. पुरातत्वीय-काण्ड—स्मारक-निदर्शन।

प्रासाद-काण्ड

१—प्रासाद का अर्थ एवं जन्म तथा विकास—उत्पत्ति एवं प्रसूति ;

२—प्रासादाङ्ग ;

३—प्रासाद-जातियां ;

४—प्रासाद-वर्ग

५—प्रासाद-शैलिया ;

३—प्रासाद-भूषा ;

७—प्रासाद-मण्डप ;

८—*प्रासाद-जगती* ;

९—प्रासाद-प्रतिमा लिङ्ग ।

प्रासाद का अर्थ.—प्रासाद शब्द नैरुक्तिक प्रकर्षेण सादनम् है, अतः यह शब्द 'सादन' वैदिक चिति (चैत्य) से अनुषंग रखता है। इसीलिए यह प्रासाद अर्थात् देव-भवन वैदिक वेदी की आधार-शिला पर अपना उद्भव प्राप्त कर सका। इसी लिए इस की संज्ञा प्रासाद बनी।

वास्तु-शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ साथ महाभारत, रामायण तथा पुराणों आदि में जो देव भवनों के लिए पद प्रयुक्त हुए हैं, वे भी प्रसाद के जन्म, विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। निम्न तालिका तथा समरांगण का निम्न प्रवचन इस तथ्य के समर्थक हैं—

देव-गृह तालिका .

देवगृह	देवकुल	कीर्तन
देवागार	देवतागार	हर्म्य
देवतायतन	मन्दिर	विहार
देवालय	भवन	चैत्य
	स्थान	क्षेत्र
	वेश्म	

स०सू०प्रवचन-तालिका

"देवधिष्ण्यमुरस्थान चैत्यमर्चागृह न तत्
देवतायतन प्राहुर्विबुधागारमित्यपि"

अब तीसरी तालिका देखिए जो भवन जन्म-विकास तथा चर्मोत्थान साक्षात् दिखाई पड़ेगा। तीनों प्रसिद्ध शिल्प-ग्रन्थों (मयमत, मानसार, समरांगण) की भवन-तालिका अब उद्धृत की जाती है ...

मयमत	मानसार	समरांगण
(१९.१०-१२)	१९ १०८-११०)	१८ ८-९)
१. आलय	आलय	नीड
२ निलय	निलय	शरण
३. वास	समालय	आलय
४ आस्पद	आवास	निलय
५ क्षेत्र	क्षय	लयन
६ पद	धाम	ओक
७ लय	वास	सक्षय

८. क्षय	आगार	प्रतिश्रय
९. उद्वसित	सदन	निधान
		संस्थान
१०. स्थान	वसित	निकेत
११. पद	तल	आवास
१२. आवासक	कोष्ठ	सदन
१३ निकेतन	गृह	सद्म
	स्थान	
१४. धाम	गेह	क्षय
	वेश्म	
	भवन	वसति
१५ सदन	हर्म्य	आगार
१६ सद्म	क्षेत्र	वेश्म
	आयतन	
	आधिष्ण्यक	
१७ गेह	मन्दिर	गेह
		गृह
१८ आगार	प्रासाद	भवन
१९. गृह	विमान	धिष्ण्य
२० भवन	मन्दिर	मन्दिर
२१ वास्तु		
२२ वास्तुक		
२३ हर्म्य		
२४ मोध		
२५ मन्दिर		
२६ धिष्ण्यक		
२७ विमान		
२८ प्रासाद		

इन तालिकाओं से प्रासाद का नैरुक्तिक अर्थ तथा प्रासाद-स्थापत्य का विकास समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। कला सभ्यता एवं संस्कृति की सहचरी है। एक युग था जब लोग ऊँचे पर्वतों वृक्षों के कोटरों में पत्थर तोड़

थे, उसी प्रकार प्राचीन मानव वृक्षों के नीचे और गुफाओं में रहते थे। इसी-लिए नीड और निलय इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। हम ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (देखिए वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग हिन्दू साइन्स आफ आर्किटेक्चर) मे लिखा है कि ये पद यथा 'नीड' 'निलय' 'सौध', 'मन्दिर' विमान' सूचित करते है कि भवनों का विकास छोटी सी कुटियों से प्रारम्भ होकर गगन-चुम्बी प्रासादों एव विमानों मे प्रत्यवसित हुआ।

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद के जन्म और विकास (Origin and Development) मे जो आधुनिक विद्वानो ने मत दिये हैं बड़े ही भ्रान्त हैं। कोई हिन्दू प्रासाद के जन्म में स्तूप Theory लेता है कोई छत्र Umbrella Theory लेता है कोई Mound Theory लेता है, परन्तु हम ने इसे Organic Theory माना है और इस सम्बन्ध मे जो प्रामाण्य है उस को हम ने अपने प्रासाद-खण्ड के अध्ययन मे प्रस्तुत किया है वही द्रष्टव्य है।

प्रासाद की उत्पत्ति एव प्रसृति :—

इस स्तम्भ मे उत्पत्ति से अर्थ प्रासाद स्थापत्य से है। प्रश्न यह है कि प्रासाद स्थापत्य की दो प्रमुख- शैलियां है एक उत्तरापथीय (नागर), दूसरी दक्षिणापथीय (द्राविड)। द्राविड शिल्प ग्रन्थो मे देव-भवन के लिए विशेषकर विमान शब्द का प्रयोग किया गया है। समरागण तथा अपराजित पृच्छा जैसे नागर ग्रन्थो मे मन्दिर के लिए 'प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अब सब से महत्वपूर्ण समीक्षा यह है कि द्राविडी अग्रजा है कि नागरी ? विमान अग्रज है कि प्रासाद ? निम्नलिखित समरागण प्रवचन विशेष अवतारणीय है जिस से यह स्पष्ट है कि विमान अग्रज है और प्रासाद अनुज है—यह अन्वीक्षा शिल्प दिशा से समथ्य है —

विमानमथ वक्ष्याम प्रासाद शम्भुवल्लभम्।
स्वर्गपातालमर्त्याना त्रयाणामपि भूपणाम्॥
सर्वेषा गृहवास्तूना प्रासादाना च सर्वत।
प्रासादो मूलभूततोऽय तथाच परिकर्मणाम्॥ स० सू० ४४ १-२
पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्च विमानान्युसुर.द्विषाम्।
वियद्गर्भविचारीणि श्रीमन्ति च महन्ति च॥
तानि वैराजकैलासे पुष्पक मणिकाभिधम्।
हैमानि मणिचित्राणि पञ्चम च त्रिविष्टपम्॥

आत्मनः मूलहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिनः ।
सुरेशिने च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम् ॥
बहून्यन्यानि चैवं स सूर्यादीनामकल्पयत् ।
विशेषाय यथोक्तैस्तान्याकारै प्रतिदैवतम् ॥
प्रासादाश्च तदाकारान् शिलापक्वेष्टकादिभिः ।
नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पतत् ॥
वैराज चतुरश्र स्याद् वृत्त कैलाससज्ञितम् ।
चतुरश्रायताकार विमान पुष्पक भवेत् ॥
वृत्तायत च मणिकमष्टाश्रि स्यात् त्रिविष्टपम् ।
तद्भेदान् श्रीमतोऽन्याश्च विविधानसृजत् प्रभु ॥ ४८ २-८
अथान' मम्प्रवक्ष्यामि प्रासादा शिखरान्वितान् ।
रुचकादीश्चतुष्प ष्टि नामलक्षणतः क्रमात् ।
पूर्वं यानि विमानानि पचोक्तान्यभवस्ततः ।
तदाकारभृत सर्वे प्रासादा पचविंशतिः ॥ ४९ १-२

प्रासाद-जातियां— इस प्रकार निम्नलिखित पच विमानों से निम्नोद्धृत प्रासाद-जातियां उत्पन्न हुई —

(अ) विमान-पचक :—

	सज्ञा	आकार	देव
१	वैराज	चतुरश्र	ब्रह्मा
२	कैलास	वृत्त	शिव
३	पुष्पक	चतुरश्रायत	कुबेर
४	मणिक	वत्तायत	वरुण
५	त्रिविष्टप	अष्टाश्रि	विष्णु

(ब) विमानोत्पन्न-प्रसाद-जातियां
वैराजभेद-चतुर्विंशति चतुरश्र प्रासाद :—

१	रुचक	९	नन्द्यावर्त	१७	प्रमदा प्रिय
२	चित्रकूट	१०	अवतंस	१८	व्यामिश्र
३	सिंह-पञ्जर	११	स्वस्तिक	१९	हस्तिजातीय

४	भद्र	१२	क्षितिभू।T	२०	कुबेर
५	श्रीकूट	१३	भूजय	२१	वसुधाधार
६	उष्णाय	१४	विजा	२२	सर्वभद्र
७	शालाहेर	१५.	नन्दी	२३.	विनान
८	गजयूथप	१६	थौतरु	२४	मुक्तकोण

कैलाश-भेद—दश-वृत्त-प्रासाद—

१.	वलय	६	चतुर्मुख
२	दुन्दुभि	७	माण्डूक्य
३	प्रान्त	८	कूर्म
४.	पद्म	९	ताली-गृह
५.	कान्त	१०	उलूपिक

पुष्पक-प्रभेद-दश-चतुरश्रायत प्रासाद —

१	भव	५	शिविरागृह	९	अमल
२	विशाल	६.	मुखशाल	१०	विभु
३	साम्मुख्य	७.	द्विशाल		
४.	प्रभव	८	गृहराज		

मणिक-प्रभेद दश वृतायत प्रासाद —

१	आमोद	५	भूति	९	सुप्रभ
२	रैतिक	६.	निषेवक	१०	लोचनोत्सव
३.	तुग	७	सदानिषेध		
४	चारु				

त्रिविष्टप-प्रभेद दश अष्टाश्रि प्रासाद—

१	वज्रक	५	वामन	९	व्योम
२	नन्दन	६	लय	१०.	चन्द्रोदय
३	शङ्कु	७.	महापद्म		
४	मेखल	८	हंस		

प्रमादांग—

प्रसादागो को हम निम्न तालिका मे प्रमुख अंगों एवं उपांगो तथा निवेशगो से विभाजित कर सकते हैं—

प्रासाद के प्रधान अग—

१ रूपांग-प्रतीक-शरीरांग

पीठ—पाद आदि

जघा—कटि आदि

मण्डोवर—वक्षस्थल स्कन्धादि

शिखर—शिर-मस्तक-मूर्धादि

निवेशांग—

१. पीठ जगती

२—अन्तराल

३—अर्धमण्डप

४—महामण्डप

५—गर्भ-गृह

टि०—प्रासादाग पुरुषाग के समान विभाव्य हैं। हमने विमान को और प्रासाद को विराट्-पुरुष के रूप मे विभावित किया है, जो हमने अपने अध्ययन म अग्निपुराण, हयशीर्ष-पचरात्र, शिल्परत्न आदि के जो उद्धरण दिए हैं, उनके अनुसार प्रासादागो की निम्न तालिका देखिए जो पुषागों पर आधारित हैं—

१. पादुका	९. पर्व	१७ मूर्धा
२. पद	१० गल	१८, मस्तक
३. चरण	११. ग्रीवा	१९ मुख
४. आघ्रि	१२. कन्धर	२० वक्त्र
५ जघा	१३. कठ	२१ कूट
६. ऊरु	१४ शिखर	२२ कर्ण
७. कटि	१५. शिरस्	२३. नासिका
८. कुक्षि	१६ शीर्ष	२४. शिखा

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद-स्थापत्य का मौलिक आधार क्या है ? जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा, ईश्वर और जीव निराकार एवं साकार अन्योन्याश्रयी हैं अथवा एक हैं उसी प्रकार ब्रह्म (विराट् पुरुष) तथा प्रासाद-देवता एक ही है। प्रासाद का आकार इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक उन्मेष से यह प्रोल्लास दिखाई पड़ता है। नागर प्रासादो के सर्वोच्च शिखर पर कलश एवं आमलक ये जो दो प्रतीक है वे ब्रह्म-रन्ध्र तथा निराकार ब्रह्म के प्रतीक हैं। महाविशाल पीठ से यह प्रासाद आमलक अर्थात् 'बिन्दु' मे प्रत्यवसयित होता है यही रहस्य है।

टि०—प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया नाना-विधा है। यह प्रक्रिया मुख्यतया द्विविधा है—द्राविड़ तथा नागरी। द्राविड प्रासादो (विमानो) मे सभा, शाला, गोपुर रग-मण्डप, परिवार भी प्रासाद—गर्भ गृह अर्थात् प्रासाद (Proper—Sanctum Sanctorium) के अतिरिक्त विशेष निवेश्य है। विमानो के ये यथोक्त अग अनिवार्य है, अतएव मयमत मे यही तथ्य पूर्ण रूप से पुष्ट होता है —

'सभा, शाला, प्रपा, पङ्गमण्ड, मन्दिर—रमय०'

जहा तक नागर-प्रासादो की विधा है उसमे प्रासाद ही मुख्य सन्निवेश्य है। परन्तु इस परम पावन स्थान मे प्रवेशार्थ, अन्तराल, अर्ध-मण्डप एवं महामण्डप भी भुवनेश्वर खजुराहो आदि नागर-प्रासाद-पीठो पर यह निवेश प्रत्यक्ष है।

इन दो वास्तु-शैलियो के अतिरिक्त प्रासाद-निवेश बहुत कुछ देवानुरूप विहित होता है। भगवान् शिव के मन्दिर जिस किसी भी उत्तरापथ के प्रदेश मे जाएं, वहा, जगती तथा प्रासादो के अतिरिक्त एकमात्र अन्तराल, अर्ध-मण्डप अथवा महामण्डप के अतिरिक्त अन्य कोई निवेशाग नही दिखाई पड़ते। अब मुड़िए दक्षिणापथ की ओर, वहा वैष्णव मन्दिरो को देखिए जो भौमिक विमान है। भगवान् विष्णु के लिए आगमो मे स्थानक, आसन एवं शयन तीन मुद्रा-रूप-कोटिया बताई गयी है, अतएव स्थानक पहली भूमि मे, आसन दूसरी भूमि मे तथा शयन तीसरी भूमि मे प्रकल्प्य हैं। अत भगवान् विष्णु राजत्व, आधिराज्यत्व एवं भोग-विलास ऐश्वर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ऐसे वैष्णव मन्दिरो के लिए रग—मडप, परिवार-देवालय, राज-

प्रासादोपम महाद्वार, महागोपुर, महाप्राकार, महाशालाएं एवं अन्य नाना सभायें भी आवश्यक हैं। दक्षिण के रामेश्वरम्, चिदम्बरम, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम् श्री रंगम (रंगनाथ) आदि प्रख्यात मन्दिर इसी प्रोल्लास के निदर्शन हैं।

प्रासाद जातियां

टि०—जाति का अर्थ शैली ही है, जो देवानुरूप एवं स्थापत्यानुरूप दोनों दृष्टियों से विभावित कर सकते हैं। समरांगण-सूत्रधार ही एक-मात्र वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ है, जहां पर निम्न जातियां एवं उनके प्रासाद वर्णित हैं। प्रासाद जाति प्रासाद वर्ग तथा प्रासाद-शैलियां एक प्रकार से एक ही शीर्षक में विचारणीय हैं, तथापि इनको हम निम्न तालिकाओं से स्फुट करेंगे—

प्रासाद जातियां

	द्राविड
नागर	भूमिज
लाट-लतिन	वावाट-वैराट

प्रसाद-वर्ग

टि०—उपर्युक्त जातियों के अनुरूप प्रासाद-वर्गों की निम्न-तालिकाएं उद्धृत की जाती हैं। यहां पर यह भी सूच्य है वैराज सभी प्रासाद-जातियों में भगवान ब्रह्मा के द्वार, प्रकल्पित यह वैराज-प्रासाद-जाति सर्व-प्रमुख एवं आदि जाति है, अतः उसके निम्न भेद प्रभेद इस प्रथम तालिका में दिए जाते हैं—

वैराज-जाति-प्रभव-प्रासाद—प्रथमतालिका—

१	स्वस्तिक	५	हिरण्योक	६	कुम्भक
२	गृहच्छन्द	६	सिद्धयिक	१०	विमान
३	चतुश्शाल	७	द्विशाल	११	वीर
४.	त्रिशाल	८	एकशाल	१२	चतुर्मुख

टि०—ये द्वादश प्रासाद चार चार करके देवानुरूप अर्थात गणों देवों तथा स्कन्द के लिए विनिवेश्य हैं।

दूसरी तालिका—

१,	स्वस्तिक	५	विजय	६	नन्द्यावर्त
२	श्रीतरु	६	भद्र	१०.	विमान
३	क्षितिभूषण	७	श्रीकूट	११	सर्वतोभद्र
४	भूजय	८	उष्णाप	१२	विमुक्तकोण

टि०—यह दूसरी तालिका जनक-जन्य-भावानुरूप प्रस्तुत की जाती है जनक स्वस्तिक-आदि विमुक्तकोणान्त तथा जन्य निम्नोद्धृत रुचकादि धराधरान्त—

रुचक	अवतंस	व्यामिश्र
सिंह-पंजर	नन्दी	हस्तिजातिक
शाला	चित्रकूट	कुवेर
गजयूथप	प्रमदाप्रिय	धराधर

तीसरी तालिका—

वैराजसम्भव—अष्ट-शिखरोत्तम प्रासाद—वह्निजाति-वंशज—

१.	रुचक	५	सर्वतोभद्र
२	वर्धमान	६.	मुक्त-कोणक
३	अवतंस	७	मेरु
४	भद्र	८	मन्दर

समरांगण-सूत्रधार में जहाँ तक जात्यनुरूप प्रासाद-वर्गीकरण का प्रश्न था, उस पर हम इन तीनों तालिकाओं से कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम शैल्यनुरूप आगे की तालिकाओं में यह प्रासाद-वर्ग-विजृम्भण प्रस्तुत करते हैं। किसी भी वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ में इतना पृथुल प्रासाद-वर्ग अप्राप्य है। मानसार में केवल ९८ विमानों का वर्णन है। मयमत आदि में और उसके आधे भी नहीं हैं। इसी प्रकार तन्त्र-समुच्चय, ईशान-शिव-गुरुदेव-पद्धति, कामिकागम, सुप्रभेदागम आदि सभी शिल्प-ग्रन्थों में यही कमी है। अपराजित-पृच्छा ही एक-मात्र ग्रन्थ है जो समरांगण-सूत्र-धार का समकालीन है और उसमें भी इसी प्रकार का विजृम्भण प्राप्त होता है, परन्तु वहाँ पर अर्थात् अपराजित-

पृच्छा में यह वर्गीकरण विशेष पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं स्थापत्यानुषंगिक नहीं है। स० सू० ही एक मात्र वास्तु-ग्रन्थ है जो शास्त्र और कला दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। ११वीं शताब्दी तक बंगाल-बिहार-आसाम में भूमिज शैली भी निखर चुकी थी। नागर-शैली और द्राविड़-शैली ये तो बहुत पुरानी हैं, जो गुप्त, आन्ध्र, गुप्त, वाकाटक कालों में विकसित हो चुकी थीं। *एक महान् शैली का जन्म मध्य-काल की देन है, जिसका नाम लाट शैली* है और लाट का अर्थ गुजरात है। गुजरात उस समय बड़ा ही समृद्ध एवं व्यावसायिक प्रदेश था। यह प्रदेश द्वीपान्तर भारत में भी वाणिज्य से बहुत सम्पर्क रखता था। धन की कमी न थी, अतएव इस संरक्षण में एक बड़ी अलङ्करण-शैली का जन्म हो गया है। गुर्जर प्रदेश (मोधारा) का सूर्य-मंदिर देखें, *उसके सभा मंडप के स्तम्भों की अलंकृतियों को देखें शिखरों की सुषमा* निहारें तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थपति ने तक्षक का रूप धारण कर लिया जिसको हम यह वास्तु-कला, तक्षण-कला (Sculptor's Art) के रूप में उन्मिषित कर सकते हैं। उत्तरापथ में ९वीं और १२वीं शताब्दी के बीच में जो इन अलङ्कृतियों का जन्म हुआ, वही उत्तर मध्यकाल में दक्षिण भारत में विशेषकर मैसूर के मन्दिरों में यहाँ छटा देखने को मिलती है (देखिये ... तथा हलेविड)। अस्तु, अब इस उपोद्घात के बाद यह भी यहाँ पर हम बताना चाहते हैं कि इस समराङ्गण-सूत्रधार में इन शैलियों के क्रमिक विकास के अनुरूप हम तालिकाएं प्रस्तुत करेंगे जो एक-मात्र तालिका (Tables) ही नहीं वरन् विकास एवं ग्रालाम के भी प्रतीक हैं। अतः यह अधिकृत ग्रन्थ लाट-शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, अतः हम पहले लाट शैली को लेंगे।

लाट-प्रासाद—

(अ) प्राक्कालिक-रुचक आदि ६४ प्रासाद-वैशिष्ट्य-पुरस्सर—

क श्रेणी—

२५ ललित अर्थात् लाट—

१.	रुचक	२	भद्र	३	हंस	४	हंसोद्भव
५	प्रतिहंस	६	नन्द	७	नन्द्यावर्त	८	धराधर
९	वर्धमान	१०	श्रीकूट	११	आवास	१२	त्रिकूट

१३	मुक्त-कोण	१४	गज	१५	गरुड	१६	सिंह
१७	भव	१८	विभव	१६	पद्म	२०	मालाधर
२१	वज्रक	२२	स्वस्तिक	२३	शकु	२४	मत्य
२५	मकरध्वज ।						

६ मिश्रक —

२६	सुभद्र	२७	योगिट (?)	२८	सर्वतोभद्र
२६	सिंह-केसरी	३०	चित्रकूट	३०	धराधर
,, ३२	तिलक	३३	स्वस्तिक	३४,	सर्वांगसुन्दर

३० सान्धार—

३५	केसरी	३६.	सर्वतोभद्र	३७	नदन	३८	नदिशालक
३६	नदीश	४०	मदिर	४१.	श्रीवृक्ष	४२	अमृतोद्भव
४३	हिमवान्	४४	हिमकूट	४५	कैलास	४६	पृथ्वीजय
४७	इन्द्रनील	४८	महानील	४६	भूधर	५०	रत्नकूटक
५१	वैडूर्य	५२	पद्मराग	५३	वज्रक	५४.	मुकुटोत्कट
५५	ऐरावत	५६	राजहंस	५७	गरुड	५८,	वृषभ
५६	प्रासाद राज—मेरु	६०	लता	६१.	त्रिपुष्कर	६२.	पचवक्त्र
६३.	चतुर्मुख	६४	नवात्मक ।				

टि०—ललित प्रासादो म प्रथम १८ भेद चतुरश्राकार (चौकोर) मेय हैं, भव तथा विभव चतुरश्रायताकार, पद्म तथा मालाधर ये दोनो गोल (वृत्त) तथा वज्रक, स्वस्तिक एव शकु ये तीनो अष्टकोण विनिर्मेय हैं।

(ग) तृतीय श्रेणी –

टि०—यत १०वी शताब्दी के बाद पूर्त धर्म पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था, अत देवानुरूप-प्रासादो का निर्माण भी स्थापत्य को प्रभावित कर गया। और यह ठीक भी था जैसा देव, जैसे उसके लाञ्छन, परिवार एवं कार्य इसी प्रकार उसके प्रासाद का छद (Prospect and Aspect of the Building) तदनुकूल होना ही चाहिए। अत यह, लाट-प्रासाद की तृतीय श्रेणी निम्न तालिका मे उद्धृत की जाती है, जो आठ देवों के आठ आठ

प्रासाद हैं :—

१—शिव-प्रासाद	विष्णु-प्रासाद	ब्रह्मा के प्रासाद
१. विमान	१. गरुड	१ मेरु
२. सर्वतोभद्र	२ वर्धमान	२ मन्दर
३. गज-पृष्ठक	३ नन्द्यावर्त	३. कैलास
४. पद्मक	४ पुष्पक	४ हंस
५. वृषभ	५. गृहराज	५ भद्र
६. मुक्तकोण	६ स्वस्तिक	६. उत्तुंग
७. नलिन	७ रुचक	७ मिश्रक
८. द्राविड	८ पुण्ड्रवर्धन	८ मालाधर

सौर-प्रासाद	चण्डिका-प्रासाद.	विनायक-प्रासाद
गवय	नन्द्यावर्त	गुहाधर
चित्रकूट	वलभ्य	शालाक
किरण	सुपर्ण	वेणुभद्र
सर्वसुन्दर	सिंह	कुञ्जर
श्रीवत्स	विचित्र	हर्ष
पद्मनाभ	योगपीठ	विजय
वैराज	घटानाद	उदकुम्भ
वृत्त	पताकी	मोदक

लक्ष्मी-प्रासाद	सर्वदेव-साधारण-प्रासाद
महापद्म	वृत्त
हर्म्य	वृत्तायत
उज्जयन्त	चैत्य
गन्धमादन	किंकणीक
शतशृंग	मदन
अनवद्य	पट्टिश
सुविभान्त	विभव
मनोहारी	तारागण

टि०—क. श्रेणी—छाद्य-प्रासादों, सभा-प्रासादों (दे० ग्रायहोल, बादामी आदि प्रासाद-पीठ) तथा ख श्रेणी गुहा-प्रासादों (दे० एलोरा, अजन्ता आदि) के प्रतिबिम्बक तो है ही, साथ ही साथ द्वितीय श्रेणी शिखरोत्तम तथा तृतीय श्रेणी भौमिक विमानों मे भी परिकल्प्य है।

ब-प्रागुत्तर-लाट शैली

मेरु आदि षोडश प्रासाद—

क—श्रेणी—

मेरु	नन्दन	वर्धमान
कैलाश	स्वस्तिक	गरुड
सर्वतोभद्र	मुक्तकोण	गज
श्रीवत्स	रुचक	सिंह
विमानच्छन्द	हंस,	पद्मक तथा वलभी

ख- श्रेणी— मेरु आदि विंशति-प्रासाद

मेरु	सर्वतोभद्र	रुचक
मन्दर	विमान	वर्धमान
कैलाश	नन्दन	गरुड
त्रिविष्टप	स्वस्तिक	गज
पृथ्वीजय	मुक्तकोण	सिंह
क्षितिभूषण	श्रीवत्स	पद्मक
	हंस	नन्दिवर्धन .

ग- श्रेणी—

श्रीधरादि चत्वारिंशत् - प्रासाद—मुद्राः जो देवानुरूप वर्ग्य हैं—

१-भगवती दुर्गा के प्रिय प्रासाद—

श्रीधर	हेमकूट
सुभद्र	रिपुकेसरी
पुष्पक	विजयभद्र
श्रीनिवास	सुदर्शन
कुसुमशेखर	

शिव के प्रिय प्रासाद –

सुर-सुन्दर	नन्द्यावर्त

पूर्ण	सर्व-वर्धन
सिद्धार्थ	त्रैलोक्य-भूषण

ब्रह्मा के प्रिय-प्रासाद —

पद्म
विशाल
हंसध्वज
पद्मबाहु
पद्मोद्भव

विष्णु के प्रिय प्रासाद —

लक्ष्मीधर	महावज्र	रतिदेह
सिद्धकाम	पञ्चामर	नन्दिपाद
मनुकीर्ण		
सुभद्र	सुरानन्द	हर्षण
दुर्धर	त्रिकूट	नवशेखर
दुर्जय		
पुण्डरीक	सुनाभ	महेन्द्र
गिरि-शेखर	वराट	सुमुख

घ—श्रेणी नन्दन आदि दश मिश्रक-प्रासाद—

नन्द	बृहच्छाल सुधाधर	मन्दर
महाघोष	वसुन्धर	पुष्टिस
बुद्धि-राम	सुन्दर	सर्वाङ्ग सुन्दर

प्रतिनिधित्व करती है जैसे छाद्य-प्रासाद, सभा-मण्डप लयन, गुहाघर, गुह राज (Cave temples), शिखरोत्तम तथा भौमिक सभी का प्रतिनिधित्व करता है। अब आइये नागर प्रासादो की ओर।

नागर-प्रासाद—

इस शैली के दो ही वर्ग इस ग्रन्थ मे प्राप्त होते हैं, एक परम्परा गत और दूसरे नवीन उद्भावना के अनुरूप। प्रथम श्रेणी के बीस नागर प्रासाद प्राय सभी स्रोतो मे एक समान हैं—पुराण, आगम तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थ। अब हम इन नागर प्रासादो को निम्न दो तालिकाओं म वर्गीकृत करते हैं —

पारम्परिका-विंशिका

मेरु	विमानच्छन्द	नन्दन
मन्दर	चतुरश्र	नन्दि-वर्धन
कैलास	अष्टाश्र	हसक
कुम्भ	षोडशाश्र	वृष
मृगराज	वर्तुल	गरुड
गज	सर्वतोभद्रक	पद्मक
	सिंहास्य	समुद्र

श्रीकूटादि ३६ नागर-प्रासाद—

श्रीकूट-षटक	अन्तरिक्ष षटक	सौभाग्य षटक
श्रीकूट	अन्तरिक्ष	सौभाग्य
श्रीमुख	पुष्पाभास	विभगक
श्रीधर	विशालक	विभव
वरद्	सकीण	बीभत्स
प्रिय-दर्शन	महानन्द	श्रीतुग
कुलानन्द	नन्द्यावर्त	मानतुग

सर्वतोभद्र-षटक	चित्रकूट-षटक	उज्जयन्त-षटक
सर्वतोभद्र	चित्रकूट	उज्जयन्त
बाहुयोदर	विमल	मेरु
निर्यूहोदर	हर्षण	मन्दर
भद्रकोष	भद्रसकीर्ण	कैलास

समोदर	भद्रविशालक	कुम्भ
नन्दिभद्र	भद्रविष्कम्भ	गृहराज

मेरी दृष्टि मे ये प्रासाद यद्यपि नागरी शैली मे निर्मेय एव निर्मित हुए हैं, तथापि इन को हम क्षुद्र-प्रासादो Minor Temples मे विभाजित कर सकते हैं, जो जन-पदों, ग्रामो, अरण्यो, आश्रमो, तीर्थों, सिरता-कूलो के लिए विशेष उपयोगी थे।

इस महाविशाल उत्तरापथ की इन दोनो शैलियो—लाट एव नागर शैलियो के प्रासादो के उपरान्त हम पहले दक्षिण की ओर मुड़ते है, पुनः बगाल, विहार तथा आसाम मे जाएगे।

द्राविड प्रासाद—

टि० द्राविड़ प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेपता विमान वास्तु Storeyed Structure है। अतः इन प्रासादो को हम भौमिक विमानो म देखते हैं—, शास्त्र तथा कला दोनो मे। मानसार, मयमत आदि सभी दक्षिणात्य ग्रन्थो मे यह विमान-वास्तु भूमि-पुरस्सर वर्णित किया गया हैं। उसी पद्धति मे समरागण-सूत्रधार मे भी इनको द्वादश भूमियो के अनुरूप द्वादश वर्ग मे विभाजित किया गया है। पुनः विमान-प्रासादो के पीठ भी नागर-प्रासादो के पीठ अर्थात् जगती से कुछ वैलक्षण्य रखते हैं। अतएव हम द्राविड प्रासादो के पीठो की तालिका पहले प्रस्तुत करते हैं पुनः उनके वर्ग। पीठ एव तलच्छन्द दोनो ही जगती के माधायक हैं। अत इन दोनो की तालिका उपस्थित की जाती है।

द्राविड-पीठ-पचक	द्राविड-तलच्छन्द-पचक
पाद-बन्ध	पद्म-तलच्छन्द
श्रीबन्ध	महापद्म-तलच्छन्द
वेदी-बन्ध	वर्धमान-च्छन्द
प्रतिक्रम	स्वस्तिक-च्छन्द
खुर-बन्ध	सर्वतोभद्र

द्राविड प्रासाद—

एक-भूमिक	सप्त-भूमिक
द्विभूमिक	अष्ट-भूमिक
त्रि-भूमिक	नव-भूमिक
चतुर्भूमिक	दशभूमिक

तलच्छन्द—प्रासाद-प्रमृति के सम्बन्ध में जिस मौलिक विमान-पचक का ऊपर सकेत है वह आकारानुरूप—चतुरश्र, चतुरश्रायत, वृत्त वृत्तायत एवं अष्टाश्रि जो प्रतिपादन किया गया है तदनुरूप यह बाह्य-तलच्छन्द है। साथ ही साथ आन्तर तलच्छन्द भी उपश्लोक्य है।

आन्तर तलच्छन्द

गर्भगृह भ्रमणी-अन्धकारिका—Circum-ambulatory passage and walls of the Sanctum Sanotorium

बाह्य तलच्छन्द—

टि० बाह्य तलच्छन्द के नाना अग है जिन की सख्या दो दर्जनो से भी अधिक है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उन्हे दो प्राधान अगो म विभाजित किया किया जा सकता है —

१. रचनात्मक २. मानात्मक

इन मे प्रमुख अग हैं—

भद्र	कर्ण	नन्दी	तिलक
मुखभद्र	प्रतिकर्ण	वारिमार्ग	स्कन्ध
प्रतिभद्र	रथ	कोणिका	ग्रीवा
उपभद्र	प्रतिरथ	नन्दिका	गल आदि आदि
	उपरथ		

ऊर्ध्वच्छन्द—

टि० ऊर्ध्वच्छन्द से तात्पर्य है Structural Disposition वह छन्द-षट्क मे विभाजित है—जैसा भवन वैसा रूप। मेरु, खण्ड-मेरु, आदि इन छहो छन्दों पर हम अपने भवन निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं वह वहीं द्रष्टव्य है।

पीठ—पीठ के सम्बन्ध म हम विमान-वास्तु मे विशेष चर्चा करेंगे।

द्वार—

एक-शाख-द्वार

त्रिशाख-द्वार

पच-शाख-द्वार

टि०—शाखा का अर्थ (Door-Frame) में है। ये ही शाख द्वार शास्त्र एवं कला मे विशेष मगत हैं।

सप्त-शाख द्वार

नव शाख-द्वार।

अपराजित-पृच्छा मे एक म लगाकर नौ तक शाखाओं का वर्णन है जिनकी मज्ञा ये यहा प्रस्तुत की जाती हैं —

पद्मिनी	नव-शाख	गान्धारी	चतु शाख
हमुकुली	अष्ट-शाख	सुभगा	त्रिशाख
पस्तिनी	सप्त-शाख	सुप्रभा	द्विशाख
च-शाख	नन्दिनी	रमरा (?)	एक-शाख
पट्शाख	मालिनी		

टि०— अन्य शिल्प-ग्रन्थों जैसे वास्तु-राज-वल्लभ, प्रासाद-मडन आदि मे इन शाखाओं पर बडा प्रथुल विजृम्भण है। द्वार-मान पर हम अपने भवन-निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं, जहा तक भूपा का सम्बन्ध है उस पर थोडा सा यहा संकेत आवश्यक है।

द्वार-भूषा—

प्रासाद-स्थापत्य मे द्वार-भूषा मध्यकालीन एवं उत्तर-मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की एक नवीन अलकृति-शैली के रूप मे हम इसे विभावित कर सकते हैं। जैन-मदिरो म तथा लाट-शैली मे निर्मित प्रासादो जैसे आबू तथा मोधारा (गुजरात) आदि मे द्वार भूषा बडी ही आकर्षक एवं अलकृति-प्रधान है। द्वार-कपाट पर पच्चीकारी से नाना रूप-प्रतिमायें—ललाट-बिम्ब, देवता-प्रतिबिम्ब नाना लतायें—फत्तानी आदि सब इन शाखाओं पर चित्रित हैं। अतएव इन चित्रणो के लिये एक-शाखद्वार से न शाशाख-द्वार की कल्पना एवं रचना-विच्छित्तिया हुई हैं।

प्रासाद उदय तथा शिखर—

प्रासाद का उदय तथा उसकी शिखर-वर्तना रैखिक कला विशेषकर रेखा-गणित की प्रक्रिया से Geometrical Progression and Regression से सम्पाद्य है, अतएव नागर-वास्तु-विद्या की सबस बडी देन रेखा कम Setting of theCurves है।

यहा पर विशेष समीक्षण असम्भव है। हमारे सुपुत्र डा० नतिकुमार शुक्ल ने इस सम्बध म बडी छानबीन तथा अध्यवसाय एव तत्परता से

पञ्च-भूमिक	एकादश-भूमिक
षड् भूमिक	द्वादश-भूमिक

टि॰ जहां तक इनकी सज्ञाओं, विधाओं एवं अ विधाओं का प्रश्न है वह स॰ सू॰ के अध्ययन से सम्बन्ध नहीं रखता। अतः यह विवरण यहां पर प्रस्तोतव्य नहीं है अब हम वावाट (वैराट) तथा भूमिज (अर्थात् बंगाल, बिहार आसाम) प्रासादों की तालिका उपस्थित करते हैं।

वावाट

क—श्रेणी दिग्भद्रादि १२—		ख—श्रेणी वृक्षजातीय कुमुदादि ७
१	दिग्भद्र	कुमुद
२	श्रीवत्स	कमल
३	वर्धमान	कमलोद्भव
४	नन्द्यावर्त	किरण
५	नन्दि वर्धन	शतशृङ्ग
		निरवद्य
६	विमान	सर्वांग-सुन्दर
७	पद्म	(ग) श्रेणी अष्टशाल-स्वस्तिक-आदि—५
८	महापद्म	स्वस्तिक
९	श्रीवर्धमान	वज्रस्वस्तिक
१०	महापद्म	हर्म्यतल
११	पञ्चशाल	उदयाचल
१२	पृथिवी-जय	गन्धमादन

टि॰—इन भूमिज प्रासादों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनकी शैली नागर शैली से ही प्रभावित हुई थी। नागर क्रिया में ही इन की भूषा विहित है। अतएव इन प्रासादों की शिखर-वर्तना में निम्नलिखित रेखाओं पर सत्त किया गया है, जिनकी निम्न तालिका मात्र प्रस्तुत की जाती है। साथ ही उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढ़ीकरणार्थ स॰ सू॰ का प्रवचन भी अवतरणीय है—

> उदयस्य विभदेन रेखा या. पञ्चविंशति ।
> लतिनागरभौमाना ता. कथ्यन्ते यथागमम् ॥

नागर-क्रिया-रेखा-पञ्चविंशति

शोभना	लोका	वसुन्धरा

भद्रा	करवीरा	हसी
सुरूपा	कुमुदा	विशाखा
सुमनोरमा	पद्मिनी	नन्दिनी
शुभा	कनका	जया
शान्ता	विकटा	विजया
कावेरी	देवरम्या	सुमुखा
सरस्वती	रमणी	प्रियानना

——?

इस समरागणीय प्रासाद-वर्ग की तालिकाओं के उपरान्त अब हमें यहा यथा-सकेत शैलियो की छानबीन उचित नही वह अध्ययन-खण्ड मे परिशीलनीय है, अत अब हम प्रासाद-भूषा पर आते हैं। प्रासाद-भूषा एव प्रासादाग एक प्रकार से अगागिभाव हैं। अतः इस मिश्रण-योजना से अब एतद्विषयिणी तालिकाए निम्न प्रमुख अगानुषगिका तालिका प्रस्तुत की जाती है —

१. वास्तु-क्षेत्र Site Plan
२ तल-च्छन्द Internal as well External Arrangement of the Ground Plan
३ ऊर्ध्वच्छन्द Arrangement of Parts in Elevation
४ पीठ Basement
५ द्वार-विधा, मान एव भूषा
६ प्रासाद-उदय
७ मण्डोवर-(मण्डप+उपरि)
८ शिखर Spire
९ कलश Finial
१०. रेखा Profile
११. प्रासाद-भूषायें Ornamentative motifs
१२ पत्र तथा कण्टक Mouldings

वास्तु क्षेत्र —

टि० यह विषय हम अपने भवन-विवेश मे ले चुके हैं, वह वही पठनीय हैं।

एतद्विषयिणी पदानुरूप Terminological अध्ययन के द्वारा (दे० A Study of Hindu Art and Architecture with esf. ref to Terminology) जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, उसको विश्व-कीर्ति डा० कैमरिश एवं प्रो० के० वी० कार्डरिंगटन (जिन्होंने इस पी-एच० डी० थीसिस को जाचा था) इन दोनों ने बडी प्रशंसा की है—वह इस प्रकाशित प्रबंध मे ही विशेष परिशीलनीय है। अस्तु, हम यहा इन प्रासादोदय एव शिखर—वर्तना के निम्न प्रधान अगों एव उपन्यासों की तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

रेखा		
कला	स्कंध	शृंग
खण्ड	वलण	अण्डक
चार	घण्टा	उर शृ ग (उरोमन्जरी)
	शिखर	गजपृष्ठ

ठि०—इन रेखाओं के नाना भेद है जैसे—

त्रिखण्डा	नवखण्डा	त्रयोदशखण्डा
चतुष्खण्डा	दशखण्डा	चतुर्दशखण्डा
पचखण्डा	एकादशखण्डा	पचदशखण्डा
षट्खण्डा	द्वादशखण्डा	षोडशखण्डा
सप्तखण्डा		सप्तदशखण्डा
अष्टखण्डा		अष्टादशखण्डा

टि०—इन सभी की अपनी अपनी सज्ञायें है जो अ० पृ० मे पठनीय है। मानसद ने भी इनकी सज्ञानुरूप तालिकायें दी है। यत यह अध्ययन स० सू० से सम्बंधित है अत उनकी यहाँ अवतारणा विवेष सगत नही। इन रेखाओं की तालिकानुरूप सज्ञाय २६५ है जो रेखाओं के चारानुरूप (1, $1\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$, $1\frac{3}{4}$, २; पुन $4\frac{3}{4}$ तक १६ भेद हो जाते है) ही ये सब गणनायें गतार्थ है।

अध्ययन खण्ड मे प्रासाद निवेश की भूमिका मे शिखरों की विधा—लता-शृंग अडक-शिखर आदि पर कुछ प्रकाश डाल चुके है। पुन स्कन्ध-कोष, वेणुकोष ग्रीवा, कलश, मातुलुंग आदि के साथ साथ आमलक आदि पर भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अत अब इस स्तम्भ को यहीं पर समाप्त कर देना उचित है क्योंकि मडोवर का अर्थ—माडपोपरि है तथा मडप वास्तु का प्रमुख अग वितान एवं लुमायें है, जो मडप-काड मे विवेच्य होगा। प्रासाद

भूषणों से तात्पर्य प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य है जो हम प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-काण्ड में थोड़ा बहुत प्रस्तुत करेंगे।

प्रासाद—एक-मात्र भवन नहीं, वह दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का साक्षात् मूर्तिमान रूप है। यक्ष-विद्याधर-किन्नर-गन्धर्व-गण एवं अप्सराएँ तथा मुनि-ऋषि-भक्त-गण आदि आदि के साथ शार्दूल, शक्ति, मिथुन—ये सब चित्रण पूरे जीवन, पूरे दर्शन, पूरे धर्म एवं पूरी प्रकृति एवं विकृति दोनों की प्रतीकात्मकता को व्यक्त करते हैं।

प्रासाद मण्डप—

	मण्डप	द्विविध
१.	संवृत	
२.	विवृत	

स० सू० में दो वर्ग हैं —अष्ट-विध तथा सप्तविंशति-विध।

अष्ट (८) मण्डप—

१	भद्र	५	स्वस्तिक
२	नन्दन	६	सर्वतोभद्र
३	महेन्द्र	७	महापद्म
४	वर्धमान	८	गृहराज

सप्तविंशति (२७) मण्डप—

१	पुष्पक	१०	विजय	१९	मानव
२	पुष्पभद्र	११	वस्तुकीर्ण	२०	मानभद्र
३	सुव्रत	१२	श्रुतिजय	२१	सुग्रीव
४	अमृतनन्दन	१३	यज्ञभद्र	२२	हर्ष
५	कौशल्य	१४	विशाल	२३	कर्णिकार
६	बुद्धि-संकीर्ण	१५	सुश्लिष्ट	२४	पदाधिप
७	गजभद्र	१६	शत्रुमर्दन	२५	सिंह
८	जयावह	१७	भागपञ्च	२६	श्यामभद्र
९	श्रीवत्स	१८	नन्द	२७	सुभद्र।

पञ्चविंशति (२५) मडप-वितान—

१	कोल	९	भ्रमरावली	१८	मंदार
२	नयनोत्सव	१०	हसपक्ष	१९.	कुमुद
३	वोलावित	११	कराल	२०.	मद्य
४	हस्तितालु	१२.	विकट	२१.	विकास
५	अष्टपत्र	१३	शखकुट्टिम	२२.	गरुडप्रभ
६	शरावक	१४.	शंखनाभि	२३.	पुरोहित
७	नागवीथी	१५	सपुष्प	२४.	पुरारोह
८	पुष्पक	१६	शुक्ति	२५	विद्युन्मदारक।
		१७	वृत्त		

वितान-वास्तु-विच्छित्ति-लुमायें—सप्तधा लुमा

तुम्बिनी	श्राम्माता	हेला
लम्बिनी	मनोरमा	
कोला	शान्ता	

टि०— जिस प्रकार में शिखर प्रासाद का मौलिक रूप है उसी प्रकार वितान मण्डप का। यह वितान त्रिविध है जो Ceiling के अनुरूप.—

समतल वितान क्षिप्रतल वि० उत्क्षिप्ततल वि०

पुनः इनकी विधा चतुर्धा है—

पद्मक नाभिच्छन्द समामार्ग मन्दारक

पुन —इनको शैल्यनुरूप हम निम्न चार उपवर्गो मे कवलित करते है —

शुद्ध सघाट भिन्न उद्भिन्न

इस प्रकार इन वितानों का टोटल निम्न तालिका से ११११ होता है:—

	पद्मक	नाभि	समाभार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	७४	१६	१०
सघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८

- ११११

टि०— यह मण्डप वास्तु नागर-शैली का है। द्राविडी शैली का मण्डप-वास्तु बड़ा विलक्षण है। उसमे स्तम्भ-सख्या एवं स्तम्भ-चित्रण ही वैशिष्ट्य

है। यह विवरण हम विमान-वास्तु में थोड़ा सा उपस्थित करेंगे। अब आइये प्रासाद-जगती पर।

प्रासाद-जगती—

वैसे तो जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अंग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार इस प्रकार इस प्रासाद-पुरुष का कलेवर जगत्याश्रित ही है। परन्तु स० सू० में जगतियों को जगती-प्रासादों के रूप में विभावित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरापथ में पौरजानपदीय मन्दिर शिवालय विशेषकर एक छोटे आयतन Shrine के अतिरिक्त जो विशेष छटा इन मन्दिरों में दर्शनीय है वह एक-मात्र ऊंची ऊंची चौड़ी लम्बी जगती ही है जहां पर जनता एकत्रित होती है—धार्मिक उत्सव, पूजोत्सव (शिवरात्रि आदि) मनाती हैं अतएव स० सू० का प्रवचन यह पठनीय है:

> त्रिदशागारभूत्यर्थं भूपाहेतोः पुरस्य तु।
> भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वाकाल च शान्तये ॥
> निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य सिद्धये।
> मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम् ॥
> जगतीनाथ ब्रूमो लक्षण विस्तरादिह ॥

ऊपर जो हमने संकेत किया है उसका इस उद्धरण से पोषण हो जाता है। पुनः इन जगतियों पर नाना परिवार-देवों की मढ़ियां (Smaller shrines) भी चारों ओर विन्यसित की जाती हैं। यह परम्परा पंचायतन-पूजा-परम्परा के अनुरूप है।

पुनः—जगती जैसा हमने पीठिका के रूप में, वास्तु-अवयव है, उसी प्रकार प्रासाद पुरुष है—विराट-पुरुष है जिसमें तीनों लोक नियत हैं। अतः विराट् पुरुष त्रिलोकी है तो इस दार्शनिक दृष्टि से प्रासाद लिंग है तथा जगती पीठिका है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूर्ति के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार प्रासाद-लिंग के लिए जगती पीठिका अनिवार्य है। स० सू० के निम्न प्रवचन को पढ़िए —

> प्रासाद लिंगमित्याहुर्निजगत्त्वनाद यत्
> तनस्तदाधारतया जगती पीठिका मता ॥

अस्तु, अब हम जगती की दोनो तालिकाओ की अवतारणा करते हैं एक जगती-शाला दूसरी जगती-मज्ञा। यत. जगती पर भिन्न दिशाओ एव कोणो पर परिवार देवालय स्थान-विहित हैं, अत. तदनुरुप ये शालाए अनिवार्य हैं:—

जगती-शाला-षटक—

कर्णोदभवा	भद्रजा	मध्यजा
भ्रमोत्था	गर्भसम्भवा	पार्श्वजा

एकोनचत्वारिंश (३९) जगती—

वसुधा	कुलशीला	विश्वरूपा
वसुधारा	महीधरा	आदिकमला
वहन्ती	मन्दारमालिका	त्रैलोक्य सुन्दरी
श्रीधरा	अनगलेखा	गन्धर्वावितिका
भद्रिका	उत्सवमालिका	विद्याधरकुमारिका
एक-भद्रा	नागारामा	सुभद्रा
द्वि-भद्रिका	मारभव्या	सिंहपञ्जरा
त्रि-भद्रिका	मकरध्वजा	गन्धर्वनगरी
भद्रमाला	नन्द्यावर्ता	अमरावती
वैमानी	भूपाला	रत्नप्रभा
भ्रमरावली	पारिजातकमञ्जरी	त्रिदशेन्द्रसमा
स्वस्तिका	चूडामणिप्रभा	देवयन्त्रिका
हरमाला	श्रवणमञ्जरी	..

टि० इन ३९ के अतिरिक्त यमला, अम्बुधरा, नेत्रा, दोर्दण्डा, सण्डला तथा सिता भी परिसंख्यात हैं अत: इनकी सख्या ४५ हो गयी।

प्रासाद-प्रतिमा-लिंग—

नागर वास्तु-विद्या के अनुरूप शिव मन्दिर ही प्राचीन-काल, पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल मे विशेष प्रथित थे, अत इन मन्दिरो मे शिव-लिंग ही प्रासाद-प्रतिमा प्रधाना प्रतिमा स्थाप्या थी। स० सू० के अनुसार प्रासाद-प्रतिमा-लिंग के निम्न वर्ग प्रकल्पित हैं—

मुख-लिंग—जो भगवान पशुपति का मुख लिंगोपरि चित्र्य है।

द्रव्य-लिंग...दे० प्रतिमा-काण्ड—

लिङ्ग-भाग ब्राह्म, वैष्णव, महेश दे० प्र० का०

लोक-पाल—दे० एन्द्रादि-लिंग दे० अन्तिम अध्याय एवं उसका अनुवाद।

विशिष्ट लिंग—पुण्डरीक, विशाल श्रीवत्सादि।

लिंग-पीठ— पीठ भाग—रुद्रादि-भाग
पीठोत्सेध
पीठ प्रकार

टि०—१ ये सब विवरण अनुवाद-स्तम्भ में द्रष्टव्य है।

टि०—यथाप्रतिज्ञात प्रासाद-भूषानुरूप यहां पर प्रासाद-प्रतिमाओं अर्थात् Sculplure पर भी समीक्षा करनी है।

प्रासाद-प्रतिमा—से तात्पर्य द्विविध है—गर्भ-प्रतिता, भूषा प्रतिमा। गर्भ प्रतिमा से तात्पर्य पूज्य प्रतिमा से है जो प्रासाद (Sanctum Sonctorium) में प्रतिष्ठा पुरस्सर प्रतिष्ठापित होती है। यत प्रासाद एक क्लाकृति नहीं वह हमारे सम्पूर्ण धर्म एवं दर्शन का प्रतीक है, अत उसके कलेवर पर निराकार साकार, ब्रह्म तथा जीव, स्थावर एवं जगम जगत सभी चित्र्य हैं तो नीच से लगाकर अर्थात् पीठ अथवा जगती से प्रारम्भ कर आमलक अर्थात् (निराकार ब्रह्म का प्रतीक) में प्रत्यवसित होते है। यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर मिथुन, अप्सरायें वल्ली-लता वीरूध पादप-पारिजात-शार्दूल-शक्ति आदि आदि सभी ये प्रासाद-भूषा-प्रतिमाओं के निदर्शन है।

—•—

विमान--काण्ड--द्राविड़--शिल्प

१—विमानाङ्ग

२—विमान-निवेश—

प्राकार
गोपुर
मण्डप
परिवार
शालायें

३—विमान-भेद ।

विमानाग—

टि०—पीछे प्रासाद-काण्ड मे द्राविड प्रासादो अर्थात् भौमिक विमानो की विशेषता पर कुछ हम सकेत कर ही चुके हैं। अतः अब यहा पर स्वल्प मे इस प्रासाद-पदावली को पूर्ण करने के लिये हम सर्वप्रथम विमानागो पर प्रकाश डालेंगे। निम्न तालिका देखें —

अधिष्ठान	द्वार	कुम्भलता
पीठ	वेदिका	प्रस्तर
उप-पीठ	भित्ति	उत्तर
पद्म	शाला	नीप्रफलक
गर्भ-गृह	कूट	शिखर
अम्बुमार्ग	पजर	स्तूपिका
स्तम्भ	जालक	विमान-शिखर

अब इनके भेद-प्रभेदो एव विच्छित्तियो की तालिका प्रस्तुत की जाती है —

पीठ उप-पीठ-अधिष्ठान—

ये सब अगागिभाव से परिकल्प्य हैं अधिष्ठान अर्थात् base किसी भी भवन के लिये अनिवार्य है, परन्तु अधिष्ठान के चिरकाल-सहत्वार्थ उप-पीठ भी अनिवार्य है—मयमत का यह निम्न प्रवचन कितना सार्थक है :—

श्रधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठ प्रयोजयत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थंच शोभार्थं तत्प्रवक्ष्यते ॥

अधिष्ठान के पर्याय—

मसूरक	आधङ्ग	भुवन
वास्त्वाधार	धरातल	पृथिवी
कुट्टिम	आधार	भूमि
तल	धारिणी	आदि

अधिष्ठान-विच्छित्तिया

काश्यपीय	शिल्प रत्नीय
उपान	उपान
जगती	कुम्भ
कुम्भ	जगती
खण्ड	कन्धर
पट्टिका	प्रस्तर

अधिष्ठान-भेद—१४

"अधिष्ठान मय प्राह चतुर्दशविध पृथक्"

१	पादबन्ध	८	श्रीकान्त
२	उग्रबन्ध	९	श्रेणीबन्ध
३	प्रतिकर्म	१०	पद्मबन्ध
४	पद्मकेसर	११	वप्रबन्ध
५.	पुष्प-पुष्कल	१२	कपोत-बन्ध
६	श्रीबन्ध	१३	प्रति-बन्ध
७	मञ्च-बन्ध	१४	कलश-बन्ध

टि० १—काश्यप-शिल्प मे १४ के बजाय २२ अधिष्ठान-भेद हैं। मानसार मे ८ वर्गों मे ८ उप-वर्ग और हैं—६४।

टि० २—जहा तक अम्बु-मार्ग, गर्भ आदि का प्रश्न है, वह पदानुक्रम Terminological point of view से विशेष सकीर्त्य नही अत अब हम स्तम्भ पर आते हैं।

स्तम्भ—

स्तम्भ-पर्याय—मयमते		मानसारे	
स्थाणु	चरण	जघा	स्थूण
स्थूण	आङ्घ्रिक	चरण	पाद
पाद	तलिप	स्तली	कम्भ
जघा	कम्प	स्तम्भ	अर
		अङ्घ्रिक	भारक
		स्थाणु	धारण

स्तम्भ-भेद—

आकृत्यनुरूप	विच्छित्यनुरूप
ब्रह्मकान्त	चित्रकण्ठ
विष्णुकान्त	पद्मकान्त
रुद्रकात	चित्रस्तम्भ
शिवकान्त	पालिकास्तम्भ
स्कन्दकान्त	कुम्भस्तम्भ
चन्द्रकान्त	

द्वार—

द्वारांग—कार्यसिद्ध्यर्थ तथा शोभार्थ—

भ्रमरक प्रक्षेपणीय	पुलक-आर्तव-कुण्डल
अर्गला वलय	श्रीमुख
सन्धिपाल पत्रक	इन्दु-सकल

टि०—सोपान, घनाद्वार (Thick Door), तोरण आदि सर्ववेद्य है—स्थाना-भाव विशेष संकीर्तन नहीं।

भित्ति—

भित्ति आदि पर केवल मानादि विवरण हैं। यहा पर भित्ति के लिये वेदिका अनिवार्य है। पुन: भित्ति मे ही नाना भूषायें स्थापत्यानुरूप परिकल्प है—कूट, कोष्ठ, पंजर, शालायें, जालक, कुम्भलता आदि आदि।

उत्तर-प्रस्तर—जहा तक उत्तर एवं प्रस्तर का प्रश्न है वे विशेष विवेच्य हैं। शिल्पाचार्यो ने हिन्दू-प्रासाद को अंगानुरूप निम्न षडङ्ग मे विभाजित किया है, जो प्रधान अग हैं—

अधिष्ठान	गल
पाद	शिखर तथा
प्रस्तर	स्तूपिका

प्रस्तर एव उत्तर एक दूसरे मे अनुषगित है, जो पाद अर्थात् स्तम्भोपरि निर्मेय है।

शिखर एवं स्तूपिका—शिखर पर हम कुछ संकेत कर ही चुके है। विमान-वास्तु की विशेषता स्तूपिका है तथा प्रासाद-वास्तु की विशेषता आमलक है। यह सब अध्ययन मे देखें। यह इतना गहन विषय है कि बिना नाना शिल्प-ग्रन्थो के पूर्ण परिशीलन के, इस शिखर-विन्यास पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अस्तु अब हम आते हैं स्वल्प मे विमान-निवेश पर।

विमान-निवेश—प्रासाद-निवेश से विलक्षण है—इस पर हम पहले ही कुछ संकेत कर चुके है। अब हम अपनी उद्भावनानुरूप विमान-निवेश को निम्न वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

विमान	(गर्भ–गृह) Proper
प्राकार	मण्डप

गोपुर	शालायें
परिवार	रग म डप प्रपा आदि

विनान भेद — विमान प्रासादो को शिल्प-ग्रन्थो ने अल्प-प्रासाद, महाप्रासाद, जाति-प्रासाद इन को प्रमुख वर्गो मे विभाजित किया है। पुन ये प्रासाद तलानुरूप विभाजित किये गये हैं—एकतल, द्वितल आदि आदि। पुन मानारूप इन्हें छन्द, विकल्प, आभास मे वर्गीकृत किया गया है। अस्तु, इस अत्यन्त स्थूल-समीक्षोपरान्त अब हम मानसारीय ९६ विमानो की तालिका प्रस्तुत करते हैं जो आगे का स्तम्भ है अर्थात् विमान-भेद वह यही पर उपस्थाप्य हैं —

एक-तल-विमान-८	द्वितल-विमान-८	त्रितल-विमान-८
वैजयन्तिक	श्रीकर	श्रीकान्त
भोग	विजय	आसन
श्रीविशाल	सिद्ध	सुखालय
स्वस्तिबन्ध	पौष्टिक	केशर
श्रीकर	अन्तिक	कमलाग
हस्तिपृष्ठ	अद्भुत	ब्रह्मकान्त
स्कन्दतार	स्वस्तिक	मेरुकात
केशर	पुष्कल	कैलाश

चतुस्तल-विमान-८	पचतल-विमान ६	षट्तल विमान ११
विष्णुकात	ऐरावत	पद्मकात
चतुर्मुख	भूतकात	कातार
सदाशिव	विश्वकात	सुन्दर
रुद्रकात	मूर्तिकात	उपकात
ईश्वरकात	यमकात	कमलाक्ष
मन्त्रकात	गृहकात	रत्नकात
वैदिकात	यज्ञकात	विपुलाक
इन्द्रकात	ब्रह्मकात	ज्योतिष्कात
	महाकात	सरोरुह
	कल्याण	विपुलकीर्ति
		स्वस्तिक-कात
		नन्द्यावर्त
		इक्षुकात

सप्त-तल-विमान-८

पुण्डरीक
श्रीकांत
श्रीभोग
धारण
पञ्जर
आश्रमागार
हर्म्यकांत
हिमकांत

अष्टतल-विमान-८

भूतकांत
भूपकांत
स्वर्गकांत
महाकांत
जनकांत
तपस्कांत
सत्यकांत
देवकांत

नवताल-विमान-७

सौरकांत
रौरव
चण्डित
भूषण
विवृत
सुप्रतिकांत
विश्वकांत

दशतल-विमान-६

भूकांत
चन्द्रकांत
भवनकांत
अन्तरिक्षकांत
मेघकांत
अब्जकांत

एकादश-तल-विमान-६

शम्भुकांत
ईशकांत
चन्द्रकांत
यमकांत
वज्रकांत
अर्ककांत

द्वादशतल-विमान-१०

पाचाल
द्राविड
मध्यकांत
कालिंगकांत
वराट
केरल
वेशरकांत
मागधकांत
जनकांत
स्फूर्जक(गुर्जरक)

प्राकर

प्रयोजन—	पत्ति	भोगार्थ
	परिवार	परिवार देवताओं के लिए
	शोभा	यथानाम
	[illegible]	यथानाम

भेद—५	अन्तर्मण्डल	मध्यहारा
	अन्तर्हारा	प्राकार
		महामर्यादा

टि०—स्थापत्यानुरूप इन को भी जाति, छन्द, विकल्प एवं आभास, की अपनी अपनी श्रेणियों में रक्खा गया है।

गोपुर—इनको सप्तदश भूमियों में भी शिल्प-ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। दाक्षिणात्य मन्दिरों की ही यह एकमात्र विशेषता है। मदुरा के मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् मन्दिर के गोपुर सर्वातिशायी गोपुर हैं, परन्तु वहा भी १२ से अधिक भूमिया यही दिखाई पड़ती हैं। गोपुर महाद्वार हैं। चिदम्बरम् के गोपुर को देखे वहा भरत के नाट्य-शास्त्रीय १०८ नृत्य-मुद्राओं का जो चित्रण प्राप्त होता है वह वास्तव मे मानव-कृति नहीं है, देवी या याक्षिणी कृति है गजब है।

परिवार—विशेष प्रतिपाद्य नहीं इससे तात्पर्य परिवार-देवताओं के अपने अपने आलय प्रासाद-गर्भ-गृह के निकट निर्मेय हैं।

मण्डप—

स्थापत्यानुरूप—मण्डपों की सज्ञायें स्तम्भानुरूप हैं —

शतमण्डप १०० खम्बे वाले

सहस्रमण्डप १००० ,, ,,

टि०—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, चिदम्बरम्, रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य विमान-प्रासाद-पीठों पर यह सुषुमा दर्शनीय है।

शास्त्रीयानुरुप—मानसार मे—

हिमज	पारियात्र
निषधज	हेमकूट
विन्ध्यज	गन्धमादन
माल्यज	

इनके अतिरिक्त अन्य मण्डप हैं.—

मेरुज	पुस्तकालय के लिये
पद्मक	महानस के लिये Temple-kitchen
सिद्ध	साधारण पाकशाला के लिये
पद्म	पुष्प-वेश्म के लिये
भद्र	पानादि के लिये

शिव	धान्यालय के लिये
वेद	सभा क लिये
कुलधारण	कोष्ठागार के लिये
सुखाग	अतिथियो के लिये
दार्व	हस्तियों के लिये
कौशिक	घोडो के लिये

वि० वा० शा० म शतस्तम्भ-मण्डप-शीर्षक के अध्याय मे निम्न सज्ञाओ से शत स्तम्भ मण्डपो का उपश्लोकन है —

१. सूर्यकात शत स्तम्भ मण्डप
२ चन्द्रकात ,,
३ इन्द्रकात ,,
४ गन्धर्वकात ,,
५ ब्रह्मकात

साथ ही इस के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार ने मण्डप प्रयोग पर, निम्न वर्ग उपस्थित किये हैं —

अभिषेक	जप	विहार
याग	वाहन	अध्ययन
आस्थान	प्लवोत्सव	प्रणय-कलह
अलङ्करण	डोला	दमनिकोत्सव
विवाह	मासोत्सव	शयन
वसन्त	सवरोत्सव	पक्षोत्सव
ग्रीष्म	नैमित्तिकोत्सव	नित्योत्सव
कार्तिक	वार्तिक-मण्डप-निर्माण	आखेट

प्रासाद-विमान-पुरातत्वीय स्थापत्य-निर्दशन

१. लयन-गुहाधर-गुहराज (Cave Temples)

२. छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप (Pillard Hall-Temples)

३. नागर-प्रासाद (*Northern Temples*)

४. विमान-प्रासाद (Southern Temples)

५. वावाट-भूमिज-ग्रादि-प्रासाद (Regional-Style Temples)

६. बृहद्भारतीय विकास—नेपाल, तिब्बत, लका, वर्मा, ग्रादि

७. द्वीपान्तर—भारतीय प्रोल्लास—स्याम—कम्बोडिया—बाली—जावा ग्रादि।

८. मध्य ऐशिया तथा ग्रमेरिका भी।

टि०—हमने अपने Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture (See An Outline History of Hindu Temple pp. 482—575) तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि वैदिकी, पौराणिकी, लोकधार्मिकी तथा राजाश्रया—में इस प्रसाद-स्थापत्य का एक नवीन समीक्षा अर्थात् ऐतिहासिक स्थापत्य एव शास्त्रीय सिद्धात इन दोनो के समन्वयात्मक (Synthetic) दृष्टिकोण से जो वहा इस पर प्रवध प्रस्तुत किया है वह पाठक एव विद्वान् अवश्य परिशीलन करें। अतः यहा तो केवल पदावली का ही प्रश्न है अतः इन कोटियो मे भारत की इस महान् स्थापत्य-विभूति को दर्पणवत् तालिकाओ मे प्रस्तुत करने का प्रयास करना है।

लयन गुहाधर-गुहराज—इन प्रासाद-पदो से तात्पर्य गुहा-मदिरो, गुहा-चैत्यो, गुहा-विहारो से है। स० सू० को छोड़कर अन्य शिल्प-ग्रन्थो में यह पदावली प्राप्त नहीं है। इनके निदर्शन निम्न तालिका-बद्ध परिशीलनीय है।

एक तथ्य और भी सूच्य है। गुहा-निवास अति प्राचीन-काल से ध्यान एव तपस्या के लिये प्रथित रहे हैं। पौराणिक भूगोल मे मेरु देवावास तथा कैलाश शिव-निवास है। अतः जहा लयन, गुहाधर, गुहराज इन गुहामन्दिरो की पदावली है, वहा मेरु, मदर, कैलाश आदि शिखरोत्तम प्रासादो की सज्ञाये है। अतः लयन है श्रीगणेश तथा पर्वताभिध प्रासाद एव विमान-सज्ञक प्रासाद अवसान है। यह कितना विकास द्योतित हो रहा है। आइये अब तालिकाओ पर।

लयन-गुहाधर-गुहराज-प्रासाद-पीठ-तालिका—

१.	लोमसऋषि-गुहा	१३	अजन्ता
२	सुदामा	१४.	एलौरा
३	विश्वझोपड़ी	१५.	मामल्लपुरम्
४	खडगिरि गुफाए	१६	कोन्डीवटे
५.	उदयगिरि-पर्वत-कदराये	१७	पीतलखोरा
६	हाथी-गुम्फा	१८	विदिशा
७	भाज	१९	नासिक
८	नागार्जुन-पर्वत	२०	कर्ली-कन्हारी
९	सीतामढ़ी	२१.	वीर (देवगढ)
१० रा॥ ११	वीर (देवगढ)	२२.	आनन्द पगोडा (बर्मा)
१२.	?ोन	२३	पगान मन्दिर (बर्मा)

२४ एलीफेन्टा	२७. अमरावती-स्तूप-मंदिर
२५ साची	२८. जग्गयपेट-स्तूप-मंदिर
२६. सारनाथ	२९. अन्य अनेक अवशेष

निष्कर्ष यह है कि लयनो के निदर्शन—विशेष शास्त्र एवं कला के आनुषगिक हैं। लोमस ऋषि, खण्डगिरि, उदयगिरि, हाथीगुम्फा, भाज, कोण्डन, कर्ली आदि गुहाधर का प्रतिनिधित्व अजन्ता म तथा गुहराज-विलास एलौरा और मामल्लपुर मे।

हाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप-प्रासाद—

प्रथम सोपान

गुप्तकालीन वर्ग	चालुक्य वर्ग
नचना	लादाखान
कुठार	दुर्गामन्दिर
भूमारा	हच्छेमल्लेगुडी
द्वितीय सोपान-गुप्तकालीन	**द्वितीय सोपान चालुक्यकालीन**
नागर—शैली मे	द्राविड—शैली में
पापानाथ	सगमेश्वर
जम्बूलिग	विरूपाक्ष
करसिद्धश्वर	मल्लिकार्जुन.
काशीनाथ	गलगनाथ
	सुन्मेश्वर
	जैनमन्दिर

नागर-प्रासाद—

निम्न प्रख्यात प्रासाद-पीठों में विभाज्य हैं :—

१. उडीसा—भुवनेश्वर-कोनार्क तथा पुरी
२. बुन्देल-खण्ड खजुराहो
३ राज-स्थान तथा मध्यभारत
४ लाट-देश (गुजरात तथा काठियावाड)
५. दक्षिण (खानदेश)
६. मथुरा-वृन्दावन

कालिंग-प्रासाद

७००-९०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	९००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
वैताल दुग्रल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुगणेश्वर	जगन्नाथ (पुरी)
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०	
अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	सराइ दुग्रल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
अमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्सना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ Vastusastra Vol I

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१	चौसठ जोगिनी-मन्दिर	४	मातंगेश्वर महादेव
२	कन्डरिया (कन्दरीय) महादेव	५	हनुमान का मन्दिर
३	लक्ष्मण-मन्दिर	६	जवारि मन्दिर
		७.	दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१ सागर जिला में एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।

२ पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३. ग्यरासपुर मे चतुष्खम्भ, अष्टखम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एवं मध्यकालीन

४ उदयपुर १ उदयेश्वर—एकलिंग महादेव
५. जोधपुर धानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर मे एक-शिखर भी
„ ओसिया ओसिया मे लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।
ग्वालियर सास-बहू (सहस्रबाहु) मन्दिर, तेली का मन्दिर आदि
आबू पर्वत जैन-मन्दिरो की श्रेणिया जैसे तारका-मण्डित नभ

गुजरात तथा काठियावाड़ के मन्दिर

सोलंकी राजाओ को श्रेय है जिन्होंने अनहिलवाड पट्टन (अहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये। इसी क्षेत्र के अन्य क्षेत्रीय पीठ हैं:—

सुनक मोधारा (सूर्य-मन्दिर)
कनौदा सिद्धपुर (रुद्रमल)
देलमल काठियावाड
कसरा घुमली
जैजाकपुर—नवलखा-मन्दिर

सोमनाथ-विश्वविश्रुत-मन्दिर-ज्योतिर्लिंग
शत्रुञ्जय तथा गिरनार पर्वत-श्रेणिया जो मन्दिर नगरिया हैं।

दक्षिण—खानदेश

अम्बरनाथ (प्रथित प्रासाद) थाना जिला मे
नौ मन्दिर (खानदेशस्थित) हेमदपन्ती शैली।
मथुरा-वृन्दावन
गोविन्द-देवी गोपीनाथ
राधावल्लभ युगलकिशोर
मदनमोहन

विमान-प्रासाद—

दाक्षिणात्य प्रासाद स्थापत्य

८०. इसकी राजाश्रया-इम निम्न वर्गों म बाट सकते हैं —

१ पल्लव राजवश ६००-६०० ई०
२ चोल राजवश ६००-११५० ई०
३ पाण्ड्य नरेश ११५०-१३५० ई०
४ विजयनगर १३५०-१५६५
५ मदुरा १६००-१८०० (लगभग)

पल्लव-राजवशीय-सरक्षण मे उदित प्रासाद श्रणिया एव पीठ

१. महेन्द्र मण्डल (६००-६४०) मडप-निर्माण पार्वत-वास्तु
२. मामल्ल मडल (६४०-६६०) विमानो एव रथो का निर्माण
३ राजसिंह-मडल (६६० से ८००) विमान निर्माण निविष्ट-वास्तु
४ नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-६००) ,, ,, ,,

महेन्द्र मण्डलीय प्रासाद-पीठ	**मामल्ल-मंडलीय**
मदग पट्टू	मामल्लपुरम्
त्रिचनापल्ली	यहा के सप्तरथ-धर्मराज, भीम, अर्जुन
पल्लवरम्	सहदेव, गणेश आदि Seven Pagodas

मोगलार्जुन-पुरम् ।

राजसिंह मडल

१ मामल्लपुर-पीठ पर ही तीन विमान – उपकूल (Shore) ईश्वर तथा मुकुन्द मदिर ।
२ पनमलाई
३ कञ्जीवरम्—कैलाश-नाथ तथा वैकुण्ठ-पेरू-मल ।

नन्दि-वर्धन–मण्डलीय-छै प्रासाद —

१—२ कजीवरम् मुक्तेश्वर तथा मातङ्गेश्वर
३—४ चिंगलपट म ओरगदम् तथा वदमल्लीश्वर

३ अरकोनम के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर
४. गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वरम्

चोलाराज-वंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—
क्षुद्र कृतियां ..

सुन्दरेश्वर	तिरुकट्टलाई
विजयलय	नरत मलाई
मुवरकोइल	कोडुम्बेलूर
(त्रि—ग्रायतन)	
मुचकुन्देश्वर	कोलट्टर
कदम्वर—कदम्बरमलाई—नरतमलाई	
बालसुब्रह्मण्यम्	कन्नौर

विशाल कृतियां
तन्जौर वृहदीश्वर
गङ्गैकोण्डचोलपुरम् वृहदीश्वर (राजराजेश्वर)

टि० दाक्षिणात्य मन्दिरों का यह मुकुट-मणि-मन्दिर वृहदीश्वर है, जो चोलों की देन है। चोलों का यह वास्तु-वैभव भारतीय कला का स्वर्णिम युग था।

पाण्ड्य राजवंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—

टि० पाण्ड्यों ने दाक्षिणात्य-शिल्प में एक नया युग प्रस्तुत किया— मन्दिरों के प्राकार तथा गोपुर। साथ ही साथ जीर्णोद्धार के द्वार प्राचीन मन्दिरों को नयी सुषमा से विभूषित किया। कन्जीवरम्, कैलास-नाथ, जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् इन मन्दिरों में गोपुरों एवं प्राकारों का विन्यास किया गया। एक नया मन्दिर दारासुरम् के नाम से विख्यात है।

विजय-नगर की राज-सत्ता में प्रोल्लिसित प्रासाद—

इस काल में अलंकृतियों (Ornamentation) का भूरि प्रकर्ष सम्पन्न हो गया। एक नयी चेतना भी प्रादुर्भूत हो गयी। प्रधिपति-देवता की पत्नी के लिए कल्याण-मण्डपों का प्रारम्भ हो गया। विशेष निदर्शन —

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिर
विट्ठल (विठोबा-पाण्डुरंग) कृष्ण मन्दिर
हजराराम (Royal Chapel)
पम्पापति

विजयनगरीय शैली मे वाह्य-मन्दिर—

वेलोर ताडपत्री

कुम्भकोणम विरञ्चिपुरम्

कञ्जीवरम् श्रीरगम्

मदुरा के नायक राजाओं का चरम काल

मदुरा– मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् श्रीरगम् वैष्णव-तीर्थ

त्रिचनापली व निकट जम्बुकेश्वर

तिरुवरूर चिदम्बरम्

रामेश्वरम् तिन्नवल्ली

तिरूवनमल्लाई श्रीवेल्लीपुर आदि आदि

टि० भारतीय (उत्तर एव दक्षिण) की महती मन्दिर-कला के विहगावलोकन के उपरान्त वृहद् भारतीय, द्वीप-द्वीपान्तरीय भारतीय Greater Indian प्रोल्लास भी आवश्यक था। परतु इस स्तम्भ की पूर्त्यर्थ हम एक-मात्र सकेत ही करना अभीष्ट समझते हैं:—

निम्न मडल तथा प्रमुख निदर्शन देखें —

काश्मीर मडल

१ मार्तन्ड मन्दिर

२ शकराचार्य-मन्दिर

३ अनन्त-स्वामी विष्णु मन्दिर

४ अवन्तीश्वर शिव मन्दिर

सिहलद्वीप मण्डल—

लकातिलक जेतवन राम

नेपाल मण्डल—स्वयम्भू नाथ स्तूप बुद्धनाथ, चुगु नाथ

वर्मा मण्डल—पागन के मन्दर—मन्दिर-नगर

द्वीपान्तर-मण्डल—

कम्बोडिया—अगकोर वट वयोन मन्दिर वत्तयसी वैनतेयश्री

स्याम—महाधातु-मन्दिर

अन्नम (French Indochina) पाडव-मन्दिर,

भीम मन्दिर (आदि आदि)

टि० स्याम, जावा, वाली, चम्पा आदि द्वीपान्तरीय भारतीय क्षेत्रो मे भारतीय कला का पूर्ण (प्रोल्लास) ही नही, मध्य ऐशिया तथा मध्य अमेरिका (दे० मयकुल मे भी प्रोल्लास प्रत्यक्ष है।

———

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

देव-प्रासाद

प्रथम पटल

१ प्रासाद उत्पत्ति— ब्रह्मा के द्वारा पाच वैराजादि मूल विमानो की सृष्टि तथा उन्हीं से नाना प्रासादों की उत्पत्ति एव इन के भेद

२ प्रासाद जाति—वैराज प्रभव तथा श्रष्ट शिखरोत्तम प्रासाद

३ प्रासाद प्रवयव—द्वारादि विभिन्न अङ्गोपाङ्ग, भूमि, वितान, छाद्यादि एव शिखर।

४ प्रासाद—शुभाशुभ

रूचक-आदि-प्रासाद

देवताओं के राजाओं के और विशेष कर ब्राह्मणादि वर्णों के, जिसके जो अभिमत प्रासाद है उनकी उत्पत्ति और प्रस्तार का वर्णन किया जाता है। पहिले देवताओं के प्रकाश में चलने वाले सुन्दर और विशाल पाँच विमानों की ब्रह्मा ने रचना की। वे है—वैराज, कैलास, पुष्पक, मणिक और त्रिविष्टप और ये सब स्वर्णमय और मणियों से चित्रत थे। ये विमान क्रमशः ब्रह्मा ने अपने लिए वैराज, शूलहस्त भगवान शिव के लिए कैलास, धनाध्यक्ष कुबेर के लिए पुष्पक, वरुण के लिए मणिक और सुराधिपति भगवान विष्णु के लिए त्रिविष्टप बनाये थे ॥१—४॥

इसी तरह ब्रह्मा ने सूर्यादि के लिए बहुत से और विमानों की रचना की विशेष कर यथोक्त आकारों से प्रत्येक देव के उन विमानों की रचना की और उन्हीं विमानों के आकार वाले शिलाओं और पक्की ईंटों आदि से बने प्रासादों का नगरों की शोभा के लिए निर्माण किया ॥५—६॥

वैराज नाम का प्रासाद चौकार होता है। कैलास-नामक प्रासाद-विमान गोल होता है तथा पुष्पक-विमान चौकोर तथा आयताकार कहा गया है। मणिकाभिध विमान गोल तथा आयत और त्रिविष्टप आठ कोने वाला निर्मेय बताया गया है। उसी प्रकार इन विमानों के सुन्दर अन्य विविध प्रकारों की रचना की ॥७—८॥

प्रथम कमलयोनि ब्रह्मा ने जिन भेदों का विधान किया था उन सब का नाम, संस्थान और मान (प्रमाण) से वर्णन करूँगा ॥६॥

रूचक, चित्रकूट, सिंहपञ्जर, भद्र,श्रीकूट, उष्णीष, शाला, गजयूथप, नन्द्या-वर्त, अवतंस, स्वस्तिक, क्षिति-भूषण, भूजय, विजय, नन्दी, श्रीतरू, प्रमदा-प्रिय, व्यामिश्र, हस्तिजातीय, कुबेर, वसुधाधर, सर्व-भद्र, विमान और मुक्तकोण नाम से संक्षेप से चौकोर ऊपर उक्त चौबीस प्रासादों के प्रकार बताये गए हैं ॥१०—१३॥

अब दूसरे गोल प्रासादो का वर्णन करूगा ॥१३॥

वलय, दुन्दुभि, प्रान्त, पद्म, कान्त, चतुर्मुख, माण्डूक्य, कूर्म, तालीगृह, उलूपिक। ये सक्षेप से दस गोल प्रासाद कहे गये हैं। ॥१४-१५½॥

जो चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार) प्रासाद होते हैं उनका भी अब नामोल्लेख किया जाता है ॥१५॥

भव, विशाल, साम्मुख्य, प्रभव, शिविरागृह, मुखशाल, द्विशाल, गृहराज, अमल और विभु—ये दस चौकोर और आयताकार प्रासाद बताये गय हैं। ॥१६-१७½॥

अब वृत्तायत (गोल तथा आयताकार) प्रासादों का अभिधान करता हूँ। ॥ १७ ॥

आमोद, रैतिक, तुङ्ग, चारू, भूति, निर्वेदक, सदानिषेध, सिंह, सुप्रभ और लोचनोत्सव—इन नामो से दस वृत्तायत प्रासादो का वर्णन किया गया है। ॥१८—१९½॥

अब अष्टाश्र (अष्ट-कोण) प्रासादो के सक्षेप से नाम बताता हूँ ॥१६॥

वज्रक, नन्दन, शकु, मेखल, वामन, लय, महापद्म, हस, व्योम, तथा चन्द्रोदय ये अठकोण प्रासादो की दस सख्या बनाई गई है। इस प्रकार ६४ सख्या हुई। अब इनके लक्षणो को कहता हू ॥२०—२१॥

रूचक '—प्रथम सस्थान, प्रमाण और विन्यास के द्वारा तथा भद्र, स्तम्भ आदि की सख्या के क्रमशः इनके अलग अलग विशेषो का प्रतिपादन करूगा ।२२॥

ज्येष्ठ भाग चार हस्त वाला और दूसरा मध्यम भाग साढे तीन हाथ वाला और छोटा तीन हाथ के प्रमाण का कहा गया है। इस तरह ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भागो से विभाजित सब प्रासाद ज्येष्ठ मध्य और अधम के क्रम से होते है ॥२३-२४॥

क्षेत्र को चौकोर बनाने के बाद चार भाग मे विभाजित करने पर चढने मे आरामदायक १ अश से उठा हुआ पीठ बनाना चाहिए। उसी प्रकार उसके ऊपर चारो तरफ से हस-पृष्ठी की स्थापना करनी चाहिए, उसकी ऊचाई हस्त-मात्र होती है। उसे गोल बनाना चाहिए और जल-निर्गम से उसे भूषित करना चाहिए। तदनन्तर उस पीठ के अन्दर का भाग दो भाग के आयाम से करना चाहिए। इस तरह रूचक-प्रासाद तीन भागो से ऊचा बनाना चाहिए। डेढ

भाग से सद्या (स्तम्भ) का निर्माण करना चाहिए और जो दूसरा डेढ भाग बचा उससे तीन सकण्ठ छाद्य आमलसार-सहित बनाने चाहियें। उसका द्वार एक भाग से ऊंचा और आधे भाग से विस्तृत होना चाहिए और वह प्राग्रीव के सहित १४ खम्भों (धर) से आवृत बनाना चाहिए। सौध के सहित अलिन्द ऊर्ध्व ऊर्ध्व-च्छाद्य बाइस खम्भो से समावृत जब वह बनाया जाता है प्राग्रीवादि-परिष्कृत और भार्गक अलिन्द से शोभित वह रूचक-नामक प्रासाद कहा जाता है ॥२५–३१॥

चित्रकूट :—चित्र-विचित्र वर्णों, प्राग्रीवो से आवृत्त जो प्रासाद होता है और जो दो दो गवाक्षो से चारो दिशाम्रा मे शोभित होता है तथा कपोतालि से परिक्षिप्त और दरवाजे की शोभा से शोभित होता है तब वह प्रासाद चित्रकूट के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥ ३२-३३ ॥

सिंह-पञ्जर :—यही चित्रकूट प्रासाद जब फिर छै स्तम्भो से चुना जाता है और वह प्राग्रीव-विहीन जालरूपक होता है तो वह शुभ प्रासाद सिंह-पञ्जर के नाम से पुकारा जाता है ॥३४–३५½॥

भद्र :—इसी सिंह-पञ्जर के दो दो जब कर्ण-प्राग्रीव होते हैं तब अलिन्दक-गति की स्थिति से वह प्रासाद भद्र नाम से कीर्तित किया जाता है ॥३५½–३६½॥

श्रीकूट :—चारो दिशाओ पर चार प्राग्रीवो से तथा बाहर और अन्दर चार दरवाजो से निविष्ट प्रासाद श्रीकूट नाम से विख्यात होता है॥३६½-३७½॥

उष्णीष :—*यदि यही षड्दारूक से समायुक्त प्राग्द्वार वाला* होता है और बीच म प्रासाद-स्तम्भ वाला होता है तब वह उष्णीष कहा जाता है ॥ ३७½-३८½ ॥

शालाख्य : –चार भागो मे विस्तीर्ण और छै भागो से आयत वाला, शाला-गृह या पीठ कहा गया है और उसका शाला-निर्गम शुभ कहा गया है। बीच मे और उसके दूसरी तरफ से दो भागा के आयाम मे विस्तृत अलिन्द से परिष्कृत उसका गर्भ-भवन बनाना चाहिए और उसके अग्र-भाग से दो भागो से आयत सीमा का निर्माण करना चाहिए और वह एक भाग मे विस्तीर्ण और चार स्तम्भो से सुनान्वित करना चाहिए। *उसके भाग दूसरी सीमा छै भागो से* आयत बनानी चाहिए और उसमे टकी रखना चाहिए। साथ हो साथ एक भाग से विस्तीर्ण और दो भवनो से शोभित [illegible] चाहिए। यह शाला-नामक गृह बाईस खम्भो से समावृत तथा शुभ प्राग्रीव, वदिका, जाल-पक्ष और छापाना

से सुशोभित होता है ।। ३८½-४३½ ।।

गजयूथप :—पांच भागों के प्रमाण के व्यास मे आठ भाग के आयत वाले क्षेत्र मे शिलाओं से व्याप्त सोपान से युक्त दोनों तरफ पीठ का निर्माण करना चाहिए। मध्य-भाग से इसके ऊपर भाग में देवागार का निवेश करना चाहिए। दो भाग के आयाम से विस्तृत चौकोर सुगठित तीन चौथाई भाग से विस्तृत आधे-आधे भाग से ऊंचा उसका मध्य मे बगल से चय शोभित मुख बनाना चाहिए। चय-सहित निकली हुई सीमा दो दो भागो से निर्गत और तीन भागों से आयत चौकोर चार खम्भो वाली उसके आगे एक भाग से स्थित पाच भाग से आयत टेढी दूसरी सीमा बनानी चाहिए। यहा पर बत्तीस खम्भे बनाने चाहियें। सीमा-सहित गर्भ से बाहर का परिसर एक भाग से विस्तृत कहा गया है। इस प्रकार से वेदिका, जाल-रूप आदि से सुशोभित बाहर से चयोन्नत यह प्रासाद गजयूथप के नाम से प्रसिद्ध है।।४३½--४६।।

नन्द्यावर्त :—छै भागो मे विभाजित चारो तरफ से चौकोर क्षेत्र मे दो भाग का गर्भ तथा एक भाग से ऊचा द्वार बनाना चाहिए। आधे भाग से द्वार का विस्तार और फिर प्रासाद की ऊंचाई चार भागों मे करनी चाहिए और उसका चित्रकूट के समान ही छादन कहा गया है। अलिन्दो सहित उसके बाहर दो भाग की शलायें बनाना चाहिए और वे शलायें बाहर की दीवाल से परिक्षिप्त तथा चार भागो से आयत शुभ होती है। दो दो गवाक्ष और छै छै खम्भे प्रत्येक शाला मे होते हैं। और ये शालायें चार खम्भो से युक्त धार्मिकालयो से युक्त होती हैं। इस प्रकार से नन्द्यावर्त नामक चार प्राग्रीवो तथा पूर्वद्वार एव क्षणो से युक्त शुभ-लक्षण होता है ।।५०—५४।।

अवतंस :—षट्-भाग-विस्तार वाले और दस भाग आयत वाले क्षेत्र मे बीच से ऊपर भाग मे देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिए। चार अंशो से न्यासित चारो ओर से चौकोर आधार ऊचा भाग वाला उसका द्वार बनाना चाहिए और वह पाद-न्यून एक भाग से विस्तृत तथा सिंह-मुख से विभूषित होना चाहिए। उसके आगे देव-कोष्ठ से युक्त सीमा बनानी चाहिए और वह दो भाग से उठे हुए सोलह खम्भो से युक्त होना चाहिए। सीमा वाले उस देव-कोष्ठ के चारो ओर दीवाल से घिरा हुआ गवाक्षो से सुशोभित एक भाग मे अलिन्द का निर्माण करना चाहिए। इन दोनो सीमाओ के आगे बगल मे षड्-दारू-युक्त बाहर का स्थान रखना चाहिए। एक भाग के अलिन्द से घिरे हुए बगल मे चय शोभित दो दो खम्भो से सधे हुए दो अशो से सब प्राग्रीव बनाने चाहिए।

प्राग्रीवों के आगे चार खम्भों वाले अलिन्दों का निर्माण करना चाहिए। इस तरह सर्व-लक्षण-सम्पन्न यह प्रासाद अवतंसक-नाम से कहा गया है ॥ ५५-६२½ ॥

स्वस्तिक :—अब स्वस्तिक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। षट्-भाग-प्रविभाजित चौकोर क्षेत्र में दो भागों के आयाम से विस्तृत मध्य भाग में प्रासाद का कल्पन करे और इसका द्वार-मान आधे भाग से विस्तृत और एक भाग से उन्नत होता है। इसका गर्भ-वेश्म चार-खम्भों वाला होता है और बाहर का अलिन्द एक भाग का होता है और दूसरा एक भाग वाला अलिन्द बीस खम्भों से चारों तरफ बनाना चाहिए और सम्मुख भाग चयावृत अथवा आठ खम्भों से युक्त होता है। फिर एक एक भाग छोड़कर दो कर्णों से एक भाग के विस्तार वाले और एक एक भाग से ऊँचाई और निकास वाले दो प्राग्रीव बनाने चाहिए और ये दोनों प्राग्रीव तीन दिशाओं में बाहर की दीवाल से सटे हुए गवाक्षों सहित होते हैं। इस प्रकार चित्र-लक्षण यह प्रासाद स्वतिक नाम से विख्यात होता है ॥६२½-६७॥

क्षितिभूषण:—अब शुभ लक्षण क्षितिभूषण प्रसाद का वर्णन किया गया है। षट्भाग भाजित चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र में मध्य में दो भाग के आयाम से विस्तार वाला गर्भ-गृह होता है और वह व्यक्त सुलक्षण दो भागों में ऊँचे खम्भों से युक्त होना चाहिए। बाहर के भाग में निकले हुए गर्भ पादों में चारों दिशाओं में सुन्दर तोरणों की सयोजना करनी चाहिए। गर्भ-स्तम्भों के प्रमाण में दो खम्भों से उन मनोज्ञ तोरणों को समुत्क्षिप्त करना चाहिए तथा गोल कलशों से युक्त होना चाहिए। रवि मण्डल से पत्रों से और अनेक प्रकार की पत्र-जाति आदि विन्यासों से सुशोभित तथा मकरों के मुखों से भी सुशोभित मुख वाले मस्तक में दोनों खम्भों के बीच में दो मकरों को देना चाहिए। परस्पराभिमुख दोनों मकरों के मुख सटे हुए होने चाहिए। इस प्रकार मैंने चारों तोरणों की विधि निर्दिष्ट की है। एक भाग वाला दूसरा अलिन्द बताया गया है। अलिन्द के अन्त में धामिकालय एक भाग वाले बनाये गये हैं और वे परस्पराभिमुख बाहर की दीवाल से घिरे हुए होते हैं। धामिकालय की दीवाल की जो बाहर भूमि होती है उस के भाग-मात्र ऊँचे पट्-दारु होते हैं और उनको सोपान-सहित दिशाओं के मध्य में वाले प्राग्रीवों से सुशोभित करना चाहिए। फिर दूसरी दीवाल के मध्य में दो भागों से निकला हुआ दो भाग के विस्तार से देव-कोष्ठ का विनिवेश करना चाहिए और उस के एक भाग से ऊँचा और एक भाग से

विस्तृत द्वार-पाश का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार से ठीक तरह से सब लक्षणो से लक्षित क्षिति-भूषण नाम का यह प्रासाद कीर्तित किया गया है। ॥६८-७९॥

पृथ्वी-जय—चौकोर क्षेत्र के बाहर बारह भाग करे, मध्य मे उनके दो भागो से चार खम्भो का गर्भ निर्माण करे। उसके बाहर का बारह खम्भो वाला अलिन्द एक भाग का कहा गया है। मध्य मे दूसरी तरफ जो दो खम्भे होते हैं उन मे तोरण का निर्माण करना चाहिए। एक भाग वाली दीवाल से घिरा हुआ एक भाग का अलिन्द बनाना चाहिए। पूर्व-दिशा मे मध्य मे गर्भ के व्यास के उन्मान के आयत वाला पड्दारुओ का निवेश करना चाहिए। एक भाग वाला तीसरा अलिन्द भित्ति-परिवेष्टित होता है। फिर वहा पर भागो से आयत पड्दारूक का निवेश कहा गया है। एक भाग का विष्कम्भ वाला और दो भागो से आयत वाला प्राग्रीव बनाना चाहिए और उस का सम्मुख भाग खम्भो से शोभित तथा घिरा हुआ होना चाहिए। जिस प्रकार से पूर्व दिशा मे उसी प्रकार उत्तर और दक्षिण दिशा मे कहा गया है। परन्तु पश्चिम दिशा मे फिर दूसरे अलिन्द के बाहर भाग मे दो भागो के आयाम और विष्कम्भ वाले देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिए और वह द्वार-पाश से सुशोभित मनोज्ञ तथा पक्ष-द्वार सहित होना चाहिए और उससे दूसरा अलिन्द एक भाग वाला और बाहर की दीवाल से घिरा हुआ अथवा बाहरी चय से आवृत्त गवाक्षो से विभूषित होना चाहिए। इस प्रकार का यह प्रासाद पृथ्वी-जय नाम अर्थात् जिस से पृथ्वी जीती जाती है) से विख्यात है ॥८०-८८½॥

विजय :—जब पृथ्वी-जय के ही दोनो कर्ण और प्राग्रीव कोनो मे दो दो भाग वाले हो तब उस प्रासाद को विजय नाम से पुकारते हैं ॥८८—८८½॥

नन्द :—बाहर के अलिन्द के बिना जब यह (विजय) प्रासाद चारो तरफ से उच्छ्रित होता है और बीच के अलिन्द और सौध मे स्थित कर्णप्रासादाको के द्वारा चुना जाता है तदनन्तर प्रथम अलिन्द तथा गर्भ-समुत्क्षिप्त दो छाद्यो से जब ये दोनो ढके होते हैं तब यह प्रासाद नन्द नाम से अभिहित होता है ॥ ८९½-९१½॥

श्रीतरू :—चौकोर क्षेत्र में दस भागो में विभाजित कर मध्य मे दो भाग वाला चौकोर देवकोष्ठ का निवेश करना चाहिए। इसका द्वारबन्ध एक भाग ऊचा और आधे भाग से विस्तृत करना चाहिए। देव-कोष्ठ के बाहर का अलिन्द बारह खम्भो वाला होता है और यह अलिन्द एक भाग वाली दीवाल से

युक्त समझना चाहिए। इस के बाद दूसरा अलिन्द बनाना चाहिए और वह दो भाग वाले प्राग्रीवों और भाग-निर्गमों से युक्त कहा गया है। इसी प्रकार तीसरा अलिन्द चारों ओर दीवाल से घिरा हुआ तथा चार खम्भे वाले प्राग्रीवों से विभूषित प्रवेशों सहित होता है। बाहर की दीवाल एक भाग वाली और दूसरी खम्भों के समान। इस प्रकार से यह प्रासाद श्रीतरु के नाम से प्रख्यात है ॥९१½—९६½॥

प्रमदाप्रिय : स्तम्भ-गर्भ वाले इसी श्रीतरु-प्रासाद को दूसरे अलिन्द की दीवालों में पूर्वोक्त-रचना व्यवस्था से पड्दारुकों का विधान करना चाहिए। तीसरे अलिन्द के बाहर दो दो प्राग्रीवों का निर्माण करना चाहिए। और वे दोनों सब ओर से एक भाग से निकले हुए और दो भाग से अंतरित कहे गये हैं। इस प्रकार से ५२ खम्भों से परिवेष्टित और चारों तरफ प्रवेश-सहित चार खम्भे वाले उपनिर्गमों से युक्त यह प्रासाद प्रमदाप्रिय नाम से विख्यात है ॥९६½-९९॥

व्यामिश्र :— इसका प्राग्रीव जब एक भाग के विस्तार और विस्कम्भ वाला होता है अलिन्द के अग्र से भिन्न टेढ़ी दो शालाएं शोभित होती हैं और दूसरे अलिन्द के स्थान में वर्ण-प्रासादों में युक्त यह व्यामिश्र संज्ञा वाला प्रासाद बताया गया है ॥१००-१०१॥

हस्ति-जातीय :— विजय की और इसकी जब दीवालें वर्ण-लागलकों से युक्त होती है तो यह प्रासाद हस्ति-जातीय नाम से पुकारा जाता है ॥१०२॥

कुबेर :— जब पृथ्वी-जय में सीमा, प्राग्रीव और भूमियों में और टेढ़े शाला के मुखों में चारों तरफ दो भाग वाले अलिन्दों का निवेश होता है और जब अलिन्द में पश्चिम-दिशा वाली शाला सब दिशाओं में अवलोकन वाली और उसी प्रकार जब यहां पर चार भागों से आयत पड्दारुक का निवेश होता है और सब क्रिया पहले के समान होती है तब यह प्रासाद कुबेर के नाम से पुकारा जाता है ॥१०३ १०५½॥

वसुधाधर :— अब वसुधाधर नाम का दूसरा प्रासाद कहता हूं। कुबेर-प्रासाद कुबेर-पत्रोत्क्षिप्त तथा वर्ण-प्रासाद से सुशोभित, मध्यद्वार से युक्त श्रीमान् धराधर (वसुधाधर) विख्यात होता है। १०५½—१०६॥

विमान :— जहां पर आगे से चित्रकूट और उससे सब दिशाओं में वसुधाधर के समान हो उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। जब इस के दो वर्ण-प्राग्रीव तथा दोनों शाला-प्राग्रीव भी होवें तब यह शुभ प्रासाद विमान-नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०७—१०८॥

विमुक्त-कोण :—परस्पर शालाओं वाले विमान के पीठ पर सब ओर से शालाओं से घिरा हुआ जब निर्मुक्त-विमान न्यासित होता है और कर्ण-प्रासाद से युक्त तथा शालोज्भिन्न कोनो से सयुक्त होता है तब अत्यन्त शोभित यह प्रासाद विमुक्त-कोण के नाम से विख्यात होता है ।१०९-११०।

अपने अपने विशेषो से अभी तक चौकोर प्रासादो का अलग अलग वर्णन किया। अब अपने विशेषणो से युक्त गोल प्रासादो का वर्णन किया जाता है। उस मे पहला वलय अर्थात् कंकण के आकार वाला वलय का वर्णन किया जाता है। चारो तरफ क्षेत्र को गोल कर के चार भागो मे विभाजित कर के वहा पर आधे भाग से ऊंचा आरोहण-सहित शुभ पीठ की रचना करनी चाहिए। यह पीठ गजमुखो से दीप्त हो तथा जिस के मकरो के मुख से जल निकल रहा हो, उस मे बाहर एक भाग से युक्त सुरालय का निर्माण करना चाहिए। एक पाद कम विस्तार और दो भागो की ऊंचाई से अलंकृत उसे बनाना चाहिए। उसका आठ खभो का बाहर का अलिन्द होता है और उस मे वृत्त-छाद, सिंहकर्ण तथा जालको से वह सुशोभित होता है ॥१११–११५॥

दुन्दुभि :—अब यह भूवलय प्राग्रीव से घिरा हुवा अथवा खभे की ऊंचाई से लचा हुआ हो तो उसे दुन्दाभि नाम से पुकारते हैं। तीन प्राग्रीवो से उस प्रासाद मे प्रान्त की सज्ञा का व्यपदेश होता है ॥११६॥

पद्म :—यही प्रान्त-प्रासाद जब चार शुभ प्राग्रीवो से युक्त होता है तो उसका नाम पद्म पडता है ॥११७½॥

कान्त :—उसके ही पीछे जब चार खभो का निवेश किया जाता है और मध्य भाग गोल गर्भकोष्ठ और दोनो तरफो से दीवाल उठाई जाती है तो यह गोल प्रासाद कान्त के नाम से प्रख्यात होता है ॥११७½–११८॥

चतुर्मुख :—वलय के ही जहा पर चार दरवाजे होते हैं और दरवाजो वाला अलिन्द होता है और दूसरा अलिन्द एक भाग के प्रमाण का २५ खभो से युक्त होता है और जिसके दो दो खभो से युक्त चारो प्राग्रीव होते हैं वह यहा पर चतुर्मुख नाम का प्रासाद कहा गया है ॥११९-१२०॥

माण्डूक्य :—चतुर्मुख के एक दरवाजे और अलिन्द से घिरा हुवा प्राग्रीव हो और जिस के आगे एक दूसरा और प्राग्रीव होता है तो यह वृत्त प्रासादों मे उत्तम माण्डूक्य नाम से पुकारा जाता है ॥१२१-१२२½॥

कूर्म :—इसी की दिशाओं के कोनों में जब प्राग्रीवों का निर्माण होता है तो यह प्रासाद कूर्म नाम से कहा गया है ॥१२२½-१२३½॥

कूर्म की ही दिशाओं में आठ आठ खभो में चार अलिन्दों से घिरे हुए प्राग्रीवों का निर्माण होता है और आगे दूसरे डेढ़े प्राग्रीव निर्मित होते हैं और इसका मध्य भाग १६ स्तम्भो से युक्त होता है।

टि० १२५ वां श्लोक भ्रष्ट एवं अप्रधान गलित प्रतीत होता है।

इस प्रकार के नाम और लक्षणो से इन वृत्त प्रासादो का वर्णन किया गया है ॥१२ ½-१२६½॥

भव :—अब चौकोर आयत प्रासादो का आठ भाग से आयत और चार भाग से विस्तृत क्षेत्र मे दो भाग और डेढ भाग वाला पीठ इष्ट होता है। पश्चिम भाग को छोड़कर दो भाग वाला देव-कोष्ठ होता है, उसमे इसके आगे आठ खभो से सीमा का निवेश करना चाहिए और इस सीमा-सहित देव-कोष्ठ के बाहर एक भाग वाला अलिन्द निर्माण करना चाहिए। वह बीस खंभो से युक्त और वेदिका तथा जालो से घिरा हुआ होना चाहिए। उसके प्राग्रीव के अग्रभाग मे दो खभो से भूषित, दो छाद्यो से छादित और सिंहकर्णो से अलंकृत यह सुन्दर प्रासाद भव के नाम से पुकारा जाता है ॥१२६½-१३१½॥

विशाल :—अब विशाल नाम के प्रासाद का वर्णन करते हैं। जब इसी भव के निष्क्रान्त-सहित सीमा और आयाम में बगल मे दो वलभियां निविष्ट होती हैं तो इसका नाम विशाल पड़ता है ॥१३१½-१३२½॥

साम्मुख्य :—जब विशाल के गर्भ में तीनो दिशाओं में दीवाल होती है, तब वह साम्मुख्य नाम का प्रासाद होता है। १३२½-१३३½॥

प्रभव :—उसके तीनो दिशाओं पर जब गर्भ-कोष्ठ के आयत वाले प्राग्रीवों का निर्माण होता है तथा दोनो वलभियों को छोड़ कर और कर्णो मे एक एक भाग छोड़कर दो प्राग्रीवो का निर्माण किया जाता है तो उस प्रासाद का नाम प्रभव पड़ता है ॥१३३½-१३४॥

शिविका-गृह :—इसी के सम्मुख जब दोनो प्राग्रीव होते है तथा कर्णों में दीवार्ले बनायी जाती हैं तो इस प्रासाद का नाम शिविका-गृह पड़ता है ॥१३५-१३६½

मुक्तशाल :—जब इसी के मुख में षड्भाग के आयाम से और दो भागों के विस्तार से शाला का निर्माण होता है और उसके आगे दो दो प्रग्रीव बनाये

जाते हैं। दो दो उस मे दोनों दीवालो पर गवाक्ष होते हैं और सीमा मे १२ खभे होते है, तब इस प्रासाद का नाम मुखशाल पडता है ॥ १३६½—१३८½॥

द्विशाल :-विशाल के ही बाहर एक भाग का अलिन्द करना चाहिए। प्राग्रीव की भूमियो मे दीवाल से घिरा हुआ गवाक्षो से युक्त तथा आगे का भाग है। खभों के सहित जब बनाया जाता है तब इस प्रासाद का नाम द्विशाल नाम से विख्यात होता है ॥१३८½—१४०½॥

गृह-राज :—जब इसी के चारो तरफ सब खभे लगाये जाते हैं। और दोनो तरफ दो प्राग्रीव बनाये जाते हैं तब उस प्रसाद का नाम गृह-राज होता है॥ १४०½—१४१½ ॥

अमल :—जब इसका अलिन्द और दूसरा अलिन्द एक भाग के विस्तार वाला होता है। सीमा के अन्त भाग तक विस्तार वाली तथा एक भाग से निकलती हुई जब दो वलभिया होती है और बाकी दीवाल गवाक्षों से सुशोभित बनायी जाती है तथा उसके मुख-भाग मे पड्दारक का निवेश होता है तब यह अमलाभिध प्रासाद होता है ॥ १४१½-१४३½ ॥

विभु —ग्यारह आयत वाले तथा छै भाग से विस्तृत क्षेत्र मे पीछे दो भागो को छोड कर देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिये। फिर आगे एक भाग को छोड कर चार भाग से सीमा का निर्माण करना चाहिये। एक अलिन्द आठ खभो वाला, दूसरा अलिन्द २० खम्भो वाला, उसके चारो तरफ दूसरा अलिन्द २८ खभो से युक्त कोष्ठ से उत्पन्न दो दो खभो से युक्त तीन प्राग्रीवो का निर्माण करना चाहिये और दो वलभिया और उन दोनो के मध्य भाग से हो। अब प्राग्रीव-वेदिका-जालो से सुशोभित दो दो खभे बनाने चाहिए। इस प्रकार वेदिका-जाल-रूप से सुन्दर, सिंहकर्णों से सुशोभित प्रासाद-कारक यजमान को आनन्द देने वाला यह प्रासाद विभु नाम से विख्यात है। चतुरश्रायत (चौकोर) इन दश प्रासादो का वर्णन किया गया ॥१४३½-१४८॥

अब दूसरे टेढे आयत वाले चोकोर (चतुरश्र) प्रासादों का नवीन सस्थान-लक्षणो से वर्णन करता हू ॥१४६॥

भव.—गर्भ मे दो भागो से विस्तार और द्विगुण टेढो आयति तथा मध्य मे एक भाग से ऊचा और आधे भाग से विस्तृत द्वार का निर्माण करना चाहिए। चार खभो से युक्त सीमा को द्वार के आगे बनाना चाहिए और उस सीमा का दो भागो के आयाम से विस्तार और दो भागो के आयाम से ऊचाई होती है।

गर्भ-सहित उस सीमा को दूसरे भाग से घेर देना चाहिए और फिर चारों दिशाओं में वहा पर गवाक्षों से युक्त दीवाल बनाना चाहिए । षड्दारुक-युक्त इस तरह से यह प्रासाद भव नाम से पुकारा जाता है।।१५०-१५३½॥

विशाल —इसी प्रासाद की एक भाग से निकलती हुई चारों मुखों में शाला बनाने से जब वह षड्दारूक-युक्त होता है तो उसे विशाल कहते हैं ॥१५३½-१५४½॥

सामुख्य :—बाहर मुख मुख पर छैं खम्भो में यह सामुख्य नामक प्रासाद इस सजा में पुकारा जाता है ॥१५४॥

शिबिरागृह —इसी की कर्ण-स्थित सीमा जब दो खम्भो से युक्त होती है, बाहर के एक भाग से निकले प्राग्रीव होते हैं तब यह प्राग्रीव कहलाता है। और जब इसी सीमा के आगे का भाग दो खम्भो से युक्त होता है तब और एक भाग से निकला हुआ प्राग्रीव होता है तब शिबिरा-गृह प्रासाद बनता है ॥१५५-१५६॥

मुखशाल :-विशाल नामक प्रासाद के सन्निवेश के मुख मे जब शाला बनाई जाती है और दोनो बगलो में दो शालाए और तीन प्राग्रीव होते हैं और एक-एक-निष्क्रान्त-भाग दो खम्भो से युक्त होता है तब वह प्रासाद मुखशाल नाम से समझना चाहिए ॥१५७—१५८॥

द्विशाल :--मुखशाल प्रासाद की अग्रशाला के जब चौदह खम्भे होते हैं और उस के आगे दो प्रकार के प्राग्रीव होते हैं तब वह द्विशाल होता है ॥१५९॥

गृह-राज :--तब वह प्रासाद गृह-राज होता है ॥१६०½॥

टि० कुछ अश गलित प्रतीत होता है ।

अमल :--गर्भ के आयाम के समान एक भाग से विस्तृत आगे और पीछे चार चार खम्भे होते हैं और जहा पर बगल मे दो प्राग्रीव गर्भ-विस्तार के प्रमाण मे दो दो खम्भे होते हैं तब शुभ-लक्षण वह प्रासाद अमल नाम से कहा गया है ॥१६०½-१६२½॥

विभु :-इसी के आगे और पीछे दो दो खभो से युक्त जब दो प्राग्रीव होते हैं तब यह दसवा प्रासाद विभु नाम से पुकारा जाता है ॥१६२½-१६३½॥

अब फिर वृत्तायत (गोल) दस प्रासादों का वर्णन करता हू ॥१६३॥

आमोदः—आठ भाग मुखायाम के विस्तार से चौकोर एवं वृत्तायत बाहर और भीतर-दोनो करना चाहिए । इसके पश्चिम भाग में चारो तरफ चार भाग में गर्भ का निर्माण कराना चाहिए । इसके आगे दो भागों से विस्तृत सीमा

बनावे। तीन भागो के प्रमाण वाली और एक भाग से अन्तरित उस सीमा को सुन्दर सुदृढ़ आठ खम्भों से सयुक्त करना चाहिए। सीमा-सहित अलिन्द-परिक्षिप्त देव-कोष्ठ बनाना चाहिए और आगे सोलह खम्भो से युक्त प्राग्रीव होना चाहिए। और दो छद्यो से छन्न यह प्रासाद वृत्तायत प्रासादो मे पहला प्रासाद कहा गया है और यह स्वामी का कल्याण-कारक होता है ॥१६४-१६८॥

रैतिक तुङ्ग एवं चारू .—जब इसी के एक भाग-मिश्रित दो प्राग्रीव समाहित होते हैं तो चार खम्भो से युक्त यह प्रासाद रैतिक नाम से पुकारा जाता है और दो गोलो (वृत्तो) से तुग कहलाता है। जब सीमा-पर्यन्त दीवाल गवाक्षो से शोभित होती है और एक गोल प्राग्रीव होता है तब वह प्रासाद चारू कहलाता है ॥१६९—१७०॥

भूति —सीमा के मध्य भाग मे एक भाग से विस्तृत दो प्राग्रीवो का निर्माण करना चाहिए। उनका विस्तार आयति के सदृश होना चाहिये गर्भ-कोष्ठ से सम्मिन बनाने चाहिए। तब यह शुभ-लक्षण प्रासाद भूति-नाम से पुकारा जाता है ॥१७१—१७२।

निषेवक :-मुखायत चरो भाग तिरछे तिरछे निवेश्य है तब उसके बाद क्षेत्र को गोल बनाकर उसके मध्य मे गर्भ- वेश्म का निर्माण करना चाहिए। और वह गभ-वेश्म चारो भागो से आयत और दो भागो मे विस्तृत हाता है। और उसके बाहर १२ खम्भा से युक्त अलिन्द होता है। एक अश से निकला हुआ दो भागो के विस्तार से प्राग्रीव होता है। तब इस प्रासाद को पुरातनो ने निषेवक कहा है ॥१७३-१७५।

निषेध —इसी के सम्मुख भाग मे यदि प्राग्रीव हो तो निषेध नाम का प्रासाद बनता है और वह चार द्वारो से परिक्षिप्त अथवा आठ खम्भों वाले अलिन्द से परिक्षिप्त होता है ॥१७६॥

सिंह —यही जब एक अश वाले अलिन्द से घिरा हुआ होता है और मुख के तीन भागो को छोडकर दीवाल से घिरा हुआ होता है और जब दो कर्ण-प्राग्रीव और प्राग्रीव आगे होते हैं। इसकी विशेष रचना यह है कि इन प्राग्रीवो के २२ खम्भे होते हैं, सुन्दर गवाक्षो से युक्त होता है तब वह प्रासाद सिंह नाम से प्रकीर्तित होता है ॥ ७७—१७९॥

गुम्भ —बारह अशों के आयत वाले तथा छै भागों से विस्तृत क्षेत्र मे चार मे दो अशो को छोड़ कर दो भागो के आयाम से विस्तृत देव-कोष्ठ का निर्माण

करना चाहिए। और उसका द्वार एक भाग से ऊंचा उठाना चाहिए। आगे अन्तर सहित दो अंशों में विस्तृत चार आयत वाली सीमा बनावे। इसका गर्भ आठ खम्भों से युक्त और बाहर का अलिन्द सोलह खम्भों से युक्त और उसके सामने वृत्त प्राग्रीव भी होना चाहिए और ये सीमा-प्राग्रीव, अलिन्द और काष्ठ सब गोल बनाने चाहिये। दोनों बगलों पर सीमा के समान एक भाग से निकले हुए दो २ खम्भों से युक्त वर्तुल आकृति वाले दो प्राग्रीवों का निवेश करना चाहिए। यह सब अलिन्द से घिरा हुआ बनाना चाहिए और यह चौबीस खम्भों से युक्त प्रशस्त माना गया है। इसके अतिरिक्त गर्भ के तीनों दिशाओं में दो खम्भों से युक्त प्राग्रीवों को बनाना चाहिए। इस प्रकार से यह शुभ प्रासाद सुप्रभ नाम से विख्यात हुआ है। ॥ १७६½-१८८ ॥

लोचनोत्सव—दो भागों के विस्तार वाले जो इसके प्राग्रीव बतलाये गये हैं वे ही यदि चौकोर और दो खम्भों से युक्त होवें और बाकी दीवाल गवाक्षों से सुशोभित होवें तो यह दसवां प्रासाद लोचनोत्सव नाम से पुकारा जाता है। ॥ १८६—८७ ॥

वज्रक—अठकोण प्रासादों का लक्षणों सहित अब वर्णन करूंगा। चार भागों से युक्त क्षेत्र में फिर उसे आठ कोणों वाला बना कर दो भागों में गर्भ-कोष्ठ और एक भाग से अलिन्द और अलिन्द में आठ खम्भे हों और उसके आगे प्राग्रीव हो तो दो छाद्यों से छादित श्रीमान् वज्रक नाम का प्रासाद का निर्माण होता है। ॥ १८८—९०½ ॥

नन्दन—इसी के आगे जब चार खम्भों वाली चौकोर सीमा होती है और चौबीस खम्भों वाला अलिन्द और दूसरा अलिन्द एक भाग के प्रमाण में २४ खम्भों वाला होता है, तब यह प्रासाद नन्दन नाम से पुकारा जाता है ॥१९०½-१९१।

शंकु—शंकु नाम का प्रासाद तीन प्राग्रीवों से युक्त होता है और उसकी दीवाल का विधान विद्वानों ने अठकोण युक्त क्षेत्र में बताया है।

वामन—वामन प्रासाद की तीनों दिशाओं में दो २ गवाक्ष बताए गये हैं। ॥ १९२ ॥

मेखल—इसी के आगे जब सीमा के भाग से तीन भागों के आयत वाली, दो भागों के विस्तार वाली आठ खम्भों से युक्त दो अंशों से ऊंचे अलिन्द से घिरी हुई, प्राग्रीवों से युक्त ... नामक प्रासाद संज्ञा प्रतिपादित की गई है। १९३-१९४½

लय—जब इसके दीवाल के क्षेत्र मे ३ २ खम्भो म युक्त अलिन्द से घिरे हुए प्राग्रीव होने है तब लय नाम का प्रासाद नेाा है। ॥ १९४½—१९५½ ॥

महापद्म—अष्टभाग की नाप से क्षत्र को च रो ओर अठकोण बनाकर दो भगो की नाप से मनोरम दव कोष्ठ का निर्माण करना चाहिए। एक भाग वाले अलिन्द से घिरे हुए इस देव-कोष्ठ को चार दरवाजो से शोभित करना चाहिए। और इस अलिन्द क आठ खम्भे बनान चाहिए और फिर उसक बाद दूसरा अलिन्द चौबीस खम्भा वाला होना है। उसी प्रकार से तीसरा अलिन्द भी। साथ ही साथ चारो दिशाओ मे प्राग्रीव होत है। तब ब्रह्मा और शकर का यह प्रासाद महापद्म क नाम से विख्यात होता है। ॥ १९५½—१९८ ॥

हस—इसी के दूसरे अलि द म चारो दिशाओ मे जो प्राग्रीव होत हैं तब अलिन्द-परिक्षिप्त यह प्रासाद हस नाम से पुकारा जाता है ॥ १९९ ॥

व्योम—इस महापदम प्रासाद का प्र ग्रीव जब अलिन्द से घिरा हुआ हाता है और दो २ प्राग्रीव हात हैं तब उस प्रासाद की व्योम सज्ञा दी गई है ॥२००॥

चन्द्रोदय—हस के ही प्राग्रावो क पद पर चार खम्भे वाली चारो दिशाओ मे अलिन्द से परिक्षिप्त वलभिया होती हैं तब यह शुभ प्रासाद चन्द्रोदय के नाम से विख्यात होता है। इस प्रकार से इन चौसठ प्रासादो का वणन किया गया है। ॥२०१–२०२॥

इस प्रकार से हमने जो इन ६४ प्रासादो का उपदेश किया वह एक प्रकार से शिल्पियो के लिए कामधनु है ॥ २०३ ॥

प्रासाद-जातियां

निवेशों का अवतार और वास्तु का विधान जिससे सम्पन्न होता है उसका पूर्ण रूप से अब वर्णन करता हूँ ।। १ ।।

कुल एवं जाति के क्रमों का और दीर्घ तथा अल्प-जीवियों का क्रम, सस्थान तथा लक्ष्य लक्षणों का वर्णन करूंगा ।। २ ।।

वैराज—उन शुभ एवं अशुभ प्रासादों का प्रथम भेद वैराज-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। पूर्वोक्त उस विधान का अब लक्षण बताता हूँ। वैराज नाम विमान यथा-प्रतिपादित आकार और व्यवस्थान का सपूर्ण रूप से प्रतिपादन करता हूँ। चौकोर तथा बराबर क्षेत्र को अस्सी अंशों से विभाग करना चाहिए। और आठ भागों से युक्त शुभ गर्भ गृह का निर्माण करना चाहिये। बावन खंभों से युक्त गर्भ-कोष्ठ-समन्वित सीमा का निर्माण करना चाहिए, पुन सब देव-कोष्ठों मे ३२ खम्भों से और उन सब एकान्तरों से फिर उस स्थान से बाहर के स्थान मे बारह क्षोभण कर्णों (खभों) से, सुवर्ण तथा रत्नमय स्तम्भों से एवं शुभ्र पट्टों से भूषित, मकर अलकारों से खचित, वितानों और विभूषणों से भूषित, संगमरमर पत्थर से बने हुए विविध जालों से हरित-मणि-वेदिकाओं से, हंस, वर्ण कपोतादि तिर्यक्-स्थित स्थालों और अर्धकणिकाओं से, भी शोभित गर्भ के ऊपर पर्यन्त-देश मे स्थित घंटा में लोकनाथ भगवान् ब्रह्मा के द्वारा यह वैराज-सज्ञा वाला प्रथम प्रासाद निर्मित किया गया है ।।३-९।।

और इसी वैराज से स्वस्तिक और गृहच्छद उत्पन्न होते हैं और चतुःशाल त्रिशाल और हिरण्यक भी इसी से पैदा होते है। सिद्धार्थक, द्विशाल, एकशाल और कुम्भक भी पैदा होते हैं, और इसी से वर, वीर, चतुर्मुख विमान-प्रासादभी रचे गये हैं। ये गणों के, देवताओं के और स्कन्द के ये क्रमशः बारह प्रासाद बने गये हैं ।।१०-१२।।

अन्य शुभ-लक्षण प्रासाद भी जानने चाहियें—स्वस्तिक, श्रीतरु, क्षिति भूषण, भूजय विजय, भद्र, श्रीकूट, उत्णीष, नद्यावर्त, विमान, सर्वतोभद्र, विमुक्त-कोण ये सब प्रासाद वैराज प्रासाद से उत्पन्न होते हैं ।।१३ १४।।

इस तरह एक एक से क्रमशः दूसरा एक एक पैदा होता है—स्वस्तिक से रुचक, श्रीतरु से सिंह-पञ्जर, श्माभूषण से शाला, भूजय से गज-यूथप, विजय से श्रीतस भद्र से नदी श्रीकूट से चित्रकूट, उष्णीष से प्रमदाप्रिय, नंद्यावर्त से व्यामिश्र, विमान से हस्ति-जातिक, सर्वतोभद्र से कुबेर, मुक्तकोण से धराधर पैदा होते हैं ॥१५-१८½।

इन्ही से छोत्र (अर्थात् उत्तम-मध्यमाधम के तृतीय भेद) पैदा होते हैं। उन के वे भेद उन्ही के आकार से अपने अपने अलग अलग प्रकार वाले लक्षित होते है। उनमें से उत्तम भागो से पूर्व (अर्थात् उत्तम) तथा मध्यमो से मध्यम और अधमो से अधम प्रासादो का निर्माण करना चाहिये ॥१८½-१९½॥

तदनन्तर अन्य शिखरोत्तम प्रासादो को जानना चाहिये—उन में से पहला रुचक, दूसरा वर्धमानक, तीसरा श्रवतस, चौथा भद्र, पांचवा सर्वतोभद्र, छठा मुक्तकोणक, सातवा मेरु और आठवा मन्दर—ये आठ शिखरोत्तम प्रासाद जानने चाहियें ॥१९½-२२॥

देवो के शुभ आलय चौकोर बताये गये हैं। ये वश । कहे गये हैं और ये सब ब्रह्म-जाति के निवेश-योग्य हैं ॥२३॥

वैराज कुल से उत्पन्न परमोत्तम प्रासाद माने गये हैं और इन से और भी इनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से उत्पन्न और भी पैदा होते हैं ॥२४॥

अपने वंश वाले, सुपरिवार तथा परवश-विवर्जित शुभ-लक्षण प्रासादों का, ऐश्वर्य और तेज की इच्छा रखने वाले को, निर्माण करना चाहिये। ये आनन्द देने वाले, वृद्धि करने वाले, सब कामनाओं का फल देने वाले, हृष्ट पुष्ट जनो से आकीर्ण तथा पूजा और सत्कार की वृद्धि करने वाले कहे गये है ॥२५-२६॥

यदि ये हीन होते हैं और परवश न दूषित होते हैं तो मनुष्यों को नित्य उद्वेग और अर्थनाश और कुलनाश करते हैं तथा गृह-स्वामी को पीड़ा पहुंचाते हैं यदि और भी कुछ गर्हित होता है। इस लिये दूसरी जातियों से अदूषित इन प्रासादों का निर्माण करना चाहिए ॥२७-२८॥

इस प्रकार वैराज प्रासाद से उत्पन्न प्रासादों का वर्णन किया गया॥-८½॥.

वैराज से जन्म वाली इस शुभ लक्षण वाली सुर-सद्म-परम्परा का संक्षेप से वर्णन किया गया और यह ठीक तरह से निर्माण करने पर आनन्द, कीर्ति, धन और धान्य को देने वाली होती है और विपरीताचरण से बनाने वाले को अनर्थ-फल देने वाली होती है॥२९॥

प्रासाद-द्वार-मान-आदि

अब प्रासादों के द्रव्यों में क्रमशः उदय, विस्तार, बाहल्य तथा परिधि का वर्णन करूंगा। प्रासाद के भाग के उत्सेध भाग से प्रासाद का द्वार इष्ट होता है। उसकी ऊंचाई तीन अथवा साढ़े तीन अंगों से होती है। अपने उदय ऊंचाई से आधे विस्तार से वह इष्ट होता है। पेद्या को चार अंगों से विस्तार और आधे से माटाई कही गई है। शाखा का मान पेद्या के बाहल्य के विस्तार से विस्तीर्ण माना गया है। उत्तरंगों का निर्माण तो पेद्या-शाखा के समान ही बनना चाहिए। पद्या के विस्तार के एक चौथाई से रूप शाखा बनाई जाती है तथा उसके ऊपर रूप-शाखा से युक्त पाठ बन्ध बनाना चाहिए। उस अर्धवृत्त में गोल तथा पत्रों से निरन्तर सम्पन्न करना चाहिए। स्तम्भ से दुगने व्यास वाला भूषणों से युक्त भरण होता है। और वह रूप-शाखा के समान, अति सुन्दर बनाना चाहिये। ऊपर चारों तरफ अष्ठ अंश-मात्र में उसे चौकोर बनाना चाहिये और उसके ऊपर भरण की ऊंचाई एक पाद कम होनी चाहिए। नीचे के शोष-गर्भ में कपाल बनाना चाहिए। सरथालयपत्र अपनी ऊंचाई से आधा निकला हुआ होना चाहिए और उसके ऊपर उच्छालय-पत्र करना चाहिए। रथिका उन दोनों द्वारों की ऊंचाई से बनानी चाहिए। पुष्पकादि के द्वारा भरण के अर्ध प्रमाण से भूषा बनानी चाहिए। यथा-भाग रूपकों से और सब तरफ से छूटे खम्भों से निर्माण इष्ट है। इसके बाद शृंगागार होता है। रूप-शाखा के बीच में सिंहनकों और हस्ति-तुण्डों से विभूषित कपोतादि का निर्माण करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा ये विषम संख्या से बनाना चाहिए। उसके बाद बाहर सब तरफ से परिमण्डली बनाना चाहिए और उसके प्रमाण का विधान अन्त-शाखा के समान होता है। द्वार-शाखा से युक्त उसमें इधर उधर पद्म-पत्रिकाओं की योजना करनी चाहिए। द्वार शाखा के विस्तार से उठी हुई नीचे से अर्ध भाग में ग्रीवा की रचना करनी चाहिए ग्रीवा के आधे से समान अन्तर पर नीचे दो भाग में तीन अंश वाली जंघा बनानी चाहिए। पद्या-पिंड के प्रमाण से खल्व शाखा बनाई जाती है तथा पद्या पिंड के समान ही बाह्य शाखा

का व्यास बताया गया है। इस क्रम से इच्छानुसार थोडी शाखायें बनानी चाहिये तथा द्वार-शाखायें कभी भी नव (९) से अधिक नही बनानी चाहिए। निर्गम अथवा प्रवेश पेद्या के विस्तार से समन्वित अथवा शाखाओ के आधे से युक्त बनाना चाहिए। पेद्या-पिंड के आधे से पिंड का उदुम्बर होता है। उसके आधे से तल का व्यास और भूमि के अग उसके बराबर विहित हैं। उदुम्बरक-पिंड के मान से सिंह-मुखो का विधान है। उदुम्बर से एक पाद से हीन अथवा बराबर अथवा अधिक तीन प्रकार का यह पिंड होता है और विस्तार से स्तम्भ से अधिक विधान है और वह चौथाई भाग के समान स्तम्भ वाला १२ अशो से प्रपीड़ित और दो भागों मे इसे रूप-लक्षणो से युक्त करना चाहिए। इस प्रकार के नाना रूप-प्रपचो से ६४ प्रकार की रचना-विधिया एव विच्छित्तिया बतायी गयी है। ॥ १-२३ ॥

स्तम्भ के विस्तार से विस्तीर्ण उसके एक पाद से वर्जित, विस्तार से तिगुना दीर्घ होने पर पिण्ड मे हीरग्रहण इष्ट होता है। स्तम्भ के प्रमाण से कुम्भिका और उत्कालक सदा होते हैं। तल-पट्ट के समान उत्तर-पट्ट बनाया जाता है। उसके समुत्सेध के तीन भाग से हीर का निर्माण होता है, वह पट्ट से कुछ निकला हुआ होता है और उसका यथा-शोभा निर्माण करना चाहिए। इसके ऊपर यथाशोभ कठ और आसन स, चित्र-विचित्र रथिकाओ से, तोरण सहित कूटागारो से, अलिन्द मे अथवा मडप मे चबूतर पर अथवा वलभियो पर विचित्र समुत्क्षिप्त तल वाले तथा लक्षण-युक्त यथोचित वितानो का निर्माण करना चाहिए ॥२४-२६½॥

सात लुमायें—फलवर्तियो से बनायी हुई लुमाओं का अब वर्णन करता हू। जो सब वास्तुओ ने इस प्रकार उत्क्षिप्त भेद होते है—वे तुम्बिनी, लम्बिनी, हेला, शान्ता, कोला, मनोरमा, आत्मभाला—इन नामो से ये सात लुमायें बताई गई हैं ॥२६½-३१½॥

चौकोर सुन्दर शुभ भूमितल वाले क्षेत्र के बराबर सूत्र-कर के वर्ग से कर्ण का विभाजन करे और उन दोनो के मध्य मे गर्भ-सूत्रो का विन्यास करे। फिर मध्य भागो मे अन्य सूत्रो का विनिवेश करे ॥३१½-३२½॥

मध्य मे वृत्त खीच कर कमल-उपमा वाली लुम्बिका का उल्लेख करे। क्षेत्र मे वृत्ताकार भाग बना कर सूत्र-सूत्र मे पिडस्थ लुमा को सूत्र से खीचे। और

लुमाओ के सब अवकाशों मे वैकट्य से घुसना चाहिए। उन दोनो के अन्तर के मध्य मे विकर्कर दुगुना अथवा तिगुना होता है। इसके बाद वलनी खीचे। इसके बाद वहा मण्डल मे व्यास के आधे भाग से ऊचाई का निर्माण करना चाहिए। तल-सूत्रो के सम्मान से ऊर्ध्व-सूत्रित तुम्बिका होनी चाहिए तथा तल-सूत्र का उदय तुम्बिका का अन्तर होता है। पूर्व-सूत्र मे लुमा के अग्र भागो मे ऋजु कण्टकों का कल्पन करना चाहिए और बाहर के स्थानो में और भीतर के स्थानो मे सुनिश्चित लक्ष करना चाहिए। लक्ष को लेकर नीचे के सूत्र से ऊपर के सूत्रो का लक्षण करे। कण्टक के अन्त मे उदय मे उसी प्रकार से अनुसन्तत उत्तर-सूत्र का तथा लुमाओ के खल्वको का दापन करे। और इन्ही मे वलियों का पिण्ड-व्यास, क्षोभण-विस्तार होता है, जो लुमाकर्णगता होती है, उसको आध्माता कहा गया है। छेद म कुछ कम प्रवर्तित दूसरी लुमा मनोरमा कहलाती है। तीसरी कोला, चौथी शान्ता बताई गई है। हेला नाम वाली पाचवी लुमा और छठी लुमा का नाम लम्बिनी है। सातवी लुमा तुम्बिनी कहलाती है। इस तरह यह मार्ग-सूत्र से निकली हुई लुमाएं होती है ॥३ ३/२–४३ १/२॥

पच्चीस वितान—इनसे कोल, नयनोत्सव, कोलाविल, हस्ति-तालु, अष्ट-पत्र, शरावक, नाग-वीथी, पुष्पक भ्रमरावली, हस पक्ष, कराल, विकट, शख-कुट्टिम, शखनाभि, सपुष्प, शुक्ति, वृत्तक, मन्दार, कुमुद, पद्म, विकास, गरुड़-प्रभ, पुरोहत, पुरारोह, विद्युत्-मन्दारक–इन पचीस वितानो का निर्माण करे। ॥४३ ३/२–४७ १/२॥

अब इनका रूप और निर्माण कहते हैं ॥४७॥

चारो तरफ चौकोर अथवा आयताकार चौकोर क्षेत्र के गोल कर लेने पर एक नाभी से वह वितान कोल कहलाता है।४८

चौकोर क्षेत्र मे जब कर्ण-स्थानो मे चौकोर निबन्धन मे विकट आकार की वलिनी ? और जिसके मध्य मे भ्रमवृत्त और उसके बाद दूसरी लुमाए होती हैं। तथा जहा पर सस्थित एव सुसम्वृत पाच तुम्बिकाए बनाई जाती है ? वह नयनोत्सव नाम का वितान होता है ॥४९-५१॥

कोलाविल वितान बराबर क्षेत्र मे तथा आठ भागो म विभाजित क्षेत्र के बराबर करने पर मध्य मे दो भाग मे तुम्बिका से युक्त उसको करके वृत्त खीचना चाहिए वहा पर भ्रम के अन्त मे सूत्र मे सोलह भ्रमो को बनवाना चाहिए। दो

ऋजु सूत्र होते है। उनसे उन लुमाओं का प्रकल्पन करना चाहिए। जो बचे सूत्र हो उनसे वर्तिनियों का प्रकल्पन करे। तुम्बिनी मे वृत्त बनने पर हस्तितालु वितान कहा जाता है ॥५०-५४॥

अष्ट-पत्र-नामक वितान मे चौसठ भाग वाला क्षेत्र प्रकल्पित करे। लुमा के स्थानों मे पत्रों के खण्ड करे तथा फिर अन्तरों से समस्त स्थानों मे तुम्बिकाओं का सन्निवेश करना चाहिए। इस तरह पत्रों से विन्यास वाला वृत्ताकार शराव-नामक वितान बनता है ॥५५-५६॥

चतुरश्र अथवा वृत्त तीन भागों से विभाजित क्षेत्र मे बलि और सूत्र दोनों के सम्पात मे नागवीथी नामक वितान का निवेश करना चाहिए। इस वितान को जो मनुष्य बनाना चाहता है उसका नाम नागपथ (नागवीथी) कहा जाता है। ॥५७-५८½॥

ऊपर टेढे भावों से जो निरन्तर पुष्प-मालाओं से आकुल किया जाता है वह शोभा-युक्त पुष्पक नामक वितान उदाहृत होता है। ॥५८½-५९½॥

अशोक के पल्लवों से आकीर्ण लमाओं का भ्रम निबन्धन जहा पर चतुरश्र क्रिया-युक्त होता है, उसे भ्रमरावली कहते हैं॥ ५९½-६०½॥

अध्माता नाम की लुमा जहा पर एक कर्ण से आयता होती है और वह तुम्बिका के स्थान पर आश्रित होती है और जहा पर मध्य मे तुम्बिनी होती है उसको हंसपक्ष-नामक वितान कहते हैं॥ ६०½-६१½॥

इसी के पक्ष मे जब मनोरमा नामक लुमा सम्बन्धित होती है और विपक्षों मे तुम्बिनी सम्बन्धित होती है तो वह वितान कराल नाम से पुकारा जाता है। ॥ ६१½-६२½॥

विरट मे कोला नाम की लुमा होती है। शम्ब मे शान्ता नाम की लुमा बताई गई है। शख के समान सूत्र जब तुम्बिका का सूत्र प्रवर्तित होता है और सब लुमा-स्थानों मे वह एक रेखा-युक्त होता है तो यह उत्तम वितान शख-नाभि के नाम से कहा गया है ॥६२½-६४½॥

इसी के लुमा के स्थान मे जब तुम्बिका पद्माकृता होती है और जो वलयों (मण्डलों) से भूषित होती है, ऐसे वितान को सपुष्प नाम से पुकारते हैं। ॥६४½-६५½॥

वृत्तायत आकार वाले क्षेत्र मे शुक्ति-संज्ञक वितान को बनवाना चाहिए ॥६६॥

वृत्ताकार क्षेत्र मे वलय कर्म से वृत्तक-नामक वितान होना चाहिए ॥६६३॥

चौकोर सम क्षेत्र मे जो लुमा का आधा भाग होता है उसमे वृत्त के क्षोभण-भागो का निवेश होता है उसको मन्दार नाम का वितान कहते है ॥६७-६७३॥

कुमुद-नामक वितान कुमुद के समान लुमा-क्षेत्र के आधे से होता है ॥६७॥

पद्म-नामक वितान मे लमा नीचे की तरफ क्षिप्त होती है। और विकास नामक वितान मे मध्यमा लुमा होनी है। गरूड नामक वितान म मध्य भाग मे नागो के आभरणो मे शोभित गरूड होता है। पुरोहल नाम का जो वितान होता है वह नीचे जाकर फिर ऊपर जाता है, फिर नीचे जाकर ऊंचे २ चढता है और फिर नीचे विचित्र क्षोभणो से आकीर्ण और बार २ वृत्ताकार वाला और मध्य मे आठ कोण वाला विद्युन्मन्दारक-नामक वितान बनता है ॥६८-७०॥

आठ प्रासाद-उदय—अब प्रासाद के छाद्य-संश्रय मान और उन्मान का वर्णन करता हू। छाद्य-विस्तार के आधे से ऊपर के भाग मे वश का प्रकल्पन करना चाहिए। यह अर्धोदय आवन्त्य नाम का कहा गया है। तीन अश के छाद्य-विस्तार का दूसरा उदय वामन नाम से पुकारा जाता है। इन वामन और आवन्त्य दोनो के मध्य मे नौ भागो का विभाजन करें तो वामन नामक भाग से उत्तर वें आठ प्रकार के उदय कहे गये है—आतपत्र, कौबर, शमनाह्य, अवर्ला, हस-पृष्ठ, महाभोगी, नारद और शम्बुक। इस तरह से पहला वामन और अन्तिम आवन्त्य इन दोनो से युक्त दस उदय हुए॥ ७१-७४३॥

अब छाद्य-वृत्तो का उदय कहता हूं ॥७५॥

तल-सूत्र को बराबर करके १२ प्रकार के उदय करने चाहिए। छठे भाग से आरम्भ कर सात उत्तर के भाग वाले उदय होने है – कुबेर, शेखरी, चन्द्री, नाग, गणाधिप, मत्स्य, और सुभद्र ये वृत्त मे सात उदय बताए गये है ॥७६-७७॥

त्रिकर्कर पद बनाकर फिर लुमा-पृष्ठ खीचे। आधे भाग से अधिक होना चाहिये तथा यह लुमा-पृष्ठ लेख क्षेत्र से छाद्यक-वर्तना होनी चाहिए ॥७८॥

आधे भाग से बढे हुए तल-सूत्र-क्रम-युक्त क्षेत्र मे पहिली लुमा को लिखे फिर क्रमश छै क्रमो से अनुवर्तित करना चाहिए। और फिर वह लुमा तीन भाग से हीन और एक अगुल से बढी हुई होनी चाहिए। उस से तीसरी लमा वक्ष्मी के सहित तीनो अगुलो से बढ़ी हुई होती है। चौथी तीन अशो से कम

छँ अगुलो से और पाचवीं तीन अशो से कम दश अगुलो से छठी, चौदह अगुलों से बढी हुई होती है । सातवी बीस अगुलो से बढ़ी हुई कोण संश्रिता होती है ॥७६-८२॥

इस क्रम से लुमाओ की वृद्धि और ह्रास के मान वर्णन किये गये और प्रमाण छाद्य-क्षेत्रानुसार अनुपात वाले होते हैं ॥८३॥

कुबेर, वल्लरी, शेवरी, चन्द्री, पन्नगा, गणनायक, मुग्धा, मुख्या, सुभद्रा ये लुमा-कर्म कहे गये हैं ॥८४॥

इनके चार गण्डिका-छेद बताए गए है—ऊर्ध्वग्, तिर्यग्, तीन अश वाला, तथा साढे तीन अश वाला ॥८५॥

छाद्यक का उदय एव विस्तार उसके निर्गम के समान आयत वाला होता है । छँ भाग से विभाग कर विस्तार और आयाम से बराबर क्षेत्र को बनाकर वहा पर ऊर्ध्व द्रव्य के प्रमाण से पहिली गण्डिका का छेदन करें । फिर उसमे छेद के अनुसार लम्बक देवे और गण्डिका के नीचे कोष्टको का प्रकल्पन करे। अवपात और ऊचाई समझ कर तीन स्थान चिन्हित करें तथा गर्भ मे और ऊपर के प्रान्त मे उन दोनो के बीच से तीसरा स्थित सूत्र तीनो स्थानो मे जिस स्थान पर स्पर्श करता है वहा से उस सूत्र को फैला कर कर्कट को घुमावें । तब लुमार्ध के इस प्रकार से ऊपर का सस्थान होता है और ऊपर स्थित सूत्र से उसके बराबर ही कर्कट को खत्व-सिद्धि के लिए प्रान्तावलम्बक स्थान मे घुमाना चाहिए। पूर्वकोण मे दो भाग से अवच्छिन्न फलक पर बराबर करने पर लुमा पार्श्विनी बनती है। बाकी लुमा को चार दीर्घ अशों मे प्रविभाजित करे और इसके बद चार प्रकार से उसका वृत्त-वर्तन बनावे । आधी ऊचाई मे विस्तार के दो अशो से उन्मित लुमा की ऊचाई होती है और इसके मूल मे और आगे भाग मे भाग के आधे से उदय कहा जाता है। नीचे के क्षेत्र मे वह उदय विस्तार से सूत्र का अवलम्बन कर वैसा होता है। लुमा का अग्र-भाग-अश और दोनो का जो बीच स्थित होता है वहा पर उस रक्खे हुए सूत्र का स्पर्श करें फिर वहा पर कर्कट को लेकर घुमावे। एक २ भाग को बढती से क्षेत्र की अपेक्षा से चारो गण्डिकाओ मे विधि-पूर्वक वृत्तवर्तन करना चाहिए। लुमा के मूल से क्षेत्र के पाँचवें अथवा तीन अश से अथवा मोटाई के आधे से लुमा की पृष्ठ-मूल-रेखा पर दो गोल बनाने चाहिए। इस प्रकार से

आलेखन कर शेष पहिले के समान करना चाहिए। लुमा के मूल से क्षेत्र के सातवें अथवा चौथे अंश मे अथवा मोटाई के मध्य मे लुमा-पृष्ठ लेख पर दो वृत्त खीचने चाहिए। इस प्रकार ६ भागो से आलेख कर शेष का पूर्ववत् आचरण करे। क्षेत्र के नवें अथवा पाचवें अश से लुमा के मूल से उसकी मोटाई के आधे मे फिर लमा-पृष्ठ पर दो लकीरें खीचे। शेष छै भागो से अन्य पहिले के समान ही निर्माण करे ॥ ८९—१०२½ ॥

छोटे प्रासादो का निर्गम आधे भाग से बनाना चाहिए ॥ १०२ ॥

ज्येष्ठ प्रासादो का निर्गम छाद्यक के ही भागो से बनाया जाता है। इसके बाद और दूसरे जो प्रासाद हैं उनका निर्गम क्षेत्र के अनुसार होता है ॥ १०३ ॥

छाद्य का निर्गम विद्वानो को अनुपात से करना चाहिए। निर्गम के तीन भाग से छोटा छाद्यकोदय होता है। आधे भाग से बड़ा, उसके बाद छः से भाजित करना चाहिए। और दूसरे पाच उत्तर भाग होते हैं। इस प्रकार से सात उदय माने गये हैं ॥ १०४-१०५ ॥

त्रिविध सिंह-कर्ण—प्रथम **स्वास्तिक** सिंह-कर्ण का लक्षण कहूँगा। छाद्य के उदय से उसका उदय होता है। फिर उसको दस से विभाजित करें। उन सोलह भागो से उसका ही तल-विस्तार होता है। ऊपर के चार भागो को छोड़कर शकु का निवेश करना चाहिए। चौकोर क्षेत्र मे कर्ण से लेकर शकु तक वृत्त खीचे। पीछे शंकु का अधिरोपण करे। ऊर्ध्व-देश से चारो भागो मे वह एक भाग से होता है। तीन भागो से कम दो अश वाले कर्कट से उत्पन्न वृत्त खीचे, उसके ऊपर एक भाग से ग्रीवा बनावे। शिखर और अग्र भाग इन दोनो के मध्य में तथा गर्भ मे टेढे दो भाग होते हैं। कर्ण और अग्र भाग इन दोनो के मध्य मे विद्वानो को तीन भाग करने चाहिए। और ग्रीवा के ऊपर एक भाग से शिखा होती है और शिखा के ऊपर भाग मे गर्भ सगत बनाना चाहिए। उसी प्रकार ऊपर से शिखा का अग्र भाग आधे भाग मे लटका हुआ होता है। एक भाग से कर्ण का आगा लटका हुआ होता है। और स्कन्धाग्र भी वैसा ही होना है। कर्ण और खण्ड इन दोनों का मूल स्कन्ध-देश से संगत होता है। इस प्रकार यह स्वस्तिक नामक सिंहकर्ण दो अश के विस्तार और आयाम वाला होता है ॥ १०६—११४½ ॥

अब आद्ये **त्रिमलीललित** नामक सिंहकर्ण की ओर।

इस प्रकार से नीचे के सूत्र से ऊपर के भाग मे शकु का निवेश

करना चाहिए और पूर्व वृत्तादि सब एक भाग में निवेशित करें। और स्वस्तिक या अन्य जैसा पहिले बनाया गया है वह पहले के समान ही सब बनावें। तल-सूत्र से ऊपर गर्भ से समान चार अंशों में बनावें और दोनों तरफ दो २ भागों में देश कर और उसी प्रकार नीचे के सूत्र से ऊपर गर्भ से एक भाग में (अर्द्ध-व्यास) और चार २ भागों में दोनों तरफ सम वृत्त के आधे हिस्से एक कर्ण से युक्त पहिले के समान सोवें। और एक शृंग, ग्रीवा और स्वस्तिक के आधे हिस्सों से युक्त होना चाहिए। तल-सूत्र के बाहर के देश से बाह्य वृत्त का समुद्भव होता है। और यहां पर परिस्फुट पार्ष्णि तीन पदों में प्रविष्ट होते हैं। और यह त्रिपत्रीललित नाम का यह सिंह कर्ण कहा गया है।
॥ १०४½-१२०½ ॥

वलि-नामक सिंह-कर्ण – दस भाग करके पहले की ऊंचाई में चौदह अंश में विस्तीर्ण कर्ण में वलि-नामक सिंह कर्ण होता है और दस भागों से ऊँचा करने पर पहिले के समान त्रयोदश भाग विस्तृत क्षत्र वाला एक वलि नाम वाला तीसरा सिंह कर्ण होता है। ये त्रिकोण सवर्ण वाले शोभा से युक्त करने चाहिए ॥१२०½-१२२॥

प्रासादों के इस प्रकार से द्वार-मान और स्तम्भों के निवेश और स्फुट-रूप में वितानों का और उनकी लुमाओं का वर्णन किया गया है। वृत्त-छाद्यों की ऊंचाई भी बताई गई और छाद्य-स्थित लुमाओं का भी वर्णन किया गया। साथ साथ सिंह-कर्ण के दूसरे सात प्रमाणों का भी वर्णन किया गया है ॥१२३॥

जघन्य-वास्तु-द्वार

अब इसके बाद जघन्य वास्तुओं का तथा द्वार के मान का विस्तार, मतगोच्छ्राय तथा द्रव्य-व्यास-विधि का वर्णन करता हूं ॥१॥

टढे आयत वाले जो निरधार प्रासाद कहे गये है, उनके चार भाग से गर्भ-धाम का विभाजन करना चाहिए। डढ भाग से और अपने आध भाग से विस्तृत द्वार का निर्माण करना चाहिए। द्वार के विभाग के एक पाद से पद्मा का विस्तार कहा गया है। विस्तार के आध भाग से पिंड, और उसी के समान उदुम्बर होता है। शाखा के व्यास से उदुम्बर का व्यास डढ भाग प्रमाण से चार प्रकार का पद्मा पिण्ड बनाना चाहिए। शाखा पेद्मा-पिण्ड के विस्तार से ही बनाई जाती है। शाखा के विस्तार से अब विस्तार-सहित रूप शाखा बनाई जाती है। पद्मा पिण्ड र आग से खल्व शाखा बनाई जाती है। रूप शाखा के समान विस्तार से तुंग शाखाओं का निर्माण करना चाहिए। तुंग शाखा के बाहर और जो बाह्य शाखाय बनाई जाती है वे सब विस्तार से आठ अंश से अधिक बनाई जानी चाहिये। द्वार के आयाम और विस्तार के योग से जो संख्या होती है वह गर्भ और मंडप के समान तनादय का मान समझना चाहिए। द्वार की उँचाई से उन्नत मंडप में उसके गुणा से तन की ऊँचाई होती है। प्रथम प्रासादों में तन-मान उदाहृत किया गया है। ज्येष्ठ में छै भाग से अधिक और मध्य में आठ भाग से अधिक प्रासाद की मनपद बल-विधि बनाई जाती है। उसका प्रयोग न तो नीचे करना चाहिए और न उदुम्बर से ऊँचे ॥२-१२॥

पुम्भिका भरण, पट्ट, जयन्ता नीपक आय-स्तक में तुलाओं का प्रथम प्रतिपादित मान होना चाहिए। न उनको कम न अधिक करना चाहिये ॥१३॥

प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षण

अवनि-मण्डल मे प्रशस्त तथा अप्रशस्त जो प्रासाद होते हैं उन प्रासादो के लक्षणो का वर्णन करता हू ॥१॥

जो बराबर, सम-कर्ण, सम-स्तम्भ, सम-क्षण, न ऊचे न बहुत छोटे, कर्ण के आयाम से अविछिन्न, विभाग से असमृद्ध एवं प्रमाण से सुसस्थित ऊपर और नीचे कर्ण पादियों से युक्त तथा सलिलान्तरो मे मयत्न, अमर्वाण उदय वाले तथा अपने परिमाण से परिकल्पित छाद्यो से सुविभक्त सुन्दर सस्थान वाले और अविकलागो से रम्य बनाये गये तथा सम-भाग-विभक्त, सम आलिन्दो से युक्त अपनी जाति की विशेषताओ से युक्त अन्य जाति से अदूषित, शरीर से असकीर्ण और सस्थान से सुसस्थित, केवल जाति-शुद्ध प्रासाद मनुष्यो के लिए कल्याण-दायक कहे गये है। मूल से लगाकर मस्तक तक सुदृढ मूल पादो से दृढ और सुश्लिष्ट द्रव्य-सधियो से अधरोत्तर-सयोजना-रहित तथा देश और जाति मे प्रसिद्ध, भूषणो से सुविभूषित प्रासाद नित्य मगल देने वाले तथा पूजा-सत्कार की वृद्धि करने वाले होते है। ऐसे प्रासादो को बनवाने वाले और बनाने वाले दोनो उत्कृष्ट वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥२-६॥

अब अधम प्रासादो के अशुभ लक्षण वर्णन करूगा। जो प्रासाद विषम तथा कर्ण-हीन होते हैं वे क्लेश, वध, तथा भय देने वाले होते हैं। विषम स्तम्भो और क्षणो के प्रासाद स्वामी की मृत्यु के हेतु होते हैं। अत्युच्च प्रासादो से राजा के लिए भय और छोटो से सेना नष्ट होती है तथा कर्ण के आयाम से विकल प्रासाद भयकर होते हैं। विभाग से विहीन प्रासाद दारिद्रय और भय देने वाले होते हैं और नष्ट-कर्ण-पालियों से मनुष्यो के लिए उद्वेग होता है। छाद्यो के सकीर्ण और हीन होने से प्रासाद कुल का नाश करने वाले होते हैं। दुर्विभक्त तथा विकल-संयुक्त द्रव्यो से कुसस्थ प्रासाद क्रमशः रोग, क्लेश और मृत्यु देते हैं। विषम और भाग-हीन अलिन्दो से व्याधि से भय होता है। अन्य-जाति-प्रदूषित एवं उलट फेर वाले से पराजय प्राप्त होती है। परावृत्त तथा अन्य-सकीर्ण और अन्य-

विग्रह जो प्रासाद होते है वे बनाने वाले और बनवाने वाले अथवा अपने के सुखदायक नही होते । विश्लिष्ट-पीठ संधियो से मूलपाद म दुर्बल प्रासाद अल्प आयु करने वाले और भयावह होते हैं । नीच ऊंच गामी श्लिष्टो के द्वारा प्रासाद व्याधि कारक समझना चाहिए। साथ ही साथ देश-प्रतिकूल भूपणो से युक्त प्रासाद सुखदायी नहीं होते है ॥१२३-१८३॥

जो मनुष्य कीर्ति चाहते है और भूतो को जीतना चाहते है, वे शुभ लक्षणो से युक्त मुख्य प्रासादो को बनावें और दूसर अमुख्य प्रासाद कभी नही बनावें।

तेज, यश लक्ष्मी विज आदि की कामना करन वाले लोगो के द्वारा ये अशुभ प्रासाद वर्ज्य कहे गये है ॥१६॥

द्वितीय पटल

शिखरोत्तम प्रासाद

१ रुचक आदि ६४ प्रासाद
२ मेरु आदि १६ प्रासाद

अथ रुचकादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद

अब इसके बाद शिखरो से युक्त रुचकादि ६४ प्रासादो के क्रमशः नाम और लक्षण कहूँगा ॥१॥

पहिले जो पाच विमान वैराज आदि कहे गये है, उन्ही के आकार को धारण करने वाले ये सब पचीस प्रासाद अब बताये गये हैं ॥२॥

विविध आकार वाले शिखरो से तथा एक अड से भूषित अथवा कोई तीन अंडो से युक्त या कोई पाच अडो से युक्त इस प्रकार थोडे भेद से वे प्रासाद समझने चाहिये। ये प्रासाद सब कामनाओ को पूरा करने वाले होते हैं। सोने के और चादी से बने हुए देवताओ के सतत-प्रिय कहे गये हैं। मणियो, मुक्ताओ और प्रवालो आदि भूषणो से सुविभूषित, पीतल, ताबा, और घोष (टीन) आदि से बने हुए प्रासाद पिशाचो, नागो और राक्षसो के लिए बताये गये है। ये देवलोक प्रासाद—देवतायतन इच्छा-पूर्वक स्वच्छन्द-चारी होते है। पाताल मे स्फटिक पाषाणो से बने हुए प्रासाद निर्दिष्ट होते हैं। मृत्यु-लोक मे ईंट, लकडी के प्रासाद बनाने वाले और बनवाने वाले दोनो को सुख और आनन्द देने वाले होते है ॥३-७॥

लक्षणो से युक्त इनका अब वर्णन करता हूँ। ये पुरो के भूषण कहे गये हैं और मनुष्यो की भुक्ति और मुक्ति देने वाले बताए गये है। अब इन प्रासादो का यथा-विधि लक्षण-पुरस्सर वर्णन करता हूँ ॥८॥

रुचकादि २५ ललित प्रासाद—रुचक, भद्रक, हस, हसोद्भव, प्रतिहस, नद, नद्यावर्त, धराधर, वर्धमान, अद्रिकूट, श्रीवत्स, त्रिकूट, मुक्त-कोण गज, गरुड सिंह, भव, विभव, पद्म, मालाधर, वज्रक, स्वस्तिक, शकु, मलय, मकरध्वज—इन नामो से ये पचीस प्रासाद कहे गये हैं ॥९–१२½॥

अब इनके रूप और निर्माण का यथाविधि विधान बताता हूँ ॥१२॥

इनमे से रुचक आदि १८ प्रासाद चतुरस्र (चौकोर) बताये गये हैं। भव और विभव चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार) कहे गये हैं। पद्म और मालाधर ये दोनो गोल बताये गये हैं। मलय और मकर ये दोनो प्रासाद

वृत्तायत अर्थात् गोल और आयताकार होते हैं ।।१३-१४।

वज्रक, स्वस्तिक, शकु ये तीन प्रासाद अठकोण होते हैं ।।१५½।।

ये सब पचीस प्रासाद ललित नाम से कहे गये हैं अर्थात् ये ललित (लाट?)प्रासाद हैं। अब अन्य मिश्रक प्रासादों का वर्णन करता हू ।।१५।।

नौ मिश्रक प्रासाद—सुभद्र, योकिट, सर्वतोभद्र, सिंह-केसरी, चित्र-कूट, धराधर,तिलक, स्वतिलक, तथा सर्वाङ्गसुन्दर ये नौ मिश्रक-प्रासाद बताए गए हैं ।।१६-१७।।

पचीस सान्धार प्रासाद—अब सान्धार प्रासाद कहे जाते हैं—केसरी. सर्वतोभद्र, नदन, नंदिशालक, नदीश, मदिर, श्रीवृक्ष, अमृतोद्भव, हिमवान्, हेमकूट, कैलाश, पृथ्वीजय, इन्द्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूटक, वैडूर्य, पद्मराग, वज्रक, मुकुटोत्कट, ऐरावत, राजहस, गरुड, वृष तथा प्रासाद-राज मेरू (जो देवताओ का घर है)—ये सब सान्धार प्रासाद है। इस प्रकार यथा-विधि साधारो का वर्णन करता हूँ ।।१८-२१।।

पांच निगूढ प्रासाद—लता, त्रिपुष्कर, पचवक्त्र, चतुर्मुख और नवात्मक ये पाच निगूंढ-सज्ञा वाले प्रासाद कह गये है।।२२।।

पहिला प्रासाद जो केसरी के नाम से पुकारा जाता है, वह पाच अंडको से बनाना चाहिए। नंदन नाम प्रासाद तेरह अंडकों वाला होता है। और नदिशाल जो बताया गया है वह सतरह अडको से निर्मेय है। नदीश इक्कीश अडको से युक्त होता है और मंदर प्रासाद को विद्वान् पचीस अडको से युक्त बनवावे ।।२३-२५।।

इन प्रासादो मे श्री-वृक्ष २६ अडको से प्रशस्त माना गया है। अमृतोद्भव प्रासाद ३३ अंडको से विहित है। ३७ अडको से हिमवान्, ४२ से हेमकूट, ४५ अंडो से कैलाश, और ४६ से पृथ्वीजय और जो इन्द्रनील प्रासाद बताया गया है वह ५३ अडको से, महानील ५७ से, भूधर ६१ से, रत्नकूट ६५ से, शुभ लक्षण वैडूर्य ६६ से, पद्मराग ७३ से, विजय ७७ से, मुकुटोत्कट ८१ से, ऐरावत तो ८५ से और ८६ से राजहंस, ८६ से वृषभ और प्रासाद-राज मेरू १०१ अडको स युक्त बताया गया है ।।२६-३४।

हरि, हिरण्य-गर्भ, ब्रह्मा..... (?) और भास्कर सूर्य के लिए ही यह मेरू-नामक प्रासाद बनाना चाहिए और किसी अन्य देवता के लिए इस प्रासाद का निर्माण नही करना चाहिए ।।३५।।

कर्तृ कारक-व्यवस्था—प्रासाद-राज मेरु देवताओं का निकेतन है इस को बनाने वाला कारक क्षत्रीय ही होना चाहिए और इसका स्थपतिकर्ता वैश्य होना चाहिए इस प्रकार मेरु के बनाने पर ये दोनों आनन्दित होते हैं। इसके विपरीत वास्तु शास्त्र की विधि का जानकार भी क्षत्रिय यदि इस प्रासाद का स्थपति होता है तो इसका मृत्यु, नीच और विभ्रम विनाश को प्राप्त होता है।३६१-३८१।

समर्थ होने पर भी यदि ब्राह्मण मेरु प्रासाद को बनाने वाला होता है, तो बनाने वाला और बनवाने वाला दोनों ही पीड़ा को प्राप्त होते हैं। और उसकी यथार्थ प्रासाद का भी वैसी पूजा नहीं होती है ॥३८१-३९१॥

वास्तु शास्त्र में विशारद यदि ब्राह्मण स्थपति होता है तथा धनवान होता हुआ भी वह वणिक कर्म में यदि प्रवर्तित होता है तो सभी ब्राह्मणों में वह स्थपति नाम से निर्दिष्ट होता है। इस प्रासाद स्थल में सभी देवताएं हैं तो फिर वृद्धि क्यों न हो? वास्तु शास्त्र जानने वाला भी यदि उसका कर्ता तथा बनवाने वाला अथवा कारक यदि क्षत्रिय राजा भी यदि मेरु का कर्ता होता है तो राष्ट्र का भंग होता है और प्रजाएं दसों दिशाओं में जाती हैं अर्थात् राज्य विच्छिन्न हो जाता है। क्षत्रिय नरेन्द्र स्थापति के द्वारा प्रासाद के निर्माण से मेरु की पूजा होती है और क्षत्रिय भी अक्षय पद को प्राप्त होता है ॥४११-४३॥

वर्ण-सहित एक २ का यहां जो मान प्रमाण होता है वह सबका वर्णन करता हूँ। जब चार भागों में हीन चौकोर क्षेत्र होते हैं उनमें एक भाग से सब तरफ दीवार और दो भागों में गर्भ गृह का निर्माण होता है। फिर उसके दो भागों से निकास बनाना चाहिए। विस्तार के तीन भाग से स्तम्भों से भूषित प्राग्रीव बनाने चाहिए। पीठ के उदय के एक भाग से दो भाग वाली जंघा होती है। आधे भाग से मसूरक और एक भाग से वरंडिका बनाना चाहिए। पाद सहित चार भागों में शिखर की ऊँचाई बताई गई है। तिगुने सूत्र से स्कंध को सींचना चाहिए। इसका स्कंध तीन भागों से विभाजित करना चाहिए। आधे भाग से आमलक और एक भाग से आमलसारक विहित है। आधे भाग से पद्म पाद और एक भाग से (?) बनाया गया है। इस प्रकार से यह रुचक नामक प्रासाद का वर्णन हुआ ॥४४-५०॥

अब भद्र नामक प्रासाद का वर्णन करते हैं जो गुण सहित है ॥५१॥

दोनों कर्णों के मध्य में सविस्तार भद्र का निर्माण करवाना चाहिए तब

देव मन्दिर हस नामक प्रासाद का निर्माण होता है। हस के समान ही जब भद्र के मेरू प्रास द का निर्माण अन्त मे सलिलान्तर बनाया जाता है तब हसोद्भव नामक परिकीर्तित होता है।५२-५३

रथान्त और वर्ण इन दोनो मे जब सलिल न्तर बनाया जाता है तब यह मनोरम प्रासाद प्रतिहस के नाम से पुकारा जाता है ।।५४।।

रूचक के ही प्राग्रीव सीमा के विस्तार स विस्तृत जो होते हैं तथा भद्र-मान से निकास होते हैं तब उसे नद कहते हैं ।।५५।।

भद्र के प्रमाण से प्राग्रीवो के द्वारा यदि विभूषित होता है और एक भाग के प्रमाण से चौकोर निर्गमो मे चारो तरफ वह विभषित होता है, सामने का प्राग्रीव यदि दो स्तम्भो मे विभषित होता हैं ,तब नद्यावर्त नामक विजयावह यह प्रासाद कहा जाता है ।।५६ ५७।।

नद्यावर्त मे जब भद्रान्त मे जल-निर्गम बनाया जाता है तब भुवनोत्तम प्रासाद धराधर की सज्ञा से पुकारा जाता है ।।५८।।

चारो तरफ से चौकोर क्षेत्र को दश भागो मे विभाजित कर दो भाग से कर्ण बनाना चाहिए, और बचे हुए के सात भाग कर तीन भाग से इसका मध्यम रथक बनाया जाता है और दो २ भागो मे बायें और दायें दो रथक बनाए जाते हैं और भाग इसी भाग के तीन भागो से विनिर्गम बनाया जाता है। इस प्रकार यह वर्धमान–नामक प्रासाद कहा जाता है ।।५६-६१।।

अब गिरि-कूट का वर्णन किया जाता है। वर्धमान के भद्र-स्थित मध्य-सूत्र स कर्ण-सूत्र के न्यास की योजना करनी चाहिए। उन दोनो के आगे पुनः चार अन्य सूत्रो का न्यास करे। उससे उत्प न भद्र-स्थान कर्णों स चित्रकूटक गिरिकूट प्रासाद होता है ।।६२ ६३½।।

यदि वर्धमान के अन्त मे और रथ के अन्त मे सलिलान्तर होता है तो श्रीवत्स नाम का शुभ प्रासाद होता है ।।६३½-६४½।।

गिरिकूट के सस्थान मे तथा उसी प्रकार के विनिवेश मे निखिल प्रतिरथो मे इसके कर्णों की योजना करनी चाहिए। पहिले के समान प्रत्येक रथो से उद्भूत दोनो सूत्रो से कर्ण के मार्ग से त्रिकूट नाम का देव-मन्दिर होता है। ।।६४½ ६६½।।

त्रिकूट के ही भद्र-न्यास-रहित सस्थान मे, स्वरूप-भद्र-सस्थान मे मुक्तकोण

होता है ॥६६½-६७½॥

विस्तार के चार भागो मे और पाच भागो से आयत क्षेत्र मे, एक भाग स भित्ति और और शेष स गर्भ-गृह का निर्माण करना चाहिए । इसके क्षेत्र के आधे सूत्र से पीछे वृत्त खीचना चाहिए । आगे की आकृति से सूरसेन और पीछे से गज की आकृति वाला यह गज-नामक प्रासाद गणेश के लिए बनाया जाता है । ॥६७½-६९½॥

वर्धमान के सस्थान म गरूड का विनिवेश करना चाहिए । उसके दोनो पक्ष प्रासाद के आधे भाग से निकले हुए होने चाहिये ॥६९॥

दोनो पक्षो मे ... (?) वर्धमान का विभाजन करना चाहिये । दोनो पार्श्वों मे जाति-शुद्ध रथो का निर्माण करना चाहिये । इस तरह गरूड-नामक प्रासाद होता है ॥७०-७१॥

वर्धमान के सस्थान मे पहिले के समान दो कर्णों का नियोजन करना चाहिए। दो भागो से रथिका और शेष से भद्र का प्रकल्पन करना चाहिए। जघा पाच भागो से और इसका पीठ आधे से, वरडी को रचना-विशेष भी आवश्यक है । दोनो अन्तर-पत्रो का भाग उत्सध के तीन भागो से, और नौ भागो से शिखर की ऊचाई करनी चाहिए। कुम्भ और आमल-सार इन विच्छित्तियो का भी इस सिंह-प्रासाद मे भी वैसा ही विधान है ॥७२-७४॥

चार पदो से विभाजित कर चौकोर क्षेत्र मे सीमा के विस्तार-प्रमाण से उसके रथो का प्रकल्पन करना चाहिए। क्रमशः सभी दिशाओ मे एक पाद से निर्यातो (निकासो का) निर्माण करना चाहिए। फिर उसके दो भागो के विस्तार वाले प्राग्रीवो को बनाना चाहिए। चारो दिशाओ मे पद के छै भागो से निर्यातों का निर्माण करना चाहिए। इसका गर्भ दो अशो से विस्तृत और चारो भागो से आयत होता है। जघा, उत्सेध और पीठ जैसा भद्र मे वैसा यहा पर भी । इस प्रकार तीन देवताओ का आश्रय वाला यह भव-सज्ञक प्रासाद होता है ॥७५-७८॥

भव के ही जल-निर्गम-सहित रथो का जब निर्माण किया जाता है तो वह विभव नाम का प्रासाद होता है ॥७९॥

आठ भागो मे विभाजित चारो तरफ से चौकोर क्षेत्र मे क्रमशः गर्भ-सूत्र और वर्ण-सूत्रो को बनाना चाहिए। इसक सब दिक्सूत्रो मे आधे पद से ही सीमा

बनानी चाहिए। पद के अठारवें भाग से वृत्त खींचना चाहिए। विस्तार के आधे से गर्भ और गर्भ के आधे से दीवालें होनी हैं। उस वृत्त के बाह्य-सूत्र से १६ भाग बनवाना चाहिए। दिग्सूत्रों और कर्ण-सूत्रों में रथकों का सम्प्रकल्पन करना चाहिए। सलिलान्तर-भूषित दो भागों से रथिका बनाना चाहिए। इसका सलिलान्तर श्रीवत्स के समान ही बनाना चाहिए। जघा, उत्सेध, पीठ और शिखर भी वैसे ही होने चाहियें। भीतर और बाहर से सम मालाधार-नामक प्रासाद जानना चाहिए ।।८०-८५½।।

मालाधर के सस्थान में जो क्षेत्र पूर्ववत स्थित होता है वहा पर उदकान्तर-विच्छिन्न पद्म नामक प्रासाद का निवेशन करना चाहिये। उसके आगे कर्ण-व्यास के आधे भाग से विनिर्गमों का विन्यास करना चाहिये। और वे विनर्गम पद्म-पत्र के समान आकार वाले होते हैं तथा लक्षण-युक्त और जाति-शुद्ध होते हैं। ।।८५½-८७½।।

छै भागों से आयत और विस्तृत चौकोर क्षेत्र में दो भाग से विपुल और चार भागों से आयत गर्भ होता है। गर्भ के व्यास को नापने वाला सूत्र पद-पाद-समन्वित होता है। उससे अर्धवृत्त दक्षिण और उत्तर से घुमाना चाहिए। पद-पाद-युत सीमा के विस्तार-सूत्र से आगे और पीछे भी वृत्त का अनुवर्तन करना चाहिये। इस प्रकार से उसका यह वृत्त-क्षेत्र १२ भागों का होता है। दो भागों से भद्र-विस्तार और भाग का विस्तार एक भाग से। भद्रों के मध्य में एक भाग रथों का विस्तार करना चाहिये। इस का सलिलान्तर मालाधर के समान ही बनाया जाता है। यह मलय नामक प्रासाद तो वृत्तायत होता है ।।८७½–९२।।

मलय के ही कर्णों में यदि रथिकाओं की कल्पना होती है तथा पद के छै भाग के निकास सलिलान्तर-विहीन होने चाहियें। यहा पर पीठ, उत्सेध, जघा और शिखर होते हैं। वे सब एकमात्र समायुक्त लाट-प्रासादों के सदृश प्रतीत होते हैं। उनका वैशिष्ट्य भी तद्वत परिकल्प्य एव निर्माप्य है—साराश है यतः एक ग्रन्थ-श्लोक गलित है। अस्तु, एक भाग से वहा पर दीवाल और दो भागों से गर्भ-गृह बनाना चाहिये। इस के चारों तरफ रथिकाओं के जल-निर्गम बनाने चाहिये। इस प्रकार से शुभ-लक्षण यह वज्रक-नामक प्रासाद कहा जाता है ।।९३-९७।।

वज्रक के ही सलिला०र-वर्जित ४४ विभक्त सस्थान मे तीन भाग वाली रथिकायें होती हैं। इसकी आठो दिशाओ मे दो भाग वाले कर्ण होते हैं। कर्णों में पद्म-प्रासाद-समान यह स्वस्तिक प्रासाद बताया जाता है ॥६८—६६॥

वज्रक के ही सस्थान मे जो पहिले रथ दिखाये गये हैं, उनमे एक २ चार-चार अंशो से बनाना चाहिए। रथकों से निकला हुआ दो भाग मे इसका मध्य होता है। इस तरह आठ कोनो से यह शकु-नामक प्रासाद उद्दिष्ट किया जाता है ॥१००—१०१॥

चतुरश्र (चौकोर)-१६; चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार)-२; वृत्त (गोल) - २; वृत्तायत (गोल एव आयताकार) - २; तथा अष्टाश्र-अठ-कोण—३=२५—ये पचीस ललित प्रासाद बताये गये हैं ॥१०२-१०३½॥

अब मिश्रक प्रासादो के लक्षणो का क्रमशः वर्णन करता हू ॥१०३½॥

भद्रक प्रासाद के ही सस्थान मे भद्र मे जब शृंग बनाया जाता है, तब यह प्रासाद सुभद्र नाम का रथकूटो से विशिष्ट होता है ॥१०४॥

पूर्वोक्त केसरी प्रासाद के भद्र वाला शृंग होता है, तब वह सर्वतोभद्र-सज्ञक होता है। भद्र-शृंग को छोड कर वहीं पर सिंह बनवाना चाहिए। उन दोनों के मिश्र-योग मे सिंह-केसरी-नामक मिश्रक प्रासाद बनता है ॥१०५-१०६॥

श्रीवत्स-नामक प्रासाद के ही संस्थान मे भद्र मे कूट का निवेश करना चाहिये। उसी याग से कर्ण मे भी प्रति-शृंगापशोभित उसको बनाना चाहिए। सत्रह निर्मल कलशो मे पद्म-घन्टा बनाई जाती है। इस प्रकार का वह प्रासाद चित्र-विचित्र शिखरो से युक्त त्रिकूट नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०७-१०८॥

कर्ण मे, भद्र मे तथा प्रति-स्थान मे जब पूर्ण शृंग होने पर सत्रह अण्डकों से वह युक्त होता है तब उस प्रासाद को परापर कहते हैं ॥१०९॥

श्रीवत्स के ही सस्थान मे कर्ण मे कूट का निवेश करना चाहिए तब वह प्रासाद तिलक नाम से पुकारा जाता है ॥११०॥

जिस प्रकार से कर्ण मे उसी प्रकार भद्र मे प्रासाद चित्रकूट के नाम से होता है और जो उसमाग मे भी उसी प्रकार होता है वह सर्वांग-सुन्दर होता है ॥१११॥

सभी प्रति-शृंगों मे जब कूट का निवेश किया जाता है, तब वह श्री नाम का मिश्रक प्रासाद जानना चाहिए ॥११२॥

सब प्रासाद कूटो से ढके हुये बने होने चाहिये और वे सब चतुर्मुख होने चाहियें। बहुत शृंग वाले और मिश्रक और उस के बाद कुटी संज्ञा वाले भी होते हैं। इस प्रकार इन नौ मिश्रक प्रासादो का लक्षण बताया गया। ॥११३-११४½॥

अब इस के बाद साधारण प्रासादो का स्पष्ट लक्षण कहता हूं ॥११४॥

आठ भागो मे विभाजित क्षेत्र को चौकोर करके उसके मध्य मे गर्भ होता है और दो भागो से देवालय का निर्माण किया जाता है। एक भाग मे दीवाल बनाई जाती है और एक भाग से कारिका। फिर बाहर की दीवाल भी उसी भाग से विहित है। उसके कर्णों मे दो भाग वाली लतिकायें बनानी चाहियें। और बाकी भद्र सलिलान्तर से अलकृत बनाना चाहिये। और सभी दिशाओं मे एक भाग स निकाम की यह विधि है। चार भाग से ऊंची जघा और करक उसके आधे से बनाये जाते हैं। वरडी और अन्तरपत्र एक भाग से बनायें। और उसके अवकाश मे एक एक रथिका ३½ भाग से ऊची बनानी चाहिए। षड् भाग वाले मूल मे बाकी बचे हुए अशो की ऊचाई से शिखर बनाना चाहिए। उसकी ऊचाई के तीन भाग करके वेणुकोश का आलेखन करना चाहिये। उसका स्कन्ध-कोशान्तर चार भागो से विभाजित कर फिर १½ अंश से पद्म-शीर्ष और ग्रीवा बनवाने चाहिए। एक-एक भाग से कुम्भ और आमलसारक बनाने चाहिए। उसके ऊपर आधे भाग से बीजपूरक का निर्माण करना चाहिए। सब प्रकार से सन्तति-प्रिय यह कमरी नाम का प्रासाद होता है ॥११५-१२२½॥

भूमि भाग को चौकोर और बराबर बनाकर प्रासाद के व्याम से दुगनी जगती करनी चाहिए। प्रासाद के आधे से उन्नत जगती का पीठ बनाना चाहिए। और पीठ के ऊपर प्रासाद की सस्थापना करके फिर प्रासाद का विभाजन करना चाहिये। सर्वतोभद्र या सस्थान और हस्त की सख्या जब इस प्रकार होती है कि ३७ हस्तो मे ज्येष्ठ बनाया गया है, सत्ताईस से मध्यम प्रसाद और कनिष्ठ प्रासाद पच्चीस से बनाया गया है। इनका तलच्छन्द तथा ऊपर की गति जैसी ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ प्रासादो की होती है, वह सब ठीक तरह से कहा जाता है। शतमूलविभाजित चौकोर क्षेत्र में चार वर्ग पद मे युक्त उसके मध्य से गर्भ का न्यास करना चाहिए। गर्भ के एक पद से दीवाल और उसी प्रकार से अन्तरालिका बनाई जाती है। बाहर की दीवाल

भी वैसी ही होती है। इसका प्रमाण भी तद्वत परिकल्प्य है। सलिलान्तर का भी प्रमाण शास्त्रानुकूल विहित है। शेष भद्र गर्भ के आधे से निकले हुये बनाने चाहियें। भाग का आधा हिस्सा बगल से क्षोभित कर देवे। और निर्गम भी उसी प्रकार बनाना चाहिए। शेष भद्र-विस्तार उसी प्रकार पाच भागो के आयत से होता है। उसका पीठ २½ भाग से ऊचा बनाना चाहिए। इसकी ऊँचाई से दुगने से जघा का निर्माण होना चाहिए। आधे भाग से मेखला और एक भाग से अन्तर-पत्रक बनाना चाहिए। वहा पर पहली रथिका तीन भागो से ऊची और दूसरी रथिका तीन भागो से ऊची और दूसरी जो रथिका होती है वह डेढ भाग मे ऊंची बनानी चाहिये। इन दोनो के ऊपर भाग-भाग मे अन्तर करना चाहिए। सातवें भाग से उन्नत छै भागो के विस्तार से शिखर बनाना चाहिए। इस प्रकार से प्रासाद को ८ भूमियो से विचक्षण स्थपति बनावे। जल-निर्गम से विच्छिन्न रथ और प्रतिरथ उसी प्रकार बनाने चाहिए। चार डोरे वाले (चतुर्गुण-सूत्र) पृथक सूत्रो से पद्म-कोश का अंकन करना चाहिये। नील कमल के पत्तो की आकृति वाली ललित मञ्जरी बनानी चाहिए। ग्रीवा आधे भाग से और पूरे भाग से आमल-सारक और पद्म-शीर्ष का निर्माण ग्रीवा के मान से बुद्धिमान् को बनाना चाहिए। डेढ़ भाग उष्णीष-सहित पद्म के ऊपर कुम्भक होता है। इस प्रकार से यह सर्वतो-भद्र नाम का प्रासाद होता है। इस शुभ देवालय सर्वतोभद्र का निर्माण कर मनुष्य परम लोक को प्राप्त करता है। और साथ ही साथ स्वर्ग मे स्वच्छन्द भावित प्राप्त करता है। ॥१२३½—१४०॥

दस भागो मे प्रविभाजित चौकोर क्षेत्र मे व्यास के पद से गर्भ होता है। और उसके आधे से अन्धकारिका। जघा, स्कन्ध वर्ण और भद्र भी इसके जो भाग हैं ये सब सर्वतोभद्र के समान चारो दिशाओ म बनाना चाहिए। उसके सब भद्र दीवालो से घेर देना चाहिए। फिर इसके प्रत्येक भद्र मे वर्धमान का निवेश करना चाहियें। साढ़े पाच भाग से सर्वतोभद्र की आकार वाली रथिकायें यहां भी बनवानी चाहिए। शिखरोदय भी उसी प्रकार विहित बताया गया है ग्रीवा और आमलसार तथा कुम्भ भी उसी प्रकार बनता है। इस प्रकार से नन्दन नाम का यह प्रासाद-देवालय बनाना चाहिये। इसके बनाने पर गृहस्वामी आनन्द करता है और उसके पाप नष्ट होते हैं। ॥१४१-१४७½॥

द्वादश भागो मे क्षेत्र को विभाजित करके फिर उसको चौकोर बनाकर सात वर्ण-पद वाली गर्भ-भित्ति के साथ बनाया जाता है। विचक्षण स्थपति भित्ति-गर्भ

मे पाद के सहित पादिका का निर्माण करना चाहिए। बाहर की दीवाल भी उसी प्रकार बनती है और उसी प्रकार अन्धकारिका भी। पीठ की ऊंचाई तथा जघा और जो रथिकायें होती हैं वे सब सर्वतोभद्र के ही समान होती हैं। साथ ही साथ सर्वतोभद्र के आकार वाले मूल-कर्णों का विनियोजन करना चाहिए। दोनो पक्षो मे एक एक दूसरी रथिका का विन्यास करना चाहिये। इस प्रकार से चारो रथिकायें प्रत्येक कर्ण मे विनिवेशित करना चाहिये। भद्र का शेष विस्तार अपने विस्तार के आधे से निकला होता है। भद्र-व्यास के आधे भाग को ऊंच सिंह-कर्णों से शोभित करना चाहिए। और फिर वही पर आठ शिखरो से विभूषित शिखरो का विन्यास करना चाहिये। चर्तुगुण-सूत्रो से वेणु-कोष का अकन करना चाहिए। और इसका स्कन्ध-कोशान्तर तीन भागो से विभाजित करना चाहिए। उत्सेध से आधे भाग की ग्रीवा, एक भाग से आमलसारक उसी प्रकार पद्मशीर्ष आधे भाग से और एक भाग से कलश निर्मेय है। तीन पाद वाली तीन रथिकायें बताई गई हैं। इस प्रकार सर्वतोभद्रक के आकार का यह नन्दि-शाल-नामक प्रासाद बताया गया है। ॥१४७½-१५५॥

नन्दिशाल के ही रूप वाले सस्थान के निवेश करने पर उसके सब भद्र दीवालो से घर देने चाहियें और उसके प्रत्येक भद्र पर वर्धमान का निवेश करना चाहिये। तीन भागो से भद्र के शिखर की ऊंचाई होनी चाहिये। पीठ की ऊंचाई और जघा तथा इसके शिखर की ऊंचाई नन्दिशाल के समान ही आकार वाले बनाने चाहिये। इस प्रकार यह नन्दि-वर्धन प्रासाद सब देवो के लिये बनाना चाहिये। ॥१५६-१५९½॥

नन्दि वर्धन का सस्थान पहले की तरह ही बनाना चाहिये। वहा पर दोनो कर्णो के मध्य मे जो दो रथिकायें स्थित हैं उनके ऊपर लक्षणो से युक्त शिखर बनाना चाहिए। छै अश से विस्तृत और ६½ अंशो से उन्नत यह होता है। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोश का अकन करना चाहिए। ग्रीवा और आमलसार तथा कुम्भक का आश्रय जो होता है वह सर्वतोभद्र-सस्थान के समान बनाना चाहिए। यह निश्चित है। इस प्रकार पृथिवी का भूषण यह प्रासाद मन्दिर नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१५९½-१६३½॥

नन्दिवर्धन के तद्रूप-सस्थान मे दिक्-सूत्र में और कर्ण-सूत्र मे ये रथिकायें दो भाग के आयत विस्तृत होती हैं और इसका शेष शिखर भागो

के विस्तार से बनाना चाहिए। इसकी ऊंचाई ७½ भागों से बनानी चाहिए। छै भागों से स्कन्ध का विस्तार और इसकी ग्रीवा दो भागों से। रेखा और आमलसार और कलश जो यहां होते हैं वे सब सर्वतोभद्र के समान होते हैं। इस प्रकार यह श्रीवृक्ष नाम का प्रासाद उदाहृत होता है। ॥१६६½-१६७½॥

चौदह भागों में विभाजित कर चौकोर क्षेत्र में दो भाग से विस्तृत कर्ण तथा रथिकायें होती हैं। सलिलान्तर-विच्छिन्न उनको मूल-कर्णों में योजित करना चाहिए। शेष भद्र का विस्तार और उसके आधे से निर्गम होता है। सर्वतोभद्र को भी इसके प्रत्येक भद्र में विभाजित कर पूर्व गुणों से युक्त चारों दिशाओं में निवेशित करना चाहिए। उसका गर्भ शास्त्रानुकूल विस्तृत करना चाहिए। गर्भ के मध्य से दीवाल का प्रमाण १½ भाग से बताया गया है। उसी प्रकार से उसकी बाहर की दीवाल भाग से भ्रमण का निर्माण करना चाहिये। उत्सेध से छै भाग वाली जंघा और उसके आधे से पीठ। वरंडी और अन्तर-पत्र को एक भाग से बनवाना चाहिए। क्रम से प्रत्येक कर्ण में तीन तीन निवेश होने चाहिए। उसकी पहली रेखा तीन भाग से ऊंची बनानी चाहिये। फिर ऊपर दूसरी रेखायें पाद पाद से हीन होनी चाहिए। आठ भागों में विस्तृत और ६½ भागों से उन्नत सर्वतोभद्र के आकार वाला उसका शिखर बनाना चाहिए। इस प्रकार विमान नाम का यह अमृतोद्भव प्रासाद प्रसिद्ध है ॥१६७½-१७६½।

हिमवान प्रासाद को १८ आयाम के विस्तार से विभाजित करना चाहिए। वहां पर चार प्रकार की रथिकायें प्रत्येक कर्ण में निवेशित करनी चाहियें। वे सब दो भाग से विस्तृत ऊपर ऊपर बनवाने चाहियें। उसकी पहली भूमिका तीन भाग से उन्नत और अन्य ऊपर की भूमियां क्रमशः एक एक पाद से हीन होती है। नन्दिशाल प्रासाद के गुणों से युक्त यहां पर शिखर बनवाना चाहिए और मध्य में सर्वतोभद्र के समान भूमिकाओं का निर्माण करना चाहिए। उसकी दो भागों वाली, सब रथिकायें तीन भागों से उन्नत, दूसरी भूमि की रथिका भूमि की ऊंचाई से बनानी चाहिए। शिखर की ऊंचाई पाद-सहित व्यास-सम्मित करना चाहिए। अमृतोद्भव के समान ही यहां पर जंघा और पीठ होता है। यह भुवनाभ जाति-शुद्ध हिमवान् नाम

का प्रासाद विख्यात है ।।१७६३-१८२३।।

हिमाचल के तद्रूप-समवस्थित सस्थान करने पर उसके सर्व भद्रों में वर्धमान का योजन करना चाहिए । उसका विस्तार छै भागो से और उसके आधे से निकास । इसके शिखर की ऊंचाई ७½ भागों से होती है । शिखर के आगे का स्तम्भ सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिए। इसके सब अशो मे त्रिया दिक्-सूत्रो से पूर्ववत् प्रकल्पित करना चाहिए। जंघा, उत्सेध, वर्ण और शिखर जो कुछ इसका होता है, वह सब हिमवान् के सदृश बनाना चाहिए। हेमकूट नाम का यह प्रासाद तीनो जगत् मे प्रसिद्ध है। यह त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) का ही निलय बनाना चाहिए और किसी का नही ।।१८२३-१८७३।।

हिमवान के समान सस्थान वाला प्रासाद बनाना चाहिए। उसके मध्य मे सर्वतोभद्र-सज्ञक प्रासाद का विधान कहा गया है । उसके मध्य मे तो वर्धमान का निवेशन वर्णित कहा गया है। तदनन्तर सब स्थानो मे खड-रेखा का निवेश करना चाहिए । फिर व्यास से उन्नत सिंह-कर्णों से भद्र को अलकृत करना चाहिए । उसके ऊपर का शिखर विचक्षणो के द्वारा वर्जनीय बताया गया है। पाद-सहित दो अंश से उन्नत दो दो रथिकाये बनानी चाहिये। उन दोनो के ऊपर विस्तार से चोकोर शिखर बनाना चाहिए। शिखर की ऊंचाई ५½ अशो से करनी चाहिए। सभी दिक्-सूत्रो से इसी प्रकार से त्रिया करनी चाहिए । बाहर की रेखा और जघा हिमवान् के सदृश बताई गई है। कैलाश नाम से यह प्रासाद प्रसिद्ध होता है और वह शूलपाणि भगवान् शिव के लिये बनाया जाता है ।१८७३ १६३½।।

इसी का ही भद्र जब सिंह-कर्णों के द्वारा ऊंचा किया जाता है और वहा पर मनोरम दो दो रथिकायें दी जाती है, तो शिखर-विस्तार पाच भागो से समुच्छ्रित होता है। भद्रो ने प्राग्रीव एक एक भाग से निर्गत हुए होते है और उनका विस्तार चार भागो से होता है। सभी दिशाओ मे यही विधि है। इसकी बाह्य-रेखा हिमवान् के सदृश बताई जाती है। तब इन गुणो से युक्त यह प्रासाद पृथ्वीजय के नाम से प्रसिद्ध होता है। ।।१६३½-१६६।।

सोलह भागो से विभक्त चारो तरफ से चोकोर क्षेत्र मे आठ वर्ग

भा उस के मध्य में गर्भ होता है और दो भाग की दीवार होती है। भ्रमण और बाहर की दीवार उसी के समान बताई गई है। कर्णों में सन्निरान्तर-भूषित रथिका बनानी चाहिए। दूसरी रथिकायें उसी के तुल्य आयाम और विस्तार वाली होती हैं। और उसी के समान तीसरी रथिका और भद्र चतुरायत विस्तार के चारों से वर्धमान से निष्क्रान्त शोभित करें। वरंडी और अन्तरपत्र डेढ़ भाग से बनाना चाहिए। क्रमशः ऊपर ऊपर कुछ भागों से उसे हीन करना चाहिए। दोनों रथिकाओं के मध्य-भद्र में सिंह-कर्ण का विधान कहा गया है और इसकी ऊंचाई पांच भागों में बताई गई है। पार्श्व में स्थित जो सिंह-कर्ण-स्थित दो रथिकायें निवेशित होती हैं उन दोनों के ऊपर डेढ़ भाग से विस्तृत शिखर होता है और इसकी ऊंचाई तीन भागों से, सात भागों से प्रगता और अधिक भागों से की जाती है। उनके दोनों पार्श्वों की दोनों रथिकायें उतने ऊपर उठाई जाती हैं। निखिल दिशाओं में सिंह का निवेशन करना चाहिए। यही विधि है। मूल कर्ण में उसके बाद आधा शिखर दश से विस्तृत होता है तथा क्रमानुसार ग्यारह पदों से उन्नत उसकी मनोरम ऊंचाई बनानी चाहिए। चतुर्गुण-सूत्र से फिर वसु-कोष का भरण करना चाहिए .. .. (?) उसके ऊपर के आधे भाग से ग्रीवा और अण्डक एक भाग से उच्छ्रित (ऊंचा) तथा पद्म-शीर्ष आधे भाग से और कलश एक भाग से उन्नत होता है। यह देव मन्दिर इन्द्र-नील के नाम से पुकारा जाता है ॥१९७-२०८॥

से समुत्सेध सभी दिशाओं में यही विधि है। इस प्रकार से यह देवालय (प्रासाद) मुकुटोज्ज्वल के नाम से पुकारा जाता है ॥ २१६½—२२१½ ॥

इसी के स्थान में प्रत्येक भद्र में चारों दिशाओं पर सिंह-कर्ण का परित्याग कर *वर्धमान बनाया जाता है। सप्त-भाग-समुच्छ्रित* एवं षड्-भागायत भूमिकायें विहित हैं। देवाधीश इन्द्र का यह प्रासाद ऐरावत के नाम से बनाना चाहिये ॥ २२१½—२२३½ ॥

ऐरावत के सस्थान में पहिले के समान प्रासाद के स्थित होने पर जब वर्धमान को त्याग कर ऊर्ध्व-भाग में सिंह का निवेश किया जाता है और सब दिशाओं में चारों शिखरों को वर्जित करें तो क्षेत्रायाम के *अष्ट भाग में गर्भ-वेश्म का* निवेशन करना चाहिये। चार भाग से आयत वह भद्र-निर्गम में विभाजित होना चाहिये। तीन भद्र दीवाल के भाग से घिरे हुए प्रयुक्त करने चाहियें। द्वार की ऊंचाई अपने विस्तारानुकूल द्वार के आधे से उन्नत वहां पर गवाक्ष इस प्रकार बनाना चाहिये, जिस प्रकार वह द्वार का लंघन न कर सकें। मध्य में दो भाग के आयाम से विस्तृत चतुष्किका बनानी चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मादिकों के लिये राजहंस-नामक यह प्रासाद प्रशस्त माना गया है ॥ २२३½—२३८½ ॥

राजहंस के सस्थान में तीसरी रथिका के ऊपर जब इसका शिखर मान में उन्नत और छै (६) से आयत होता है, तो गरुडध्वज-वल्लभ (विष्णु का प्रिय). यह गरुड नाम का प्रासाद होता है ॥ कर्ता और कारक दोनों के लिये यह प्रासाद सर्वकामना-पूरक होता है ॥२३८½—२४०½ ॥

इसी के मूल शिखर को त्याग कर दो भाग के प्रमाण से जब कर्ण में रथिकायें बनायी जाती है और उसके ऊपर मूल-मञ्जरी से बारह (१२) से उन्नत और दश भागों से आयत बनाया जाता है तब वृषभ-ध्वज-वल्लभ (शिव का प्रिय) यह वृषभ-नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥ २४०½—२४२½ ॥

पचास हस्तों के विस्तार में ज्येष्ठ मठ का प्रकल्पन किया जाता है। मध्यम मठ प्रासाद में हस्तों की संख्या दो दशाओं से अधिक ३६ हस्त (?) और मठ के निकृष्ट भेद में हस्तों की संख्या तीस बतायी गयी है। तीन भागों में प्रविभाजित चौरस क्षेत्र में दीवाल से युक्त गर्भ-गृह विस्तार के आधे से बनाना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से विस्तार वाली गर्भ-भित्ति बनायी जाती है और ढाई भाग वाली जो दीवाल होती है उसी के समान अल्प-कारिका का निर्माण किया जाता है। इसके कर्ण में दो भाग वाली रथिका का

निर्माण करना चाहिये । भद्रो मे चार भाग वाले रथ होते है और उनके आधे से वे विनिष्क्रान्त होते है। भद्र और कर्ण इन दोनो के अन्त मे आठ अश मे सलिलान्तर बनाना चाहिये । उसी प्रकार भद्रो के दोनो पार्श्वो मे रथिकाओ का निर्माण करना चाहिये । सब रथिकाओ का अपने भद्र-विस्तार के आधे से तथा शृग-भद्र जिस प्रकार से एक उसी प्रकार से सब बनाने चाहियें । सब दिग्सूत्रो मे वधमान का निवेश करना चाहिये। आठ भाग से ऊची जघा और उसके आधे से खुर पिण्ड, मेखला और अन्तरपत्र दोनो दो भाग वाले होते है । वहा पर पहिली रथिकायें सवा तीन हस्त (?) उन्नत होनी चाहिये । क्रमश: पद के एक पाद से हीन ऊपर की भूमिया होती है । वर्ण-सहित दिग्सूत्रो मे पहिले के समान क्रिया विहित है । शिखर की, दश भागो से और बारह भागो से, ऊचाई होनी चाहिये । चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का आलखन करना चाहिये, और इसका स्कन्ध-कोषान्तर तीन भागो से विभाजित करना चाहिये । आधे भाग की ऊचाई से उसी प्रकार ग्रीवा और पद्म-शीर्ष भी बनाये जाते है । एक भाग से आमल-सारक और एक ही भाग से कलश भी होता है । इस प्रकार से सौ (१००) शृगो से घिरा हुआ यह प्रासाद मेरु नाम से पुकारा जाता है । स्वर्ण पर्वत मेरु को दक्षिणा मे दे देने से जो पुण्य-लाभ होता है, उससे अधिक ईटो से इस मेरु प्रासाद के बनाने से होता है ॥ २४२½--२५५ ॥

नदिशाल के तद्रूप-समवस्थित सस्थान मे दूसरी रथिका दो भागो से निकली हुई बनानी चाहिये । भद्र का शेष विस्तार अपने विस्तार के आधे से निकला हुआ तथा अष्टाश विस्तृत भी विहित है । आठ अशो के आयाम से विस्तार वाली, फिर उसके सम्मुख शाला बनायी जाती है । उस के मध्य मे दो भागो के आयाम तथा विस्तार वाला गर्भ होता है । इस के गर्भ की दीवाल एक भाग से निकली हुई और उसी प्रकार से बाहर की दीवाल और उसी के समान अन्धकारिका बनाई जाती है । उस की दो भाग वाली रथिकायें सलिलान्तर से भूषित होती है । शेष भद्र का विस्तार एक भाग के द्वारा, निर्गम जघा, उत्सेध और पीठ नदिशाल के समान बनाने चाहिये और वहा पर वर्ण मे तीन भागो से ऊची रथिकायें बनानी चाहियें । लम्बाई छै अश से और सात से विस्तृत शिखर बनाना चाहिये । केसरी-प्रासाद के समान ही इस की रेखा और सामलसारिका बनानी चाहिये । इन गुणो से युक्त इस प्रासाद के बगलो मे भी योजना करनी चाहिये । इस प्रकार से यह लताढ्य नाम से बनाना चाहिये ॥ २५६ – २६३ ॥

आगे वाला मणि जब पीछे न्यसित होता है, तब त्रिपुष्कर नाम का यह देवालय प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥ २६४ ॥

नदिशाल की सभी दिशाओं मे जब केसरी का निवेश किया जाता है तब पचवक्त्र नाम यह ब्रह्मा का प्रासाद बनाना चाहिये ॥ २६५ ॥

जब पचवक्त्र प्रासाद के मध्य मे गर्भ नही दिया जाता और सब दिशाओ के बाहर की लेखा आदि पहिले के समान बनाई जाती है और इस के मध्य मे चार खभो वाली चतुष्किका बनाई जाती है और उस के मध्य से सुशोभित वितान का न्यास किया जाता है तो यह चतुर्मुख प्रासाद ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य का होता है। इन्ही को इसमे स्थापित करना चाहिये। इस का विधान अन्य देवो का नही किया गया ॥ २६६—२६८ ॥

सात वर्ग-पद वाला गर्भ दीवाल के साथ बनाया जाता है। एक भाग से गर्भ की भित्ति और उसी मे अन्ध-कारिका। कर्ण का विस्तार षड् भागो से होता है। उस को दश भागो मे विभाजित करना चाहिये। छै (६) भागों से इस की दीवाल के सहित गर्भ होता है। बाहर की दीवाल एक भाग से और उसी के समान अन्धकारिका। दो भाग से कर्ण की ऊचाई (वैपुल्य) सलिलान्तर-भूषित बनाना चाहिये। चौथे अश से निकला हुआ भद्र का शेष विस्तार करना चाहिये। आधे भाग मे उसके आधे मे सलिलान्तर का क्षोभण करना चाहिये। मत्तवारणो एव खभो के द्वारा ऊपर सुशोभित होना चाहिये। एक रथिका तीन भाग से और दूसरी ढाई भाग से। उनका परस्पर-क्षेप एक २ भाग से बनाया जाता है। शेष से शिखर का विस्तार और तीन अश से उस की ऊचाई पृथक् त्रिगुण-सत्रो से वणु-कोष को लिखना चाहिये। उस का स्कन्ध-कोपान्तर चार भागो से विभाजित करना चाहिये। ग्रीवा और उत्सेध आधे भाग से और एक भाग से आमलसारक। पद्म शीर्ष और कलश एक प्रमाण मे। आधे भाग की ऊचाई से बीजपूरक करना चाहिये। सब कर्णों मे इसी प्रकार से विचक्षण को क्रिया सम्पादन करना चाहिये। दिग्सूत्र के बाह्य भागो मे वलभी का सन्निवेश करना चाहिये। निर्गम पञ्च भाग विहित है जो तिरछे निवेश्य है। इसके मध्य मे तीन भागो से उन्नत दो भाग वाला गर्भ होना चाहिये। आधे भाग से दीवाल और उसी के समान अन्धकारिका। उस के आगे भाग को षड्दारुक-समन्वित बनाना चाहिये। कर्णों मे एक रथिका को डेढ भाग से नियोजित करना चाहिये। शेष से भद्र का विस्तार और एक से इसका निर्गम।

दस प्रकार से दो खभो से युक्त दो भागो से यह भद्र होता है। वलभ और आवर्त के मध्य मे एक भाग से विस्तृत वहाँ पर सलिलान्तर-गुण-द्वार-विभूषित बनाना चाहिये। इस की जघा नौ (६) भाग से ऊची और उसका पीठ उसके आधे से। मेखला और अन्तर-पत्र ये दोनों दो भागों के प्रमाण से बनाये जाते है। पहिली रथिका दो भाग वाली और दूसरी डेढ भाग वाली। शेष से शिखर-विस्तार और पाच अशो से शिखर की ऊचाई। ऊपर ऊपर दो सर्वतो-भद्र निवेशित करने चाहियें। समस्त दिग्सूत्रो मे इसी प्रकार की क्रिया करनी चाहिये। ... ... (?)

इस के वेणु-कोष का अन्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिये। ग्रीवा और पद्म-शीर्ष ये दोनो एक भाग से तथा कलश और अमलसारक—ये प्रत्येक दो भागो से बनाने चाहियें। इस प्रकार से नवात्मक नाम का यह देवालय प्रासाद नवात्मक नाम से विख्यात होता है ॥ २६६—२८६ ॥

देव-प्रतिमा-स्थापन —ऐशानी दिशा म ईश, आग्नेय कोण मे पुरुषोत्तम, वायव्य मे ब्रह्मा, नैर्ऋत्य मे दिवाकर सूर्य, मध्यगर्भ मे शिव, पूर्व मे पुरन्दर भी, दक्षिण मे धर्मराज, पश्चिम मे वरुण और उत्तर मे सोम (चन्द्र) इन देवों का यथा-योग्य दिशाओ मे न्यास एव स्थापना कही गई हैं ॥ २९०—२९१ ॥

पूर्वायतन के निकट शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को इस प्रासाद का यत्नपूर्वक निर्माण करना चाहिये। और तत्र यत्नपूर्वक उस के आद्य का नही करना चाहिये! ॥ २९२ ॥

जिस सस्थान मे उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट प्रासाद का निवेश करना चाहिये, वहा पर जो कर्म बताये गये हैं उनका वर्णन करता हू ॥ २९३ ॥

एक दूसरे के सम्मुख निवेश वर्ज्य है। २९४।

परस्पर दक्षिण मे वेध होने से हीन कहलाता है। वेध मे मृत्यु और हीन मे हानि विनिर्दिष्ट की गई है ॥ २९५ ॥

शिव, ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य ये चारो देव परस्पर-विरोधी कहे गये है इनकी दक्षिण-पार्श्व मे स्थापना नही करनी चाहिये। वायें दूसरे देवों का और न हीनालयो मे निवेश उचित हैं। इन देवो का तथा और देवो का मन्दिर चाहे हीन हो अथवा न हीन हो तो कल्याण चाहने वाले मनुष्य को नही बनाना चाहिये। उन लोगो का देवालय उत्तर से हीन चाहा जाये तो प्रासाद के पद-मान मर्म-वेध से रहित दूसरे प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। सामने, पीछे भी और

दोनो वगनो में भी चार महा मर्मो का निर्माण नही कराना चाहिये। सब क्षण मध्या म एक ही द्रव्य नही लगाना चाहिये तव ? वध एव मम वर्जित किया जाता है। क्षण के मध्य म जव अज्ञान स एक ही द्रव्य दे दिया जाता है तो वनाने वाल और वनवाने वाल दोनो को पीडा होती है और उसकी वैसा पूजा भी नही होती। इसलिये सब प्रयत्न करक स्थपति और वनवाने वाल व्यक्ति दोनो ही प्रासाद क समीप स मर्मो का वजन करें। जो मर्मो का वजन करता है तथा शास्त्रानुकूल इन देवालयो को पुष्पादिको स अलङ्कृत करता है, वही ठाक है। जो व्यक्ति इन लक्षणो से युक्त देवालयो का निर्माण करात है व धन धान्य और सुख को प्राप्त करते हैं और आनन्द करते है ।। २९३—३०६ ।।

हर (शिव), हिरण्यगभ (ब्रह्मा) हरि (विष्णु) और दिनकर (सूय) भी —ये चारो दव देवो क भी पूज्य हैं ।। ३०७।।

इन एक-रुप समन्वित चारो का पृथक ? निर्मा करना चाहिय ।।३०८½।।

आठ बाहु वाल चार मुख वाल कुन्त धारण किये हुये मुकुट उज्ज्वल धारण किये हुये हार और क्यूर स युक्त रत्नमालाओ स सुशोभित ऋषियो स पुरस्सर हाथ म कमल लिये हुये—एम दिवाकर भगवान सूय बनाये जान चाहिये ।। ३०८½—३०९ ।।

शख चक्र धारण करने वाले मधुसूदन देव (भगवान विष्णु) मस्तक पर उज्ज्वल मुकुट को धारण किये हुए वाम भाग म बनाने चाहिये ।। ३१० ।।

वड भारी पेट वाल कमण्डल और अक्ष माला धारण किये हुए दाढी मूछ स विभूषित ब्रह्मा को वनाना चाहिये ।। ३११ ।।

यहा पर रूचक आदि पचीस (२५) ललित प्रासाद जो पहल कहे गये है उनका वणन किया गया और उतनी ही सख्या वाल जो सरी प्रभृति साधारण प्रासाद बनाये गये है तथा चौदह (१४) जो मिश्रक प्रासादो का वणन किया गया है इस प्रकार स ये चौसठ (६४) प्रासाद लक्षण सहित वर्णित किये गये है ।। ३१२।।

अथ मेर्वादि-षोडश-प्रासाद-लक्षण

अब ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ सोलह प्रासादो का विशेष लक्षणों के साथ वर्णन करता हू। जिस तरह इनका विभाग होता है, और जिस प्रकार से नीचे और ऊपर सन्निवेश होता है अर्थात् जगती-पीठ आदि अधश्छन्द तथा मण्डोवर एव शिखर आदि उर्ध्वच्छन्द का विन्यास प्रकल्पित किया जाता है, और जिस का जो प्रमाण होना है उन सब का वर्णन किया जाता है॥ १—२॥

प्रासाद-राज मेरू, हर-प्रिय कैलाश, सर्वतो-भद्रक, विमानच्छन्द, नन्दन, स्वस्तिक, मुक्त-कोण, श्रीवत्स, हस, रुचक, वर्धमान, गरुड, गज, मृगराज, पद्म, और वलभी—ये सोलह प्रासाद कहे गये हैं॥ ३—५½॥

मेरू—पुराविदो का कथन है कि ३३ से नीचे और ५० से ऊपर मेरू के हस्तो की सख्या नही होती है। अर्थात् इस से कम और इस से अधिक प्रमाण प्रशस्त नही माना गया है। क्षेत्र का दश भागो मे विभाजन कर दो भाग से शृग का निर्माण करना चाहिये। और छै भागो से मध्य का निर्माण कर वहा पर निकास किया जाता है। और भाग के षोडशाश से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिय। सोलह पदो मे गर्भ मे इस का अर्थात् प्रासाद-राज मेरू का विस्तार करना चाहिये। प्रासाद की दीवाल एक पद से निर्मेय है। उसी प्रकार बाहर की दीवाल भी बनानी चाहिये। इस प्रकार से जो विहित है वैसा कहा गया है। दो पदो से वेदिका-बन्ध और पाच पदो से जघा तथा आधे २ पद से मेखला और अन्तर-पत्रक विनिवेश्य बताये गये हैं। शृग की ऊचाई तीन भागो से और शिखरो की नौ (९) भागो से विहित है। इस के शिखर की शिखर-विज्ञो को सोलह भूमिकायें बनानी चाहियें। छै अंशो से विस्तृत स्कन्ध कहा गया है तथा एक अश से उठा हुआ अडक बताया गया है। वश से उठी ग्रीवा शिखर की प्रथम भूमिका के विस्तार मे बनानी चाहिये। षड्गुण-सूत्र से ही वेणु-कोष को खीचना चाहिये। भद्र के विस्तार को भी द्विगुण (दुगुनी) ऊचाई करनी चाहिये और सभी प्रासादो मे एक भाग से कुम्भ का निर्माण करना चाहिय। इस प्रकार चार शृग वाला, चार द्वारो से सुशोभित, मेरु की उपमा वाला, इस मेरु प्रासाद का निर्माण, अपना

इस प्रकार सर्वतो-भद्र-प्रासाद के निर्माण में जय, लक्ष्मी, कीर्ति, यश, सब इष्ट फल और सब प्रकार के कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ २३½—३१½ ॥

विमान —चौकोर क्षेत्र को सौ भागों में विभाजित कर प्राज्ञ स्थपति को कल्याण, पुष्टि और सुख को देने वाले इस विमान का विन्यास करना चाहिये। उसको चारों भद्रों से तथा कर्ण-प्राग्रीवों से बनाना चाहिये। यह पांच भूमियों वाला होता है, और ज्येष्ठ-मध्य-कनिष्ठ-भेद से तीन प्रकार का होता है। तीस हाथों से ज्येष्ठ, पच्चीस से मध्यम और इक्कीस से अथवा सोलह हाथों से कनिष्ठ—इन विमानों की तीन संख्या कही गई है—पहिली जाति-शुद्ध, दूसरी मञ्जरी-युत, तीसरी मिश्रक। उनमें से मिश्रक-निर्माण वाला प्रासाद ज्येष्ठ कहलाता है और वह *कैलाश प्रासाद के समान शुभ होता है। मध्यम प्रासाद जाति-शुद्ध होना है* और अधम मञ्जरी-युत कहलाता। इसका पांच भाग के विस्तार से युक्त भद्र होता है। कर्ण-प्राग्रीव का विस्तार एक भाग के मान में करना चाहिये इसी प्रकार आधे २ भाग में अन्य प्रासादावयव जैसे क्षोभण, तथा मलिलान्तर निर्मेय हैं। इच्छावश गुप्त-कर्ण भी बनाये जा सकते हैं और उनका विधान लक्षणान्वित हो। उससे भद्र का निर्गम एक भाग में बनाना चाहिये। मिश्रक-विमान के भद्र का निर्माण बुद्धिमान् स्थपति को चार भागों से करना चाहिये। *खुरपिंडिका के साथ जंघा की ऊंचाई पांच भागों से विहित है। रथिका दो* भागों में और चार अंशों में पहिली भूमि दूसरी आधे अंश से हीन और तीसरी भूमि इसी प्रकार की इष्ट बताई गई है। चौथी भूमि तीन भागों से बनाई जाती है, और पांचवी तो आधे से हीन हो। भूमिका का जो उदय होता है उसके आधे से कूट का निर्माण करना चाहिये। उच्छालक समन्वित कुम्भिका को आधे से बनावें। पांचवी भूमि की वेदिका एक भाग से उठी हुई बनानी चाहिये। छै भागों के विस्तार वाली घटा दो भाग में उठी हुई बनानी चाहिये। घटा का *उत्सेध तदनन्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिये तथा कंठ, ग्रीवा और* अण्डकों का निर्माण एक २ भाग से करना चाहिये और दण्डिका की ऊंचाई एक भाग में करनी चाहिये। घटा के आधे में दो भाग वाली कलश की ऊंचाई बनानी चाहिये तथा पहिले के समान शूरसनादिक सब बनाने चाहिये। यहां पर इस प्रासाद में मनोरम सिंह-कर्णों से भद्र को विभूषित करना चाहिये। पांच व्यास वाले सूत्र से पद्म-कोष खींचना चाहिये, और इनकी जो वल्लरियां होती हैं उनको लताओं में प्रकल्पित करना चाहिये। मिश्रक—विमान मिश्रित अंगों से तथा शुद्ध-भूमिकान्वित होने चाहियें ॥ ३१½—४७½॥

कल्याण चाहने वाला व्यक्ति बनवाये। सर्वस्वर्ण-मेरु-पर्वत को देकर जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य इस मेरु-प्रासाद को ईंटों के पहाड़ में बना कर अर्थात् ईंटों की ऊंचाई से बना कर अधिक प्राप्त होता है ॥ ५½ १५ ॥

कैलाशः —क्षेत्र के चौकोर बनाने पर उस का मान सत्ताइस (२७) हाथों का विहित है। पुनः उसके दस विभाग करे तो वह पुण्य-वर्धन कैलाश प्रासाद होता है। ब्रह्म-कोष्ठ में इस का गर्भ होता है और शेष में दीवाल के भीतर अन्ध-कारिका अर्थात् गर्भ-गृह के चारों ओर जाने वाली प्रदक्षिणा दीवाल होती है। चार भागों से भद्र तथा दोनों मूल-कर्ण तीन २ भागों से बनाने चाहियें। सात भागों से उठी हुई जंघा और मेखला आधे भाग से बताई गयी है। एक २ भाग में अन्तर-पत्र और अण्डक उन्नत होता है। ग्रीवा का अग्र भाग वाला शिखर उत्सेध से दस अंशों से ऊंचा होता है। कैलाश-संज्ञा वाले प्रासाद में स्कन्ध का विस्तार तीन अंशों का ऊंचा होता है। इस अन्तर-पत्र में तो सुताडित सूत्र देकर उस त्रिगुण सूत्र से मनोरम वेणुकोष का आलखन करें। यह प्रासाद आठ भूमियों की ऊंचाई वाला होता है तथा मञ्जरी से सुशोभित शोभा वाला कहा गया है और इस की ऊंचाई कल्याण चाहने वाले को दुगुनी बनवानी चाहिये। आधे भाग से निकला हुआ इसका छै भूमियां वाला भद्र होना चाहिये। सिंह-कर्ण-आदि अन्य विच्छित्तियां भी विवश्य है। इस प्रकार से भगवान् शंकर को प्रिय लगने वाला यह प्रासाद कैलाश नाम से विख्यात होता है ॥ १६—२३½ ॥

सर्वतोभद्र —अब सर्वतो-भद्र-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सर्वतो-भद्र २६ हाथों के परम परिमाण से बनाया जाता है। इस का गर्भ, बाहर की सीमा, दीवालें और अवकारिकायें, जघा र। उत्सेध और दोनों कर्ण जिस प्रकार से मेरु के है, वैसे ही वहा पर भी बताये गये हैं। उसी प्रकार से भद्रों के विस्तारों से इसका निकास भी बनाना चाहिये। पहिली रथिका चार भागों में और उस के बाद दूसरी ढाई भागों से निर्मेय हैं। उन सबका परस्पर अन्तर एक २ भाग का बताया गया है। शिखर का विस्तार छै भागों से बनाना चाहिये तथा इसकी ऊंचाई सात भागों से होनी चाहिये। छै भागों से और दस भागों में मूलज अर्थात् पहले स्कन्ध का विस्तार बताया गया है। उत्सेध में ग्रीवा आधे भाग वाली और अण्डक एक भाग की ऊंचाई वाला विहित है। अतः मूल-सूत्रानुसार छेद की संयोजना होती है। इसकी रेखा वैसी बनानी चाहिये जो सब कल्याणों का सम्पादन करे। मेरू और इसके अर्थात् सर्वतो-भद्र के शृंगों को सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। सब जगह पद्म-कोषाग्र-तुल्य मंजरी बनानी चाहिये।

नन्दन —नन्दन-प्रासाद की सीमा ३२ हाथो से निर्मित होती है। आठ २ के विभाग मे वह ६४ पद वाला होता है। चार भागो मे इसका गर्भ और शेष से भित्यन्धकारिका बनानी चाहिये। गर्भ के समान ही भद्र बनाना चाहिये और उसका निर्गम उसके ऊपर भाग से होता है। फिर सब ओर से कर्ण-सूत्र से बगम मे दो रथो का निर्माण करना चाहिये। पाच भागो से उठी हुई जघा और एक भाग के प्रमाण से मेखला। छै भूमि वाला यह प्रासाद गौन है और ये प्रत्येक भूमिया बारह २ अश वाली होती है। इसकी रेखा, स्कन्ध, अण्डक आदि का आकार कैलाम-प्रासाद के समान होता है। यह नन्दन आनन्द देन वाला और सब आपत्तियो को नष्ट करने वाला होता है॥ ४७½—५२½॥

स्वस्तिक '—पच्चीम हाथ वाले क्षेत्र को चौकोर बना लेने पर फिर दिङ्-सामुख्यानुरूप सूत्रपात करना चाहिये। तदनन्तर सीमा के आवे सूत्र से ठीक तरह से वृत्त खीचना चाहिये। उसके बाद अट्ठाईस भागो से उसको यथा-पद विभाजित करना चाहिय। उसके आधे से दिग्सूत्र-सश्रित शालाओ का निर्माण करना चाहिये। उनके बीच मे एक २ के तीन रथ बनवाने चाहियें। और अन्य शालाकर्णसमथित अर्ध-रथो का भी निर्माण करना चाहिये। जंघा छै भागो मे उठी होनी चाहिये और आधे भाग से तो मेखला कही गयी है। एक भाग से अन्तरपत्र तथा अण्डक (गोलाकार) भी एक भाग से होता चाहिये। आधे भाग से उठी हुई ग्रीवा होनी चाहिये और उसका विष्कम्भ चार पदो का होता है। शिखर की ऊचाई ११ भागो से कही गई है। सभी शिखरो की रचना मे लता-कल्पन विहित है। स्कन्धादि के विस्तार मे द्विगुण-सूत्र का प्रमाण होता है। षड्गुण-सूत्र भी यहा अभीष्ट है। खूब तान कर अर्थात् खीच कर षड्गुण-सूत्र से पद्म-कोष का आलेखन करना चाहिय। वह ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम पच्चीस हाथ वाला, मध्यम सोलह हाथ वाला, अधम बारह हाथ वाला प्रशस्त होता है। ज्येष्ठ की भाग-सख्या के आधे मे मध्यम और मध्यम के आधे से अधम की भाग-सख्या कही गयी है। छै भाग की प्रमाण वाली, उत्तम की जघा बताई गई है तथा मध्यम और निकृष्ट मे वह जघा सात भागो से ऊची होती है। सब लतियो का क्षत्र के द्वारा यह विधान बताया गया है। इस प्रकार मनुष्यो का कल्याण और मगल करने वाला स्वस्तिक नाम से यह समाख्यात होता है। ५२½—६३½॥

मुक्त-कोण —अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हू। वह तीन तरह का होता है—सोलह, बारह तथा आठ भागो मे क्रमश ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ-भेद से मुक्त-कोण नाम का प्रासाद होता है। मुक्त-कोण और स्वस्तिक

इन दोनो प्रासादो मे केवल यही अन्तर है—स्वस्तिक वर्तुल (गोल) होता है और मुक्त-कोण चोकोर। जघा पाच भागो से ऊची और दो भागो से रथिका निर्मित होनी चाहिये। चार भागो से उसकी दूसरी भूमिका का निर्माण करना चाहिये। इसकी बाकी भूमिकाओ का निर्माण तो आधे २ भाग से होना चाहिये। गर्भ को नवधा-विभाग करने के उपरान्त पुन १३ भागो से अन्य अलकरण एव विच्छित्तिया विनिर्मेय है ॥ ६३½—६८ ॥

श्रीवत्स:—दस भागो का विस्तार करके छै भागो से मध्य बनावें। दो भागो से कर्णो का निर्माण करना चाहिये फिर मध्य को चार भागो मे विभाजित कर मध्य मे वायें और दक्षिण दो अग्र के भाग बनाने चाहियें। १२ भागो से रथ-निर्गम बनाना चाहिये। विकट-ग्रग्रीवो एव मनोरम स्तम्भो की योजना इष्ट है। इन गुणो से युक्त श्रीवत्स-नामक प्रासाद सुखद होता है। श्रीवत्स मे और नन्दन मे भी दो अगुल वाला, तीन अगुल वाला अथवा चार अगुल वाला भी सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये ॥ ६९—७२ ॥

हस —दस भागो से विभाजित करके छै भाग वाली मन्जरी होती है। सर्वतोभद्र के समान उसके दोनो मूल-कर्ण दो भाग वाले होते है। इसका सलिलान्तर भी श्रीवत्स के समान भी बनाओ। इस प्रकार ठीक तरह से लक्षणो से युक्त कल्याण-कारक यह हस-नामक प्रासाद कीर्तित किया गया है ॥७३-७४½

रुचक:—रुचक प्रासाद भी इसी प्रकार का बनाया जाता है। किन्तु वह सलिलान्तर-रहित होता है। इस की दीवालें चार अंश से और गर्भ-व्यास के आधे प्रमाण से होता है ॥ ७५ ॥

वर्धमान:—चौकोर क्षेत्र की दस पदो से विभाजित कर वहा पर आधे प्रमाण से क्रमश: प्रान्त का निर्माण करना चाहिये और वह भद्र के चार भागो से विस्तृत होता है। एक भाग से वायें और दायें दो रथ होते हैं। दो भाग से विस्तृत दो कर्ण होते हैं और निर्गम करागुलो से उठाया जाता है। इस प्रकार क्रिया-युक्त वह वर्धमान-नामक प्रासाद और लक्षणों की वृद्धि करता है ॥ ७६-७८॥

गरुड.—रुचक अथवा वर्धमान या श्रीवत्स या हस उन मे जो भी अभीष्ट है, उस को गरुड प्रासाद मे विद्वान् स्थपति करें। इस के दोनो पक्ष-प्रासादो के आधे निकास से बनाने चाहियें और गरुड की नासिका का निर्माण त्रिगर्भा बनवानी चाहिये ॥ ७९—८० ॥

गज.—छै पद वाले क्षेत्र मे इस गज-नामक प्रासाद का विभाजन करना

चाहिये। क्षेत्र के आधे सूत्र से पीछे वृत्त खींचें। चार भागों से इस की जघा होती है तथा आधे भाग वाली मेखला। सामने से यह शूकर की आकृति वाला और पीछे से हाथी की सूरत वाला होता है ॥ ८१—८२ ॥

सिंह—*छै पद वाला सिंह प्रासाद भी होता है। इस का भद्र चार मान* वाला होता है। दोनों मूल-कर्ण दो अंश वाले बनते हैं, तथा गर्भ सोलह पदों से बनाया जाता है। विस्तार के आधे म जघा बनानी चाहिये तथा मेखला एक-पदिका होती होनी है। इसकी एक २ रथिका तीन भागों से ऊंची होती है। सर्वतोभद्र के समान ही इस की रेखा, ग्रीवा और अण्डक आदि होते हैं। सिंह से आक्रान्त भद्रों के कारण यह प्रासाद सिंह-नाम से पुकारा जाता है। पराक्रमशील व्यक्तियों के लिये यह प्रासाद शुभदायक कहा गया है ॥ ८३—८६½ ॥

पद्मकः—पद्म नामक प्रासाद के हस्तों की संख्या सोलह अथवा १८ होती है। उसे वर्तुल बनाना चाहिये। मूल तो स्वस्तिक के समान कहा गया है। उस के सब रथ पद्म-पत्रों के सदृश मनोरम होने चाहिये। सन्निवान्तर नन्दन के समान कल्याण के लिये बनाना चाहिए ॥ ८६½—८८½ ॥

सामान्य विधिः—स्वस्तिक का जिस प्रकार से पहिले मान-लक्षण बताया है उसी से ही विचक्षण स्थपति को सब लतिकाओं को बनाना चाहिये। स्वस्तिक आदि-लतिकाओं में यथा-मूल-विभक्त यथा-स्कन्ध-विभक्त रेखा के मध्य विभाग से शुकनासिका की ऊंचाई में *शुभ स्वस्तिक अंक बनाना चाहिए। वह प्रासादों* के सात भागों से विनिर्मित होने पर शोभा के लिए विहित होता है। विद्वान् स्थपति को विमान-नामक प्रासाद में उसे तीन अंश कम बनाना चाहिये। शुक-नासिका का निर्माण कैलाश-नामक प्रासादों में चार अंश से कम बनाना चाहिए। मेरु-प्रासादों में तो विशेष कर तथा सर्वतोभद्र और सिंह-प्रासादों के शुकनासिका छै भागों के बिना ही बनाने चाहिए। प्रासाद की ऊंचाई में सान्धार-विमान आदि बनाये गये हैं। विस्तार के आधे से उसका गर्भ और जो रहे उससे दीवालें। प्रासाद की जघा की ऊंचाई के तुल्य गर्भ की तुला की ऊंचाई बताई गई है। साधार प्रासादों में तुला का उदय दीवार सहित गर्भ के समान होता है, और उस का निर्माण व्यास के प्रमाण से अथवा कुछ ऊंचा बनाना चाहिये। मूल सूत्र को दस भागों में विभक्त कर पुन तिरछे। गर्भ-सूत्र की प्रतिष्ठा करके सिंह-कर्ण का प्रकल्पन करना चाहिये। इस के मध्य का अवन मध्य-भाग सूत्र से करना चाहिये। उर दो भाग के समान और मस्तक तो एक भाग ऊंचा बताया

गया है। अथवा उस की ऊचाई आधे और पक्ष की ऊचाई दो भागो से। नौ तथा दस प्रकार के दोनों सिंह-कर्ण बताए गये हैं। पहले सिंहकर्ण षड्भाग-विस्तृत एव ऊचाई मे समान, दूसरा तो अपने उदय और विस्तार से बराबर होता है। तथा उदय से आधे विस्तार वाला अन्य सिंह-कर्ण भी विहित है। कामलो तथा अन्य मल्लको को सिंह-कर्ण से प्रकल्पित। करे सभी प्रासादों का यह विभूषण कहा गया है। जिस का जहा पर उचित स्थान है, वहा पर उस का उचित निवेश करना चाहिये। ८८½—१०२½।

वलभि —वलभि के निर्माण मे तिर्यक्-सूत्र को सात भागो मे विभाजित करें और पाच भागो को उसी अश से कल्पित करें। मेखला, अन्तरपत्र, जघा और कुम्भक पाच भागो से ऊचे बनाने चाहियें। उसी के समान शिखर भी उन्नत करना चाहिये॥ १०२½—१०४½॥

प्रासाद-विनियोग —जो विमान आकाश मे कीर्तित हुये हैं, वे ही स्थावरत्व को प्राप्त करने से प्रासादो के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। महेश्वर के लिये कैलाश, विष्णु के लिये गरुड, प्रजापति ब्रह्मा के लिये पद्म और गणनाथ गणेश के लिय गज-नामक प्रासाद बनाने चाहियें। अन्य देवो के लिये ये प्रासाद बनाना उचित नही कहा गया। त्रिविष्टप नाम का प्रासाद तो सर्व-देव-निकेतन माना गया है। इससे जो अन्य प्रासाद बताये गये हैं, वे अनेक प्रकार के होते है। वे प्रासाद बिना भेद के सभी देवो के कहे गये हैं॥१०४½—१०८½॥

अन्य विशेष —जगती का विस्तार प्रासादों की ऊचाई से सम्मित करनी चाहिये। उस जगती की ऊचाई गर्भ के आधे से बनाना शुभ बताया गया है। मण्डप का मान भी शास्त्रानुकूल निर्दिष्ट बताया गया है। चारों कर्ण प्रासादको को प्रासाद के तीन भाग से बनाने चाहिये। इन्हे पूर्व-मुख अपर-मुख, दक्षिण मुख और उत्तर-मुख वाले बनाने चाहियें। इन्द्र, यम, वरुण, और कुबेर सम्बन्धी चारो दिशा-भागो मे वलभी-विनिवेश करना चाहिये। इसका विस्तार, गर्भ-विस्तार से विस्तीर्ण तथा वह दो भागो से या तीन भागों सम्मुखायत हो। इस प्रकार से बाह्य विनिवेश मे जघा प्रासाद के प्रमाण से होनी है। टेढे और आयत सूत्र का गर्भानुरूप मण्डप मे आरोपण करके गवाक्ष और स्तम्भो से युक्त इसे बनाना चाहिये। प्रासाद के विस्तार से दुगुना मण्डप सदा बनाना चाहिये। और मण्डप के अपने विस्तार से बाहर दुगुनी जगती बनानी चाहिये। प्रासाद के आधे से कर्ण-प्रासादक बनाने चाहियें और उनके आधे २ से वलभियो का निवेश करना

चाहिये। इस क्रम-योग से बाह्य से बाह्य सुसवृत होता है। जिस प्रकार मे केयूर, अगद और कुण्डलो से राजा शोभित होता है, उसी प्रकार यह प्रासाद-राज (मेरू) अपने भूषणो से शोभित होता है और श्री, कीर्ति और विजय वाला यह होता है। इस विधान से न्यस्त प्रासाद सदा लक्ष्मी, यश और विजय को देता हैं॥ १०८½—११८½॥

परिवार-विनियोग —आदित्य भगवान् सूर्य का न्यास पूर्व दिशा मे करना चाहिये। कुमार को पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) मे, मातृ देवियो को दक्षिण मे, गणेश को दक्षिणापर नैर्ऋत्य मे, पश्चिम मे गौरी को और वायव्य मे चण्डिका को, विष्णु को कुबेर के दिग्भाग (उत्तर) मे तथा ईशान-कोण मे महेश्वर को न्यस्त करना चाहिये। अब दूसरे देवो का क्रम कहा जाता है। वहा पर ईशानी दिशा म लोक-नायक ईशान को स्थापित करना चाहिये। राक्षसो के मारने वाले इन्द्र को पूर्व दिशा मे, आग्नेयी दिशा मे वैश्वानर (अग्नि) को, दक्षिण मे धर्मराज को नैर्ऋत्य-कोण मे निर्ऋति को और पश्चिम मे भगवान् प्रचेतस को, वायव्य-कोण-दिग्भाग मे वायु को, और कुबेर को उत्तर मे स्थापित करना चाहिये—ये आठ महत्मा लोक-पाल कहे गये है। अपने २ स्थान म स्थित ये लोकपाल सम्पूर्ण जगत का पालन करते हैं। पुर (नगर), कर्वट, दुर्ग, ग्राम और नगरी से इसी क्रम से स्थापित ये लोग प्रजाओ का सुख करने वाले होते है॥११८⅓—१२५⅓॥

प्रासाद-द्वारादि-विनिवेश —जहा पर देवता-वास न हुआ हो, वहा पर द्वार का प्रकल्पन करना चाहिये। प्रासाद के अनुसार द्वार शुभ होता है। अब इसके बाद क्रम प्राप्त द्वार-मान का ठीक तरह से वर्णन करता हू। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ द्वारो का मान-द्रव्य एव स्तम्भादि का वर्णन करता हू। एक हाथ वाले प्रासाद म सोलह अगुल वाला द्वार होना हैं। दो हाथ वाले मे वह द्वार दुगुना, तीन हाथ वाले मे नौ हाथ वाला शुभ माना गया है और चार हाथ वाले मे ६४ अगुल प्रशस्त माने गये है। इसके ऊपर प्रति-हस्त तीन अगुल की वृद्धि बतायी गयी है। द्वार की ऊचाई के हाथो के तुल्य अगुलो का नियोजन करना चाहिये। द्वारानुरूप ही अन्य अवयव एव उसके दुगुने विस्तार से वह स्तम्भ-पिण्ड बनता है। एक, दो, तीन, चार, पाच, छँ, सात हाथो की अवधि वाला द्वार क विस्तार भाग म स्तम्भ सम्यक् प्रकार से बनाया जाता है। सीमा-स्तम्भ चतुर्भाग-प्रमाण विहित है। शास्त्रानुकूल ही दो भागो से वहा पर हीरक-ग्रहण की ऊचाई करनी चाहिये। तीन भागो से पट्ट की ऊचाई करनी चाहिये। अन्य

स्तम्भावयव भी तथैव परिकल्प्य है। पट्ट-हस्त में दो अगुल से निर्गम बनाना चाहिये। वास्तु-शास्त्र-निर्दिष्ट पट्टादि सब स्तम्भ के तुल्य प्रशस्त माने गये हैं। पट्ट के दोनो तरफ एक २ अगुल से पट्ट का विस्तार कहा गया है, और फिर उसके चार भाग करने चाहियें और एक भाग से तुला-धारण इष्ट होता है। चार भागो मे विभाजित तुला-धारण के उत्सेध से एक भाग छोड कर उसका पिण्ड बनाया जाता है। अन्य अवयव एव विच्छित्तिया भी इसी प्रकार परिकल्प्य है। दो भागो के प्रमाण से मूल भाग से जयन्ती और पिण्ड का विस्तार होता है। इस प्रकार से हीर-ग्रहण आदि का सक्षेप से लक्षण-कीर्तन हुआ। अब आगे के अङ्गों पर प्रकाश डाला जाता है। पाच अग मे अधिक स्तम्भ के विस्तार के आधे से कुम्भिका होती है। और स्तम्भ के आधे से गर्भ-कुम्भ का विस्तार माना जाता है। अथवा स्तम्भ-वर्ण से स्तम्भ के अग्र-भाग से दुगुना वही होती है। एक पाद कम स्तम्भ-विस्तार से अग्र-कुम्भ मे ऊचाई मानी गई है। अथवा स्तम्भ के विस्तार-कर्ण से अग्र-कुम्भ मे पिण्ड होता है। अब यथा-कुम्भ-सयोजना के लिये उसके भागो का वर्णन करूगा। पिण्ड के तीन प्रकार से विभक्त होने पर एक भाग से पुत्तली और चार भागो से उसके मध्य के पद्म का अकन करना चाहिये। पाच प्रकार मे उच्छालक के विभक्त करने पर तीन भागों से आवर्तन और वर्तन करना चाहिये और वहा पर मा खाली न बनावें। इस वर्तना म सुतानित सूत्र से दो कुम्भो का निर्माण करना चाहिये। वही पर वीर-गण्ड भी उसी प्रकार निवेश्य है। पद्मालकरण भी विहित है। एक २ भाग से पट्टिका बनानी चाहिये और उसको दो भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। तल कुम्भ के पिण्ड को पाच भाग से विभाजित करना चाहिये। एक भाग से पद्म, एक भाग से कलश, दो भागों से कुम्भ, फिर एक भाग से पट्टिका का समालेखन करना चाहिये। इसका निर्माण ऐसा होना चाहिये, जिससे शोभा प्राप्त हो। इस प्रकार से स्तम्भ-पाद से व्यवस्थित इस कुम्भ-वर्ण का वर्णन किया गया है। तल-पट्ट का पिण्ड-भाग पट्ट के समान होता है। इन सब द्रव्यो में यहा पर सम्यक् शोभा का विधान किया गया है। कम और अधिक भी अगुल-मान मे आचरण कर सकता है। द्वार का आयाम, उदय और विस्तार और द्रव्य का सस्थान जैसा पहले बताया गया, वैसे ही करना चाहिये॥

टि० इस सन्दर्भ मे एक शाख-द्वार, द्वि-शाख-द्वार, पञ्च-शाख-द्वार, सप्त-शाख-द्वार तथा नव शाख-द्वार का वर्णन प्राप्त होता है, जो भ्रष्ट है।

विस्तार को आधे से सब शाखाओं का निर्गम बनाना चाहिये। शाखा-विस्तार से विस्तीर्ण उत्तरांगों का निर्माण करवाना चाहिए। ध्रुव-शाखाओं के *साथ पिण्ड से उदुम्बर का उदय होता है। उदुम्बर के पिण्ड से सिंह-मुखों* को बनवाना चाहिये। उसके आगे से त्रिसन्धि और उसी के समान अग्रिका भूमि होती है। पिण्ड-पूर्व-व्यवस्थित पट्ट तल-न्यास के समान होता है। विचित्र, कूटागारों और सुन्दर रूपकर्म तथा अनेक पत्र-जातियों से यथाभिलषित कण्ठ का निर्माण करना चाहिए। जिस प्रकार पाचक लोग कड़ुआ, तीखा आदि रसों के अनुसार समालोचन कर *पाचन करते है, उसी प्रकार सस्थपति भी* सब आचरण करे। जो कहा गया, जो नहीं कहा गया, उस सब को स्फुट एवं युक्तायुक्त विचार कर यथाशोभ बनाना चाहिए ॥ $१२८\frac{1}{2}-१६०\frac{1}{2}$ ॥

मेरु से लगाकर इन सोलह मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया तथा उनका संक्षेप में लक्षण बताया गया और जगती में प्रामाणादि से संबन्ध रखने वाला दारुमान का भी प्रतिपादन किया गया है ॥ १६१ ॥

तृतीय पटल

भौमिक प्रासाद एवं विमान

प्रासाद-स्तवन

अब ६४ प्रासादो का वर्णन किया जाता है—ये प्रासाद प्रथम ब्रह्मा के द्वारा विश्वकर्मा को दिये गये थे ॥ १ ॥

मर्म-वेध मे स्थित वास्तु-देवो की यथोचित पूजा करनी चाहिये क्यो कि उन की पूजा करना प्रासाद मे, प्रमण्डप मे और ध्वजा मे अत्यावश्यक बताया गया है ॥ २ ॥

उसी प्रकार आसन मे, वाहन मे और सभी उपकर्णो मे भी पूजा विहित है। जिस प्रकार का प्रासाद मे छन्द आदि का विधान है, उसी प्रकार उसकी जगती एव पीठ मे भी वही विधान है। वास्तु विरुद्ध प्रासादाङ्ग उचित नही ॥ ३—४½ ॥

इन मे देवताओ के आठ अलग २ प्रासाद बताये गये है ॥ ४ ॥

शकर, विष्णु, ब्रह्मा, ग्रहो के स्वामी (सूर्य), चण्डिका, गणेश, लक्ष्मी और सब देवो के ये आठ २ प्रासाद होते हैं ॥ ५ ॥

विमान, सर्वतोभद्र, गज-पृष्ठ पद्मक, वृषभ, मुक्तकोण, नलिन और द्राविड—ये आठ प्रासाद त्रिपुरासुर (शिव) के लिये समुद्दिष्ट किये गये हैं ॥६—७½ ॥

गरुड, वर्धमान, शखावर्त, पुष्पक, गृहराज स्वस्तिक, रुचक, पुण्ड्रवर्धन—ये आठ प्रासाद जनार्दन भगवान् विष्णु के लिये बनाने चाहियें ॥ ७½—८ ॥

मेरु मन्दर, कैलाश, हंस, भद्र, उत्तुग, मिश्रक तथा मालाधर—ये आठ पुर-मध्य मे स्थित प्रासाद ब्रह्मा के बताये गये हैं ॥ ९—१०½ ॥

गवय चित्रकूट, किरण, सर्वसुन्दर श्रीवत्स, पद्मनाभ, वैराज और वृत्त—ये शुभ-लक्षण आठ प्रासाद सूर्य के लिये बनाने चाहियें ॥ १०½—११ ॥

नन्द्यावर्त, वलभ्य, सुपर्ण, सिंह, विचित्र, योगपीठ, घटानाद, और पताकिन—ये आठ देवालय चण्डिका के लिये बनाने चाहियें ॥ १२—१३½

गुहाधर, शालाक, वेणुभद्र, कुञ्जर, हर्ष, विजय, उद्कुम्भ, मोदक—इन आठ शुभ प्रासादो को विनायक गणेश जी के लिये बनवाने चाहियें ॥१३½—१४ ॥

महापद्म, हर्म्य, उज्जयन्त, गन्धमादन, शतशृंग अनवद्य, सुविभ्रान्त मनोहारी—ये आठ प्रासाद लक्ष्मी के बनाये गये हैं ॥१५—१६ ॥

वृत्त, वृत्तायत, चैत्य, किंकिणीक, नयन, पट्टिश विभव और तारागण—ये आठ प्रासाद वास्तु-शास्त्र-ज्ञ सब देवो के लिये बनावें ॥ १६½—१८ ॥

अथ विमानादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद-लक्षण

शम्भु-वल्लभ, विमान-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हू। यह स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनो लोको का भूषण कहा गया है ॥ १ ॥

अब गृह-वास्तुओं का और सब प्रासादो का तथा परिकर्मो का यह प्रासाद मूल-भूत है ॥ २ ॥

पञ्च-भौम इस विमान प्रासाद मे ८१ पद वाला वास्तु-पद माना गया है। और दूसरे प्रासादो मे तो कर्णान्त-पर्यन्त शतपद-वास्तु विहित है ॥ ३ ॥

पुरा ब्रह्मा ने सूर्य के पञ्च-भौम विमानो की रचना की। मूल-कर्ण मे स्थित भद्रों के द्वारा दुगुनी ऊचाई वाले ये विमान होते हैं ॥ ४ ॥

शेष भद्रो का निकास पूर्वोक्त भद्र के समान इन चारो भद्रो का विनिवेश विहित है। यह आकाश-देवताधार-सर्व-दिग्विधानानुकूल है ॥ ५ ॥

दश भागो से बनाया गया विस्तार विमान मे माना गया है। पाच भाग के प्रमाण से गर्भ और उस के आधे मे दीवाल। तदनन्तर प्राग्रीव-विस्तार करागुलो के द्वारा शोभणीय कहा गया है। रथ का विस्तार एक भाग से तथा कणिका आधे भाग से बनानी चाहिये। पाच भाग से विस्तृत भद्र माना गया है। . . (?) निर्गम एक भाग का माना गया हैं। जल-मार्ग का क्षोभण आधे भाग मे करना चाहिये। कणिका और जल-मार्ग सम-सूत्र से नापने चाहियें ॥ ६—१०½ ॥

सब भूमिकाओ का और स्तम्भो का यहा लक्षण बताता हू। विस्तार से दुगुना स्कन्ध सम्पूर्ण वृद्ध नागर मे बताया गया है। . पाच भाग की तथा जघाओ की ऊचाई भी इसी प्रकार तथा तिलको की ऊचाई दो भाग से बनानी चाहिये। तिलक की शिरोघण्टा का एक सूत्र से मापन करना चाहिये। जघा के प्रमाण के तीन भाग से खुर-पिण्डी का प्रकल्पन करना चाहिये। खुरक तथा वेदि-बन्ध का समसूत्र से मापन करना चाहिये ॥ १०½—१३ ॥

टि० १४वां श्लोक पुनरावृत्त है।

दूसरी भूमिका की ऊचाई से सिहकर्ण को अलकृत करना चाहिये। वह दूसरी भूमिका मस्तक मे घटा से युक्त चार भाग की ऊचाई से होती है। तदनन्तर तीसरी भूमिका का उत्सेध पद-तुल्याश वर्जित होता है। चौथी भूमिका ३½ भाग की ऊचाई से बनानी चाहिये। मञ्जरी और स्तम्भ इन दोनो के मध्य मे वातायन और मेखला-सहित जो दूसरी भूमिका है, वह सिंह कर्णो से अलकृत होती है। उस का द्वार दो कपाटो (दरवाजो) से युक्त बनाना चाहिये। तीसरी भूमिका मे द्वार सदा पाटित होता है। उस के ऊपर पादकम दो पद की ऊंचाई वाली वेदि-

मेखला को मनोहर कैरव-दलो से युक्त बनाना चाहिये । पाच भाग से विस्तृत और एक भाग से उन्नत वेदिका का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा एक भाग की ऊचाई वाली और घटा भी वैसी ही होनी चाहिये । पाच भाग के विस्तार मे घटा-कोटी बनाई जाती है । वेदी-बन्ध-घण्टा का अग्रभाग और मस्तक का उदय (शिखर) चारो तरफ से पाचो भूमिकाओ मे समसूत्र से दापना चाहिये । पहली भूमिका के प्रवेश व्याम के आधे हस्त संख्याओ वाले होते है । इन दोनों के सयोग से जो तीसरी भूमिका वही उस का आदेश किया गया हैं। उसका आधा चौथी भूमिका और शेष पाचवी भूमि का बताया गया है । अपने मूल के विस्तार से वेदिका के ऊपर का तीसरा भाग होता है। भद्र मे लता के द्वारा विस्तार विहित है । यह भद्र जाल-वर्म-सयुत विहित है । मुष्टि के मान से मञ्जरी की स्तम्भ-सीमा का क्षोभण करना चाहिये । शाला मे मूल-कोण से निकास रखना चाहिये । और यह चित्र-विचित्र स्थानो तथा सिंह कर्णों से भूषित होता है । पञ्च-व्यास-सूत्र से इसकी रेखा का समालेखन करना चाहिये । इस प्रकार का यह ललित विमान नामक प्रासाद देवाधिदेव महादेव का बनवाना चाहिये ॥ १५—२८½ ॥

अब इसके बाद सर्वतोभद्र-नामक प्रासाद के संस्थान का वर्णन किया जाता है । इस प्रासाद मे भी मेरु-प्रासाद के समान गर्भ, बाहर की सीमा, दीवाल, अन्धकारिका, जघोत्सेध और दोनो कर्ण होते हैं । उसी प्रकार से चारो तरफ छैं भाग से भद्र का विस्तार माना गया है । दोनो पार्श्वों के कोण मे दो भाग वाले दो रथक होते है। मलिनान्तर का निर्माण मुष्टि प्रमाण-विस्तृत करना चाहिये । स्कन्ध की ऊंचाई बीस भाग की और यह विस्तार से दुगुनी होती है । विद्वानो को जघा का निर्माण सदा पाच भाग के सम-उत्सेध से करना चाहिये । मेखला और अन्तरपत्र डेढ भाग मे उन्नत बनाना चाहियें । ग्रीवा और आमलसारक सहित शृग की ऊचाई तीन भाग से होती है । मूल-शृग के गर्भ से ऊपर की भूमिका का व्याम करना चाहिये । दूसरी भूमिका का विस्तार दस भागो मे विभाजित करें । दोनो पार्श्वों पर शृग का विस्तार दो भागो से करना चाहिये । ग्रीवा तथा आमलसार-सहित शृग की उदय-स्थिति उनके द्वारा होती है । उस शृग के गर्भ से ऊपर की भूमिका का निर्माण करना चाहिये । उस भूमिका का विस्तार का तो फिर दस भागो मे विभाजन करना चाहिये । जो शेष रह जाय, उसमे शिखर की लम्बाई निर्दिष्ट की गई है। वर्धमान अथवा रूचक सम्बन्धी शोभन वास्तु का विभाजन करना चाहिये। वहा पर कर्णान्तर भद्र-मध्य मे वनभ्रें का निर्माण कराना चाहिये । भूमिका के शिखर के ऊपर नव भूमिका-विभेदन करना चाहिये। वेदिका के मध्य-सूत्र के द्वारा ऊंची भूमियो का कर्णानुरूप निवेदन विहित है । फिर भूमिका-विस्तार

दश भागो मे विभाजित करें। मूल सीमा के अनुसार छेदावधि-सद्धति होती है। ग्रीवा मूल के आधे भाग से, आमलसारक भी शास्त्रानुकूल, चन्द्रिका आधे भाग से और कलश भी शास्त्रानुकूल ॥ २८½-४० ॥

इसके बाद अब गज-नामक प्रासाद का सस्थान बताया जाता है। इस प्रासाद के चौसठ पद वाले वास्तु का विभाजन करना चाहिये। उसके बाद सीमा के अर्ध-सूत्र से पीछे वृत्त का आलेख करना चाहिये। जघा पाच भाग के प्रमाण से तथा मेखला डेढ़ भाग के प्रमाण से होती है। यह प्रासाद आगे से शूरसेन और पीछे से गज की आकृति वाला होता है। सीमा का नन्दन के समान आठ भाग बनाकर विभाजन करना चाहिये। दोनो कर्णो के दो २ भाग और भद्रो मे चार भाग समझने चाहियें। विस्तार के आधे से रथिका की जघा अलग २ होनी चाहिये। कर्ण-देश मे तीन भाग से उन्नत शृग बनाया जाता है। मध्य मे सश्रित वलभी सात भाग की ऊचाई से बनायी जाती है। रेखा, ग्रीवा, तथा अण्डक आदि से भद्र-सस्थान करना चाहिये। सिंह-कर्णो से भद्रो मे प्रासाद कहा जाता है। अन्य विच्छित्तिया स्वस्तिक के सदृश विहित है। जघा आदि एव उदकान्तर आदि जैसे लतिन एव स्वस्तिक वैसे ही यहा पर भी। ॥ ४१—४८ ॥

टि० पद्म-प्रासाद-लक्षणारम्भ तथा गज-पृष्ठ-प्रासाद-लक्षणावसान गलित हैं।

पूर्वोक्त रूप-कर्मो से अब वृषभ-प्रासाद का वर्णन करता हू। यह विमान चार भद्र वाला तथा चार द्वार वाला होता है। इस प्रासाद की सीमायें, शिखर, उदय, कर्णादि, कपोताली एव जघायें तथा मस्तक सब शास्त्रानुकूल परिकल्प्य है। वाम और दक्षिण ढाई भाग के विस्तार वाले बनाने चाहियें। चार भाग वाला भद्र और आधे भाग वाला सलिलान्तर बनाना चाहिये। उसकी सब भूमिकाओ के अन्तरो मे दो स्तम्भ होते हैं। विमान-प्रासाद मे एक स्तम्भ और वृषभ-प्रासाद मे दो स्तम्भ। यही विमान और वृषभ का भेद बताया गया है। ॥ ४९—५३½ ॥

अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। उसको आठ भागो मे विभाजित करना चाहिये। मूल और कर्ण—ये दोनो भाग बायें और दायें होते हैं। मध्य-शृग वाले चार भाग के प्रमाण से जठर (गर्भ) का निर्माण होता है। कर्ण और शृगान्त के इन दोनो के मध्य मे सलिलान्तर बनाना चाहिये। दोनो पार्श्वों पर दो पूर्ण रथक बनाने चाहियें तथा भद्र-देश मे सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा, आमलसारक के सहित विस्तार, उत्सेध और जघा चारो तरफ लतिन प्रासादो के ही प्रमाण से करने चाहियें ॥ ५३½—५६ ॥

अब नलिन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसका लक्षणान्वित प्रमाण होता है। उसमें तो देव-गर्भ, सुर-आलय, भित्ति, विस्तृति, आयाम—मुक्त-कोण के समान होता है। मध्य-देश में तो जो शृंग होता है . .. (?) और जो कर्णान्तर में होता है, वह मुक्त-कोण प्रासाद के समान होता है, और कर्म-विभेदन से विचक्षणों ने चौकोर मध्य-शृंग में भेद वैशिष्ट्य बताया है॥५७—५९॥

अब मणिक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसकी शाला अलिन्द से निकलती है तथा अलिन्दक की अर्ध-सीमा में सब ओर से चतुष्किका होना चाहिये। यह मणिक-नामक प्रासाद विमान के समान कल्याण-कारक पुष्टि-विधायक, सुख सम्पादक तथा अर्थ-दायक होता है। क्षेत्र-सीमा का सब दिशाओं का दस भागों में विभाग करना चाहिये। रथादि एवं कर्णिका के आधे से जल-मार्ग और भद्रक होते हैं। जल-गर्भ तथा उत्सेध और स्तम्भान्त-विस्तृता, घण्टा, भूमिका तथा जघा का समुत्सेध, कपोत से द्वार-निर्गम, सिंह-कर्ण, विमान-स्तम्भ के चित्र-आदि, तोरण, मालायें और उनके अलंकार नीलकमल-दल के आकार वाली सर्व-सुन्दरी मञ्जरियां—ये सब विच्छित्तियां बनानी चाहियें। यह मणिक-नामक प्रासाद दूसरा विमान-प्रासाद समझना चाहिये। क्योंकि इन दोनों की योनि एक ही है। केवल भद्र-भेद से यह मणिक प्रासाद द्राविड भी हो गया है॥६०—६५॥

अब सर्व-सुन्दर गरुड-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। पहले उसका क्षेत्र विस्तार दस भागों में विभाजित करना चाहिये। मूल-कर्ण से निकली हुई रथि-कायें दो भागों में बनानी चाहियें। पक्ष-वरादि-भेदित भद्र छै भाग के विस्तार से होवें। चारों दिशाओं में सीमा के आधे से अलिन्द का निर्गम बनाना चाहिए। मूल-सीमा तो सन्निलान्तर-वर्जिता बनानी चाहिये। मूल-सीमा के विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला स्कन्ध होता है। प्रासाद की ऊंचाई से तीन भाग से मेखला बनानी चाहिये। जघा को अन्तरपत्र से युक्त करना चाहिये। हीरक और वेदी-बन्ध तीन भाग की ऊंचाई से होता है। अलिन्दों की ऊंचाई शिखरों के आधे में बनाना चाहिये। स्कन्ध का विस्तार विचक्षण लोग छै भाग में करें। ग्रीवा के आधे भाग के उत्सेध से एक भाग वाला आमलसारक बनाना चाहिये और कुमुद को भी आधे भाग से बनाना चाहिये। कुम्भ एक भाग वाला होता है॥६६—७२॥

अब वर्धमान का वर्णन किया जाता है। इस को दस भागों में विभाजित करना चाहिये। एक पादकम दो अंशों से दोनों पार्श्वों पर कर्ण का विस्तार करना चाहिये। बायें और दायें दो रथक पाद-सहित एक पद के विस्तार से होते हैं। चार भाग के प्रमाण के वितार से भद्र बताया गया है। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला स्कन्ध प्रकल्पित करें। खुरक का जघा का, मञ्जरी का, और दोनों स्कन्धों का,

ग्रीवा का और ग्रमलसारक आदि का प्रमाण जैसा गरुड मे बताया गया है, वैसा यहा होना चाहिये ।। ७३—७६½ ।।

बत्तीस हस्त के आयाम वाला शखावर्त का वर्णन अब किया जाता है। मूल-सीमा-वृत्त की नाप पद्मक-प्रासाद के समान होती है। भित्ति और गर्भ का विस्तार क्रमश एक पाद और आधे से करना चाहिये। आगे सिहकर्ण-विभूषित अलिन्द का निर्माण कराना चाहिए। वहा पर उत्सेध के तीन अश से जघा होती है। वेदिका-से स्कन्ध-पर्यन्त विस्तार से दुगुनी ऊचाई होती है। और जघा के मध्य मे मेखला-अन्तर-पत्र बनाया जाता है। बाहर का वृत्त चारो ओर से कर्ण-सूत्र से घुमावे। कर्ण और दिक्पाल इन दोनो का मध्य वा वृत्त सूत्र से वर्तन करना चाहिये। अवशिष्ट तलच्छन्द वा स्वस्तिक के समान निर्माण कराना चाहिये। विस्तार और ऊचाई के प्रमाण से स्वस्तिक के समान ही ग्रीवा और आमलसार तथा कलश और वारि-निर्गम बनाने चाहियें। मूल-सीमा के अनुसार छेद मे सवरण होता है। वलनाकृति लतिन का वर्तन उसी रूप का ही होता है ।। ७६½—८३½ ।

अब पुष्पक का वर्णन करता हू। वह विमान-नामक प्रासाद की सदृश आकृति वाला होता है। उतने ही प्रमाण वाला और उसी की वृद्धि वाला वह पच-भौम और चौकोर होता है। विमान के समान ही जो मञ्जरी का लक्षण तथा प्रमाण प्रतिपादित किया गया है, वही यहा पर भी मञ्जरी करनी चाहिये। सलिलान्तर तो नही करना चाहिये ।।८३½—८५½ ।।

अब गृह-राज का वर्णन करता हू। वह कैलाश-प्रासाद के सदृश होता है। वह सब तरफ से विटक, निर्गमाधार तथा निर्यूहो से घिरा होता है। मध्य मे गवाक्ष-द्वार-युक्त वलभी से भूषित होता है और कपोत-स्तम्भ-पर्यन्त वह शाल-मञ्जरी से सुशोभित होता है। वेदिका-खण्ड एव जाल आदि से चारो ओर शोभित किया जाता है। उसे मल्लच्छाद्यो और सिंह-कर्णों से अलकृत करना चाहिये। अलिन्द के भेद से इस प्रासाद को विद्वान् गृह-राज कहते हैं। कैलाश के ही समान इस का ऊपर और नीचे का सस्थान होता है। ८५½—८६½ ।।

अब स्वस्तिक प्रासाद का वर्णन करता हू। उसका पहले ही के समान मान और लक्षण होता है। उसी पूर्व-प्रतिपादित मान-लक्षण से लतिन आदि सब विचक्षण लोग करते हैं। जिस प्रकार मूल म लतिन, स्वस्तिक आदि प्रासाद विभक्त होते हैं, उसी प्रकार स्कन्ध-भागो के मध्य मे रेखा का प्रकल्पन करना चाहिए। इस प्रकार लक्षण-युक्त यह स्वस्तिक-नामक प्रासाद होता है। अपना शुकनासोदय भागानुकूल करना चाहिए। स्कन्ध की ऊचाई विस्तार से दुगुनी होनी चाहिए। शास्त्र-निर्दिष्ट 'भाग वाली होती है। मूल-सूत्र से दो भाग के प्रमाण से मध्य-शालायें होती हैं। इसी प्रकार दो भाग वाले कर्ण होते हैं। जल-मार्ग तो सोलह भाग के होते हैं। इस प्रासाद में आठ

शालायें, और चारों तरफ आठ कर्ण होते हैं। बाहर से प्राग्रीव को विचक्षण लोग मुख भाग में बनाते हैं। कलश, चण्डिका, ग्रीवा और उसी के समान आमलसारक तथा ऊपर का प्रमाण जैसा पहिले बताया गया है, वैसा यहां भी होना चाहिए ॥ ८६½—९६½ ॥

रूचक-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। उसके दस भाग होते हैं। दो भाग के प्रमाण से उसके दो कर्ण तथा छै भाग के प्रमाण से भद्र होता है। उनका विनिर्गम हस्त-मात्र प्रमाण से समझना चाहिए। इस रूचक प्रासाद में कहीं २ जल-मार्गों का निर्माण करना चाहिए। स्कन्ध का अवशिष्ट उत्सेध विस्तार से दुगुना होता है। स्कन्ध में वेदिका का तो विस्तार छै भाग वाला बताया गया है। तीसरे अंश से जंघा और ऊपर खुरोदयों को बनाना चाहिए तथा जंघा के तीन भाग से खुर-खरण्डिका बनानी चाहिए। मेखला तथा अन्तर-पत्र को आधे भाग से बनाना चाहिए। साढे तिगुने सूत्र से पहिली कर्कटना होती है। चतुर्गुण-सूत्र से मध्य कर्कटना होनी है। उनके द्वारा दस भागों में विभाजन कर स्कन्ध के विस्तार को प्रकल्पित करना चाहिए। चार भागों से भद्र और तीन २ भागों में कर्णों को बनाना चाहिए। सुन्दर २ स्वच्छ भूमिकाओं को मूल-प्रमाणानुकूल से आधे २ भागों से बनाने चाहिए। एक भाग से आमलसार और आधे भाग से कुमुद और पुन एक भाग से कुम्भ को विद्वान् लोग इस रूचक-नामक प्रासाद में बनाते हैं। यह प्रासाद तो सब देवताओं का सर्व-साधारण कहा जाता है ॥ ९६½—१०४ ॥

विष्णु-वल्लभ पुण्ड्र-वर्धनक नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। आदि में चारों तरफ से मूल सीमा का स्पर्श करने वाले वृत्त को घुमावे उसकी शाला कर्ण युक्त सब दिशाओं में बनानी चाहिए। जो छन्द स्वस्तिक में बताया गया है, वह पुण्ड्र-वर्धन में दुगुना होता है। जिस प्रकार स्वस्तिक प्रासाद में जंघा, सलिलान्तर और भद्रों की ऊंचाई और विस्तार बताया गया है, वही पुण्ड्र-वर्धन में भी समझना चाहिए ॥ १०५—१०७ ॥

अब इस के बाद मेरू-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। वहां पर दस भागों में विभाजन करना चाहिए। उसकी सीमा और शृंग दो २ भाग वाला होता है। शेष निर्माण अनुकूल भाग वाला भद्र आयाम से बनाया जाता है। पद के सोलहवें अंश से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिए।

सोलह पदो से गर्भ बनाना चाहिए तथा एक २ पद से इसकी अन्धकारिका, भित्ति और बाह्य भित्ति बनानी चाहिए। छै भाग के प्रमाण से ऊंची, जघा और मेखला एक भाग वाली बनाई जाती है। शृग तीन पद की ऊचाई से और दस पद की ऊचाई मे शिखर होता है। वास्तु-शास्त्रज्ञ लोगो को उसकी ग्यारह भूमिकायें बनानी चाहिए। साढे पाच से स्कन्ध का विस्तार तथा आधे भाग की ऊचाई वाली ग्रीवा होती है। ऊचाई से एक भाग वाला अण्डक बनाया जाता है। आधे भाग से कुमुद तथा एक भाग से कलश की ऊचाई होती है। उसकी रेखा षड्गुण-सूत्र से ही बताई गई है। इस मेरू पर्वत-सज्ञा वाले मेरू-प्रासाद को जो मनुष्य शिलाओ अथवा ईटो से बनवाता है, वह बहुत बड़ा पुण्य प्राप्त करता है ॥ १०८—११५½ ॥

अब मन्दर प्रासाद का लक्षण बताया जाता है। मन्दर प्रासाद मे गर्भ के आधे से निष्क्रान्त भद्र बनाना चाहिए। अन्य निवेश मेरू के सदृश सब दिशाओ मे विन्यास करना चाहिए। शिखर के ऊर्ध्वभाग-समुद्धृत वलभी का तो सन्निवेश मध्य देश मे होना चाहिए। अन्य सब प्रमाण तो मेरू के समान होते है ॥ ११५½—११७ ॥

अब कैलाश का वर्णन करता हू। उसको दश भागो मे विभाजित करना चाहिए। मध्य देश मे निकला हुआ भद्र छै भाग से बनाना चाहिए। सलिलान्तर-वर्जित कर्ण दो भाग के विस्तार से होते हैं। गर्भ के आधे से भद्र का निष्कास सब तरफ करना चाहिए। शिखरार्ध के समान उदय से मध्य मे, निवेश-विशेष विहित है।

इस प्रासाद मे भी मेरू के समान दीवालो, गर्भ, भ्रमन्तियो, जघा, मेखला, स्कन्ध, शृग, ग्रीवा और अण्डक का विस्तार और ऊचाई सब बनाई वैसे ही जाती हैं ॥ ११८—१२१ ॥

अब हस का वर्णन करता हू। इसका विभाग रुचक प्रासाद के समान होता है। यहा पर केवल सलिलान्तर विशेष है और सब शेष रुचक के समान होता है ॥ १२२ ॥

भद्र का लक्षण कहता हू। उसे दश भागो मे विभाजित करना चाहिए। गर्भ के विस्तार के प्रमाण से इस प्रासाद मे भद्र का विस्तार माना गया है। बायें और दायें दो रथक ढाई भाग के विस्तार वाले होते हैं। गर्भ को आधे भाग से तथा अन्य निर्माण अपेक्ष्य हैं।

तुल्य लंबाई से यहा पर प्राग्रीव बनवाना चाहिये तथा प्राग्रीव की उंचाई शिखर के आधे से बनवानी चाहिये। इसके मध्य-देश में सिंहकर्ण-समन्विता वलभी का निर्माण करना चाहिये। लता, जाल, गवाक्ष आदि से और चतुष्कों से युक्त चारो दिशाओं में भद्र होता है। अन्य शेष यहा पर इस प्रासाद में रुचक के समान होता है ॥ १२३—१२६ ॥

अब उत्तुंग प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह दूसरा मन्दर प्रासाद है। उसको सिंहकर्णों से विभूषित करना चाहिये और ऊपर लता बनवानी चाहिये। भूमि २ की ऊंचाई तथा स्तम्भ-चित्रादिक मेरु के समान ही यहा पर भी होते हैं। मध्य में मंजरियां तो सब दिशाओं में बनायी जाती हैं ॥ १२७-१२८ ॥

अब मिश्रक-प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह मान, प्रमाण, संस्थान और लक्षणों से भूमियों के सम्बन्ध में विमान के समान होता है। तथा मध्य में शृंग कैलाश के समान होता है ॥ १२९ ॥

मालाधर-प्रासाद-लक्षण गलित है। गवय का आरम्भ भी गलत है ॥ १३० ॥

अब इसके बाद चित्रकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। दश भागों से उसका विभाजन करना चाहिये। उसके गर्भ-प्रमाण से निर्गत प्राग्रीव बनवाना चाहिये। ढाई भाग में नीचे बायें और दायें उसके कर्णों का निर्माण करवाना चाहिये। उत्सेध के तीन भाग में जंघा की उंचाई प्रकल्पित करनी चाहिये। जंघा की उंचाई के तीन भाग से खुरपिंडिका का विन्यास करना चाहिये। कपोत और अन्तर-पत्र वहा पर आधे भाग में बनाने चाहिये। शिखर की उंचाई का प्रमाण जो होता है वह १३ पदों से होता है। इस प्रासाद में भूमियों की ऊंचाई यथावत् परिकल्पित करें; स्तम्भों दीवालों का भी विन्यास परिकर्म-युक्त विहित है। उस कर्म का कूटक-छेद में सब दिशाओं में विन्यास करना चाहिये। वह तल-च्छन्द ऊपर से अन्तर-पत्र में विभक्त किया जाता है। तदनन्तर वाम और दक्षिण कर्णों पर दो २ कूटों का न्यास करना चाहिये। शाला के मध्य में तो सब तरफ से चार कूट होते हैं। भूमिकायें और सिंहकर्ण, कपाट, द्वार आदि की घटना भित्ति की ऊंचाई जैसे प्रथम चित्रकूट में बताये गये हैं वैसे यहा पर भी ॥ १३१—१३८ ॥

अब किरण प्रासाद का वर्णन किया जाता है। वह प्रमाण में पद्म के तुल्य होता है। ३२ अथवा १६......... ? इसमें बनाने चाहियें। शालाओं

मे वर्णों के द्वारा भेद करना चाहिये और शेष सब मालाधर प्रासाद के समान विहित है ॥ १३८½-१३९ ॥

अब सर्वांग-सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हू। कर्म-भेद से इसके अनेक भेद होते हैं। यह नाना शिल्प-कला का आधार है और बहुत से प्रासादो से युक्त होता है। इसके तलच्छन्द एवं अन्य निवेश नाना प्रकल्पित किये गये है। तोरणो, सिंहकर्णों आदि परिकर्मों से यह समन्वित होता है और जो कुछ भी इसमे अन्य प्रमाण है वे सब पहिले के समान होते हैं ॥ १४०—१४२ ॥

अब श्रीवत्स-नामक-प्रासाद का वर्णन करूंगा। उसको दश भागो से विभाजित करना चाहिये। वहा पर विचक्षण लोग तीन भाग से शाला का निर्माण करें। डेढ भाग के विस्तार से बायें और दायें दो २ रथक होते हैं। दो भागो से विस्तृत यहा पर मूलकर्ण होते हैं। प्रासाद की हस्त-मात्राओं से प्रत्येक भद्र का भद्र-निर्गम होता है और वह दो अंगुल वाला, तीन अगुल वाला अथवा चार अंगुल वाला होता है। मध्य मे तो मजरिया कमल-दल-सदृश बनानी चाहियें। सब तरफ से परिकर्म होता है और रथिका वर्ण में सुस्थिता होती है। आमलसारक, चन्द्रशाला एव स्कन्ध भी पूरे करने चाहियें। खुरपिण्डिका, जंघा, कुम्भाग्र और शिखर आदि जो कुछ होता है वे सब प्रमाण से वर्धमान के समान होते है ॥ १४३-१४८½ ॥

अब वलभ्य-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। वह गृह-राज-प्रासाद के सदृश होता है। प्रमाण से एक ही समान लबा (आयत) अथवा चौकोर होता है। चौकोर तो विस्तार से उंचाई मे दुगुना होता है। अन्य निवेश जैसे स्कन्ध आदि वे सब यथाशास्त्र निर्मेय हैं। तदनन्तर विभाग मे प्रथम प्रासाद के सदृश प्रमाण माना जाता है। उसके स्वरूप का वर्णन करूगा। उसका श्रीवत्स प्रासाद के समान विभाजन करना चाहिये। अथवा विमान, रुचक वर्धमान आदि प्रासादो के छद मे किसी एक प्रासाद के छन्द से विभाजन करना चाहिये। भूमिकायें, स्तम्भ, परिकर्म, विस्तार, ऊंचाई मेखला, सिंहकर्ण, रथ, घटा तथा कुम्भाग्र, अण्डक जो कुछ होता है वह प्रमाण से पहिले के समान होता है ॥ १४८½—१५४½ ॥

सुपर्ण-नामक प्रासाद का स्वरूप और प्रमाण वर्णन किया जाता है। सिंहरूप से विभक्त सर्वभद्र का निवेश करना चाहिये। गवय प्रासाद के समान चार भागों से निष्कान्त भद्र बनाना चाहिये। दो भाग वाले दोनो मूल और

कर्ण तथा छै भाग से भद्र का विस्तार होता है। पाच भाग की ऊचाई स जघा और एक भाग वाला मेखला होता है। मूल जघा के तीन भाग स खुर-वेदी की ऊचाई होती है। बीच म तो दो शृग बायें और दायें बनाने चाहियें। सब दिशाओ म विभक्त वे दोनो दो पद की उचाई वाले होते है। मूल कर्णों मे शृगो का ऊचाई तीन पद स होती है। .... (?) जाल का विस्तार श्रीवत्स और नन्दन के समान होना चाहिये। विस्तार स दुगुनी ऊचाई वाला स्कन्ध षड्भाग विस्तृत होता है। उत्सेध के तीन भाग से जघा का उत्सेध बनाया जाता है। जघा के तीसरे अश स खुर पिंडिका का निर्माण करना चाहिये। मखला और अन्तरपत्र डढ भाग से बनाने चाहियें। दश भागो के द्वारा विभाजित पूर्ववत् स्कन्ध का विस्तार होता है। ढाई गुने विस्तार से पहिला करकटना होती है चौगुन मे मध्य करकटना। ग्रीवा अधभाग की उचाई तथा कुमुद कुम्भक और आमलसार इस प्रासाद म पहिले वाल के समान होते है ॥ १५८½—१६४½ ॥

पद्म शालाओ से युक्त अब पद्मनाभ का वर्णन करता हू। यह पद्म शाला धर शुभ प्रासाद एक दूसरा ही पद्म प्रासाद है। इसका अन्य सब प्रमाण पद्म और स्वस्तिक प्रासाद के समान होना है ॥ १६४½ १६५ ॥

अब वैराज प्रासाद का वर्णन करता हू। उसको विमान के समान समझना चाहिये। उसके रूप शिखर ऊचाई, स्तम्भ एव ग्रीवा आदि सभी समान है। सभा तोरण नियूह सिहकर्ण भी वैसे ही तथा आधार सहित चौकोर उसको पच भौम बनाना चाहिये। यह वैराज प्रासाद विमान के सुदृश आकार वाला बताया गया है ॥ १६६—१६८½ ॥

अब वृत्तक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। मूल म यह चौकोर बताया गया है। तीन भाग वाले जघा मूल म तदनन्तर यह अठकोण गोल समझना चाहिये। मूल के मध्य भाग क आगे से उसको सब दिशाओ म पूर्ण बनाना चाहिये। चौकोर विभाग मे भद्रो मे भद्राकार वह होता है। अठकोण वृत्त म स्वस्तिक सदृश वज्रकाकार होता है। जिस प्रकार से मूल विभाग के द्वारा ललित का स्वस्तिकोदय होता है उसी प्रकार वृद्धि और प्रमाण इन दोनो से यह भी पहले के समान होता है ॥ १६८½—१७१ ॥

अब नद्यावर्त का वर्णन करता हू। उसको दश भागो म विभाजित करना चाहिये। पाद क्रम दो अशो के विस्तार वाले दोनो पार्श्वों पर दो

वर्ण बनाने चाहिये। इसके भद्र को चार भाग से विस्तृत करना चाहिये। शाला-कर्णान्तर मे पाद-सहित एक पद से रथ बनाना चाहिये तथा कर्णशालान्तों मे जलधार-रथ यथेष्ठ प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके मध्य मे यथा-निर्दिष्ट शिखर की लम्बाई से वलभी होती है। शाला-कर्णान्त और मूल इन दोनो मे जल-मार्ग बनाना चाहिये। और जो कुछ प्रमाण है वह सिंह-प्रासाद के सदृश बनवाना चाहिये ॥ १७२—१७५ ॥

अब सिंह-नामक प्रासाद का प्रमाण और लक्षण बताया जाता है। सब तरफ से समान दश भाग से क्षेत्र का विस्तार विभाजित करना चाहिये। बायें और दायें मूल और कर्ण तो दो भाग वाले बनाने चाहियें। मूल-भद्र का विस्तार छै भागो मे किया जाता है। स्कन्ध की ऊंचाई के प्रमाण से विस्तार दुगुना करना चाहिये। पाच भाग की ऊंची जंघा और डेढ भाग की मेखला बनानी चाहिये। खुरक और वेदि-बंध तीन भाग से निर्मित करना चाहिये। चारो दिशाओं पर तीन भाग ऊंचे शृंग होते हैं। बुध लोग उसे सिंह-कर्ण के समान मध्य मे वलभी से भूषित करते हैं। और सब अन्य प्रमाण सर्वतोभद्र-समान होता है ॥ १७६—१८० ॥

अब विचित्र-कूट-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। उसको दश भागों मे विभाजित करना चाहिये। मूल-भद्र द्विभागिक कहा गया है। —नाग हस्त-तुल्याङ्गुल है। शाला के मध्य प्रदेश मे तो वलभी का सन्निवेश करना चाहिये। दो कूटों का यथानिर्देश सब तरफ से करना चाहिये। यह भेद बताया गया है कि शाला कूट-वर्जित हो और सब दूसरे प्रमाण चित्रकूट के समझने चाहिये ॥ १८१ -१८३ ॥

अब त्रिविष्टप के समान उत्तम प्रासाद व्योमपीठ का वर्णन करता हू। सब तरफ से चौकोर क्षेत्र को बीस भागो मे विभाजित करना चाहिये। दिशाओं और विदिशाओं मे कोष्ठो का निवेश एवं विस्तार करना चाहिजे। बायें और दायें दो भाग वाले दो जल-मार्ग बनाने चाहियें। उन मे तीन भाग के प्रमाण-विस्तार से गर्भ होता है। कपोतान्तर-वर्जित जघा पाच भाग की ऊंचाई से होती है। खुरक और वेदि-बंध तीन भाग की ऊचाई से बनाना चाहिये। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला यह प्रासाद पच-भौम बनाना चाहिये। जिस प्रकार से पुष्पक मे रचना बताई गई है वैसे ही रचना सिंह-कर्णों, रथों, घटा, भ्रमिका, स्तम्भ और तोरणो आदि की रचना यहा पर

बतायी गई है। विचक्षण लोग इस प्रासाद को केवल सांधार बनाते हैं ॥ १८४—१८६½ ॥

अब घण्टानाद प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह पञ्च भौम होना है। उसे अठकोण बनाना चाहिये तथा सस्थान से यह दूसरा पुष्पक कहा जाता है। यहा पर भैरव और भद्र-काली की स्थापना करनी चाहिये ॥ १८६½-१६० ॥

अब पताकिन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह लतिनाकार सब दिशाओं में विभक्त होता है। जिस प्रकार से रूचक एवं वर्धमानक प्रासाद निवेश्य हैं, उसी प्रकार इसे चण्डिका के लिये यह बनाना चाहिये। ॥ १६१ १६२ ॥

श्री, पुष्टि एवं सुखदायक अब गुहाधर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। दश भागों से विभाजित क्षेत्र में गर्भ के प्रमाण से भद्र होता है। मूल-गर्भ के आधे से भद्र का निर्गम बनाना चाहिये। दोनों पार्श्वों पर डेढ़ भाग के प्रवेश से दो २ कर्ण बनाने चाहियें। दोनों पार्श्वों के मूल-कर्णान्त में जलाधार का मूलकर्णान्त में दोनों पार्श्वों पर बनाना चाहिये। उसके द्वार के मध्य-देश में तो स्तम्भ-तोरण का विन्यास करना चाहिये। सिंह प्रासाद के समान ही विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला चार शृंग वाला एवं चतुर्मुख वाला निवेश है। भूमिका, ग्रीवा मेखला जंघा कुम्भक आमलसारक यहां पर भी बनाने चाहियें। तदनन्तर यह गुहाधर होता है। इस प्रासाद का नाम द्वार भेद से बताया गया है ॥ १६३—१६७ ॥

अब शालाक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसे दश भागों में विभाजित करना चाहिये। दो भाग वाले मूल और कर्ण छै भाग वाला भद्र का विस्तार विहित है। भद्र-मध्य में द्वार तो मूल द्वार-समान होते हैं। चार बाहु वाला और चार द्वार वाला यह दूसरा रुचक माना जाता है। द्वार के प्रमाण से इस प्रासाद का नाम शालाक कीर्तित किया गया है। और जो कुछ अन्य प्रमाण होते हैं वे भद्रक के समान होते हैं ॥ १६८—२०० ॥

चौकोर, बराबर और शुभ वणुक-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। अपना कल्याण चाहने वाला यहां पर भद्र निष्काम का निर्माण न करावे। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई के प्रमाण में कुम्भाग्र की निर्मिति बतायी गई है। शिखा के दुगुने प्रमाण में तीन अंश से जंघा की रचना बतायी गई है। ऊंचाई से जंघा तीन भाग के प्रमाण में खुर-वरण्डिका करनी चाहिये।

कपोत और अन्तर-पत्र डेढ भाग वाले बनाने चाहिये। चतुर्गुण-सूत्र मे वेणु-कोष का समालेख करना चाहिये उसको कपोत-विनिर्गम मे मेध और से शोभन बनाना चाहिये। इसके मुख मे चन्द्रशाला-विवर्जित सिंह-कर्णों का निर्माण करना चाहिये। अन्य जो प्रमाण है वे सब यथा-शास्त्र हैं॥ २०१—२०५॥

अब गज-लक्षण-लक्षित कुञ्जर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। अर्ध-सूत्र से उसकी सीमा के पीछे वृत्त का आलेखन करना चाहिये। चार भाग वाली जघा और डेढ भाग वाली मेखला होती है। विचक्षण लोग इसे पृष्ठ-देश मे वृत्ताकार बनाते है। शालाओ मे पार्श्व से, पृष्ठ से और आगे से सिंह-कर्ण होते हैं। उसके सव कर्ण शृंगो से पूरित होने चाहियें। मध्य-प्रदेश मे अति सुन्दर वलभी का निर्माण करना चाहिये। और जो कुछ अन्य प्रमाण हैं वे सब पहिले कहे गये यहा भी हो॥ २०६—२०९॥

अब चतुरश्र मनोरम हर्ष-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। इसकी ऊचाई मस्तक तक विस्तार मे ड्योढी होती है। चारो दिशाओ मे चोकोर छाद्य-रूप करना चाहिये। शुक-नासा परिकर्म-शोभित होती है। जंघा और मेखला तथा खुर पिंड की ऊंचाई, घंटा का अग्रभाग तथा चन्द्रशाला और छाद्यक इच्छानुसार प्रमाण में वनाने चाहयें। अन्य प्रमाण भी मनोभिलषित कहे गये है॥ २१०—२१३½॥

अब विजय-नामक सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हू। शुकनासोदय का न्यास एक अश न्यून होता है। वायें और दायें अग्र दोनो प्राग्रीवक और रथक बनाने चाहियें और सब दिशाओ मे लताशृग विहित हैं। प्रमाण से विजय और वर्धमान ये दोनो प्रासाद बराबर माने गये हैं। इस प्रासाद का नाम अलिन्द-भेद से विजय पडा है॥ २१३½—२१६॥

अब एक-भूमिक हर्म्य-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। यह प्रासाद लकडी का बनाया जाता है और चौकोर होता है तथा पट्ट, तुलायें आदि सभी इसी प्रकार दड-च्छाद्य चारो ओर से विहित हैं तथा चतुष्किका का निर्माण भी करना चाहिये। ऊपर से तुम्बिका से आक्रान्त और पद्म-खड से विभूषित होना चाहिये। मुख मे पत्रो और गवाक्षों से तथा वेदिका के स्तम्भ-तोरणो से वलभियो और शालभञ्जिकाओ से और सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। इस हर्म्य प्रासाद का विस्तार ऊचाई के प्रमाण से ही होना चाहिये॥ २१७-२२०½॥

अब उज्जयन्त-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। यहा पर हर्म्य के प्रमाण में मडप भूषित द्वार बनाना चाहिये। यह सब तरफ से मडप-युक्त चार द्वार वाला बनाना चाहिये। इसका और अन्य अखिल प्रमाण हर्म्य के समान होते है॥ २२०½—२२२½॥

अब गन्धमादन प्रासाद का लक्षण कहूगा। हर्म्य के प्रमाण से यह गन्धमादन प्रासाद बनाना चाहिये। उसके आगे और पीछे मडप बनाना चाहिये। वाम और दक्षिण इन दोनों भागों पर चतुष्की, जाल, पद्म आदि होते हैं। इसका प्रमाण हर्म्य के समान बताया गया है॥ २२२½—२२४।

अब त्रिविष्टप सम नग-शृग-प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसका विभाजन २० भागों मे करना चाहिये और इसे पंच-भौम बनाना चाहिये। दो दो भाग वाले कूट और १०१ अडक होते हैं। भूमिका के विस्तार के दसवें अश से भूमि २ पर शृगों का निर्माण करना चाहिये। इसका अन्त प्रमाण त्रिविष्टप के समान होता है।२२५—२२७½।

अब विभ्रान्त-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सर्वतोभद्र-सन्निभ है। इस प्रासाद को चारों ओर समण्डप सान्धार-प्रासाद के रूप में बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में गवाक्ष, वाप्या, जाल आदि तथा चतुष्किकायें विहित हैं। ॥ २२७½–२२८॥

अब मनोहर प्रसाद का वर्णन करता हूं। वह मडप के समान होना है तथा दिशाओं में चारों तरफ छाद्य तोरणों से तथा समडप वह चतुर्द्वार कहा गया है। वेदी, षण्ड, जगमार्ग आदि से, प्रतोली, द्वार, जालों एव सिहपीठ-तलन्यासों से और रत्ना से परिपूरित वृत्त-स्तम्भ को तुला से आच्छन्न तथा बाहर के छाद्य से भूषित और सिहो व्यालों गजों, पत्रों, स्तम्भ-तोरणों से युक्त यह प्रासाद होता है। फिर प्रमाण तो यथा शोभा बनाया जाता है॥ २२९-२३२½॥

अब वृत्त और वृत्तायत इन दोनों प्रासादों का वर्णन करता हूं। इन दोनों की बम्बूर के समान आकृति होती है। वृत्त एव वृत्तायत इन दोनों का विन्यास यथा-निर्दिष्ट कल्प्य है। वृत्त आदि ऊपर से वृत्त तथा यथा-यथा-शोभा-समन्वित बनाया जाता हैं तथा दूसरा मुखायत तथा मुख में सिंह-कर्णान्वित बनाना चाहिये ॥ २३२½-२३४½॥

चैत्य का लक्षण कहता हूं। वह छाद्य-त्रय-समन्वित कहा गया हैं। इसका

आकार एवं प्रमाण वृत्त-प्रासाद के समान होता है ।। २३४½-२३५½ ।।

पचाण्डक, नवभूमिक, किंकिणीक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू । यहा शुभ-लक्षण शुभ सब वृत्त कूट शुभ बनाने चाहियें । २३५½-२३६½

अब शैल खनन-निर्मित लयन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। निःश्रेणी [नसैनी] आरोह, सोपान, निर्यूहक, गवाक्ष और वेदी, भ्रम, विटण्क, प्रतोली तथा द्वार आदि से सयुक्त आदि सभी सुविधाओं से विनिर्मेय है। २३६½-२३८½

अब वस्त्र से निर्मित पट्टिश-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू । बाहर से जालपादो, वेदी, पण्डो से मडित इस का शुभ-लक्षण कूर्म-पृष्ठ देना चाहिये । ।। २३८½-२३९ ।।

अब विभव-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता हैं । दारव (लकडी से निर्मित) में दारव (काष्ठ-निर्मित वास्तु) की योजना करनी चाहिये तथा शैलोत्पन्न वास्तु मे शैलज की योजना है, इसी प्रकार मृत्तिकामय में मृत्तिकामय और चयन मे चयनोद्भव करना चाहिये। प्रत्यन्त ग्रामो और खेटो मे लकडी के खभो से बनाया जाता है । अपने विभव के अनुसार यह विभव-नामक प्रासाद तीन धार्मिको से निर्मित करना चाहिये ।। २४०-२४२½ ।।

अब तारागण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू । यह मडप की आकृति का होता हैं । वस्त्र, चीर, तुला आदि, डोला क्रीडा, भ्रम आदि के घरा स, वस्त्रोत्पन्न चित्रमय आदि से, घंटा, दर्पण से, ध्वज, छत्र, विमान आदि से और किंकणियो से यह अलङ्कृत होता हैं । जो कुछ सुन्दर हो वह सब यहा पर इस प्रासाद मे निवेशित करना चाहिये ।। २४२½-२४४ ।।

आठ आठ इन दो के विशेष योग से विमान मुख्य इन ६४ प्रासादो का वर्णन किया गया । जो स्थपति इन को ठीक तरह से जानता है वह समस्त शिल्पियो का मूर्धन्य कहा जाता है ।। २४५ ।।

मेर्वादि-विंशिका-प्रासाद-लक्षण

प्रासाद-नायक-मेरू—चित्र विचित्र भूमिकाओं में विनिविष्ट, विविध विन्यास वाले, विभिन्न भङ्गिमाओं से बनाए गए एवं कर्म-चित्रों से सुशोभित ऐसे शुभ-लक्षण स्तम्भों से, सर्वत्र चन्द्रशालादि संयुक्त तोरणों से, सुन्दर चामरों से, मेघ-रूप में स्थित, प्रक्षत मुखाग्र-ग्रासों से, जिह्वाओं को लपलपाने वाले व्यालों से, मद से अन्ध भौरों के समूहों से, आकीर्ण गजमुखों से विभूषित आकृतियों से, देवताओं की सुन्दरियों से, वीणापाणि किन्नरों से, समन्तात सिद्ध, गन्धर्व एवं यक्षों के वृन्दों से व्याप्त दिव्य वक्षाओं से तथा विमानावलियों से, सर्वत्र चारू-चामीकरान्दोलित क्रीडाओं से, इस प्रकार समलंकृत, इस प्रकार की भूमिकाओं से सर्वत्र निरन्तर यह प्रासाद-नायक मेरू प्रासाद बनाना चाहिए।

इस प्रासाद के तीन भेद—उत्तम, मध्यम तथा अधम। मध्यम-प्रभेद के दुगुने अडकों से ज्येष्ठ-प्रभेद, कनिष्ठ, मध्यम के अडकों के आगे से निवेश करना चाहिए। इस प्रकार मेरू के इन तीनों प्रभेदों में मेरू की स्थिति बतायी गयी है। उत्तमों में उत्तम, मध्यमों में मध्यम और अधमों में अधम लिङ्ग तथा इसी प्रकार से अन्य धामों में भी लिङ्ग व्यवस्था बतायी गयी हैं। तीनों प्रकार के मेरू प्रासाद का उत्तम लिङ्ग वृद्धिकारक होता हैं। इस के प्रतिकूल बनाने पर दोषावह माना जाता है। जो राजा मेरू पर्वतोपम इस दिव्य मेरू-प्रासाद का निर्माण करवाता है। वह परम ऐश्वर्य का भोग करता है तथा परम शिव पद को प्राप्त करता है। स्वर्ण-मेरू-पर्वत की प्रदक्षिणा करके मनुष्य जिस फल और सिद्धि को प्राप्त करता है वही फल ईंट तथा लकड़ी के पर्वत-स्वरूप मेरू-प्रासाद के निर्माण करने पर होता है

मन्दर—अब इस के बाद मन्दर-नामक प्रासाद का लक्षण बताया जाता है। यह प्रासाद सिद्धि का देने वाला तथा देवताओं के लिए भी वन्दित माना जाता है। विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार भागों में गर्भ, एक भाग में विस्तृत भित्ति, एक भाग से अन्धकारिका और बाहर की दीवाल। दो पद के प्रमाण से कोनों में रथिकायें बनानी चाहियें तथा ३६ पद के प्रमाण से चार मण्डप बनाने चाहिएं। चार पद वाले अलिन्द चारो दिशाओं में बनाने चाहिए। वे एक भाग से निकले

हुए और सब प्रकार से शुभ-लक्षण होने चाहिए। विद्वानो को इसका ऊर्ध्वमान विस्तार से दुगुना बनाना चाहिए और विस्तार की सीमा सर्वत्र गृहीत होती है। प्रासाद मे जो मूल मान होता है उस को ठीक तरह से प्रकल्पित करना चाहिए। पूर्व मूल के बाहर दो पद की ऊचाई से पीठ का निर्माण करना चाहिए। वह मन्दिर मे पद्मो और सिहो से भी अकित करना चाहिऐ। आधे पद से खुरक बनाना चाहिऐ। अथच सुन्दर वेदी-बध का निर्माण ढाई पद मे होता है। चार भाग से उन्नत जघा तथा आधे भाग से रुप-पट्टिका बनायी जाती है। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत बनाया जाता है। दो पद की लबाई के प्रमाण से कर्ण मे शृङ्ग होने चाहिए और उनकी ऊचाई ग्रीवा, अण्ड और कलशो के साथ तीन पद की होती है। कर्ण-कूट के ऊपर मूल-रेखा बनानी चाहिए। वह नव [९] भाग से उन्नत और आठ भाग से विस्तृत प्रशस्त मानी गयी है। विस्तार के दश भाग करके स्कन्ध-विस्तृति छै भागो से करना चाहिए। पाच लताऐं जिस प्रकार श्रीवत्स प्रासाद मे कही गयी है वैसे ही यहा भी बनानी चाहिए। यह प्रासाद पाच भूमिकाओ अथवा सात भूमिकाओ वाला बनाना चाहिए। ग्रीवा पाद कम एक भाग से और अडक पाद सहित एक पद से। चन्द्रिका एक पद वाली तथा कलश दो पदो की ऊचाई से। शिखर तीन पद से बनाना चाहिए और वहा पर एक भाग छोड देना चाहिए। सिंहस्थान-विभूषिता शुकनासा बनानी चाहिए। जिस प्रकार स्वर्ण के अलकारो से अलकृत मनुष्य शोभित होता है, उसी प्रकार यह प्रासाद-राज चित्र-कर्मो से सुशोभित होता है। मजरी दश प्रकार की बनाकर कर्म-शोभा प्रकल्पित करनी चाहिऐ। छै [६] भागो मे भद्र का विस्तार, एक भाग से निर्गम-सहित बनाना चाहिए। एक भाग के निर्गम-सहित दो भागो से वहा पर रथिकाए बनानी चाहिए और विदिशाओ मे दो भागो के प्रमाण वाले कर्मों का निवेश करना चाहिए। मनोरम कूटो से युक्त चार शालाए बनानी चाहिए। निरन्तर वाली आठ मञ्जरिया दुगुनी होनी चाहिए। कूट के आगे मे दो भागो से उन्नत पहिली भूमि बनानी चाहिए। पद के एक पाद से विहीन क्रमश ऊपर की भूमिकाए बनानी चाहिए। आधे भाग से उन्नत ग्रीवा और एक भाग से उच्चत अडक तथा सर्वलक्षण-युक्त कलश भी एक भाग से बनाने चाहिए। विबन्धुर वेदी-बध विस्तार के आधे मे विहित है। षड्गुण-सूत्र से ही मध्यरेखा का समालेखन करना चाहिए। दूसरी का पचगुण-सूत्र से विचक्षण आलेखन करे तथा अन्य रेखा-समालेख साढे तीन गुण वाले सूत्र से कहा गया है। सर्वत्र विचित्र

मञ्जरियों से विराजित इस प्रमाण से यह शुभ मन्दर-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। मन्दर-पर्वताकार इस उत्तम मन्दर-नामक प्रासाद का निर्माण करने वाला इस लोक में परम सौख्य और परलोक में शुभ गति को प्राप्त करता है ॥ १३½—३७ ॥

कैलाश : अब इसके अनन्तर अशेष-सुर-सेवित तथा प्रमथ-प्रवरों से जुष्ट (भुक्त) पुण्य-वर्धन कैलास-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। सौ (शत) भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग की निर्गम वाली छै भाग से विस्तृत शाला का निर्माण करना चाहिये। सलिलान्तर-युक्त अन्धकारिका (गर्भ-गृह की प्रदक्षिणा) का निर्माण करना चाहिये। पुनः [illegible] घुमवा कर एक अंश से गर्भ का प्रारम्भ करना चाहिये। तथा चारों तरफ से आधे भाग वाली भित्ति बनानी चाहिये। भद्र-भूषिता बाहर की भित्ति एक भाग वाली होती है। सर्वत्र अन्तराल में दो अन्धकारिका बनानी चाहिये। विद्वानों को तीनों दिशाओं में चार भाग वाले अलिन्दकों का निर्माण करना चाहिये तथा वे सब तरफ से शुभ-लक्षण निर्गम दो भागों से होते हैं। उन में स्तम्भों से युक्त चतुष्किकायें बनानी चाहियें। सभी की पंक्ति से सुशोभित मण्डप को मुख में बनाना चाहिये। अब यथोचित कैलास का ऊर्ध्वमान कहूँगा। गज-विभूषित जगती पीठ को चारों से बनाना चाहिये। खुरक तो पद के आधे भाग में बनाया जाता है। उस के ऊपर प्रासाद की ऊँचाई दुगुनी समझनी चाहिये। गज-वर्जित कुम्भक एक भाग से बनाना

चंडिका और डेढ भाग से कलश बनाना चाहिये और इसका शिखर जैसा स्वस्तिक का बताया गया है वैसा बनाना चाहिये। यह प्रासाद आठ भूमिकाओं से युक्त और मंजरियों से अलंकृत कहा गया है। इसके भद्र विचित्र शृंग-कर्णो से विभूषित करने चाहियें। फिर उस में स्कन्ध का विस्तार चार पद के प्रमाण से बनाना चाहिये। त्रिगुण-सूत्र समालेखन से ही यहा मञ्जरिया बनती हैं। इस प्रकार से जो लोग इस कैलास प्रासाद का निर्माण करते हैं वे लोग इस संसार में सुख-सौभाग्य-संयुता विभूति को प्राप्त करते हैं तथा विविध मनोरथो, कीर्ति और आरोग्य को प्राप्त कर और साथ ही विविध भोगो का भोग कर यथाभिलषित अनामय, ध्रुव, शान्त, शार्व (शिव-सम्बन्धि शैव) पद इस कैलास में कल्पान्त तक प्राप्त करते हैं ॥३८—५६½॥

त्रिविष्टप —यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि से सेवित अमर-प्रिय इस त्रिविष्टप-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। बीस अंश विभाजित चौकोर क्षेत्र मे चार भाग से निर्गता, छै भाग से विस्तृता शाला का निर्माण करना चाहिये। ४७२ मे अधिक कोष्ठको की संख्या होती है। तीनो दिशाओं में स्थित भद्रों के साथ इस प्रकार यह संख्या उत्पन्न होती है। फिर उनको तो आठो दिशाओं में आठ गर्भ-गृह बनाने चाहियें। कोने पर तो सोलह अंश वाले तथा मध्य में तो चार अंशो वाले हो। बाहर भागो से गर्भों की भित्ति होती है। यह निर्णय किया गया है। मध्य मे ६४ पद वाला यह प्रासाद-आसन बनाना चाहिये। उसके मध्य मे फिर १६ पदो से गर्भ का प्रकल्पन करना चाहिये। उसके बाहर की दीवाल दो भाग के विस्तार से बनानी चाहिये। चारो दिशाओं मे उसकी भ्रमन्ती चार पद लंबी होती है। उसी प्रकार चारो दिशाओं मे वलभियो का निर्माण करना चाहिये। वर्ण-शाला और वलभी के अन्तर में दो पद का प्रत्यग बनाना चाहिये और वह पुन जल-मार्ग में दो पद वाला उद्दिष्ट किया गया है। चारो दिशाओं में १२ पदो से कर्म शोभा-विभूषित प्रासाद के मडपो को बनाना चाहिये। मूल प्रसाद-गर्भ के चार दरवाजे बनाने चाहियें और वह दिग्भद्र में सूत्र-मार्गानुसार समझना चाहिये। दोनो पार्श्वों पर प्रत्यग में सलिलान्तरो का निर्माण करना चाहिये। बाहर की दीवाल तो एक भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। इस प्रकार से विभाजन कर सामने मुख-मडप बनाना चाहिये। अब ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। वहा पर पीठ चार पद वाला होता है

भाक्त-समायुक्त मल्लच्छाद्य का निर्माण करना चाहिये और यह मल्लच्छाद्य चित्र-विचित्र शुभ-लक्षण मनोज्ञ रूप वाले मनोहर सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। इस त्रिविष्टप प्रासाद में चार वर्ण-कूट तीन तलभियों से युक्त यथा-शोभा बनाने चाहियें। शतपद-वास्तु में जिन सब मर्मों का वर्णन किया गया है, उनको त्याग कर वहां पर यत्नपूर्वक परिक्रम करना चाहिये। इस प्रकार से इस युक्त रूप वाले त्रिविष्टप प्रासाद को बना कर मनुष्य इस लोक में यश और राज्य को प्राप्त करता है और परलोक में आनन्त्य प्राप्त करता है। पुर-भूषण दिव्य इस त्रिविष्टप प्रासाद को बना कर प्रलय-काल तक मनुष्य वहां पर रहता है और उसके अन्त में परम तत्व में लय

को प्राप्त करता है ॥ ५६½—८६ ॥

पृथिवीजय — किन्नर, असुर और यक्ष आदि तथा देवों से वन्दित पृथिवीजय-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। आठ भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में पाद सहित एक अंश से विनिर्गत चार भाग वाली शाला होती है। प्रत्येक एक भाग से विस्तृत दो कर्ण-शृंग बनाने चाहियें। वे सब भाग-विस्तृत तथा पादोनपद निष्क्रान्त हों। चार भागों से गर्भ होता है तथा एक भाग वाली भित्ति बनाई जाती है। भ्रमन्तिका और बाहर की दीवाल दोनों एक एक भाग से बनाये जाते हैं। इसके तीनों दिशाओं में दो भाग से चतुष्किका का निर्माण करना चाहिये। कर्म-शोभा से युक्त सामने मडप बनाना चाहिये। विचक्षण स्थपति इस प्रकार से बताये हुये विभागों को समझ कर मन्दर-प्रासाद के ही समान कर्म-शोभा का सम्पादन सब तरफ करना चाहिये। अब जो ऊपर का प्रमाण इस प्रासाद में होता है उसका वर्णन किया जाता है। दो पद के प्रमाण से नीचे नाग-पीठ होता है। भाग के एक पाद से उसके मध्य में हीरक का निवेश किया जाता है। विस्तार से ढाई गुना उसका ऊर्ध्वमान होता है। ऊर्ध्वमान के मध्य में नाना अन्य निवेश विहित है। और उसके मध्य में वेदी-बंध डेढ़ भाग वाला बनाया जाता है। तदनन्तर हीरक-संयुक्ता जघा चार पद से बनाई जाती है। मेखला और अन्तर-पत्र भाग के आधे प्रमाण से बनाना चाहिये। दो भाग में राजसेनक (?) वेदिका बनानी चाहिये। विचक्षण लोग चन्द्रावलोक का निर्माण एक भाग से करते हैं। वहीं पर पद के एक पाद से आसन-पट्टक बनाना चाहिये। साम-पदद्वय में ऊपर वाला स्तम्भ निवेशित करना चाहिये और स्तम्भ के शीर्षक में आधे भाग में भरण बनाना चाहिये। आधे भाग से पट्ट और डेढ़ पद आयत छाद्य बनाया जाता है। अन्य स्तम्भ-पट्टिकायें भी इसी विधि से विहित हैं। अन्तरपत्र का ऊर्ध्व आदि भी यथाक्रम सस्थान वर्णन किया जाता है। ग्रीवा, मड और कलश चन्द्रिकाम्रा के समान विद्वान् बनावें। डेढ़ भाग के प्रमाण से कर्ण-शृंगों की ऊंचाई बताई गई है। विचक्षणों को स्तम्भ-सूत्र से नष्ट-शृंग का निर्माण करना चाहिये। पहिली भूमिका (ground floor) में यथावत् पांच कूटों का निवेश करना चाहिये। दूसरी भूमिका में तीन और तीसरी भूमिका में तो कूटक समान ऊंचाई और विस्तार वाला होता है। इस प्रकार से प्रत्येक

नर्ण में अलग अलग ९ कूट होते हैं। विद्वानों को ढाई भाग से शुकनासा की ऊंचाई करनी चाहिये। नष्ट शृंग के ऊपर पहिली उरोमंजरी तीन पद विस्तृत और साढे तीन भाग से उन्नत बनाई जाती है। ग्रीवा, स्कन्ध, कलश और अण्डक पाद-सहित एक भाग से बनाने चाहियें। दूसरे शृंग के ऊपर दूसरी उरोमंजरिका बनाई जाती है। उसका विस्तार चार भाग में और पांच पदों से ऊंचाई करनी चाहिए। स्कन्ध, सोपान, ग्रीवा, चन्द्रिका और कलश के साथ इनकी तो ऊंचाई डेढ़ भाग की बनाई जाती है। इस प्रकार से चारों दिशाओं में आठ ऊपर शिखरक होते हैं। तीसरे वर्ण-शृंग के ऊपर मूल-मंजरी बनाई जाती है। इसकी ऊंचाई और विस्तार क्रमशः छै और पांच पद से होती है। चारों दिशाओं में स्कन्ध का विस्तार तीन पद से होता है। मंजरी को कूटों एवं विविध विन्यासों से अलंकृत करना चाहिये। आधे भाग से ऊंची और ढाई भाग से विस्तृत ग्रीवा का निर्माण बताया गया है। अण्डक की ऊंचाई एक पद कम तीन भाग से (?), कर्पर आधे भाग से और एक पद से ऊंचा कलश। इस प्रकार से चारों तरफ नौ (९) शिखरों से युक्त यह प्रासाद बनाना चाहिये। वेदी-बन्ध तो सर्वत्र शत-पद-वास्तु के समान सतत करना चाहिए और उसी विभाग में सुन्दर कलशों का निर्माण करना चाहिये। पद्म-पत्र के समान मञ्जरी सब जगह बनवानी चाहिये। यहां पर अण्डकों की संख्या ४५ बताई गयी है। इस प्रकार से जो राजा इस पृथ्वी-जय प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करता है और उसका कोई शत्रु शेष नहीं रहता है। और कोई भी यदि भक्ति-सहित इस प्रासाद को बनवाता है, तो वह भी सौख्य को प्राप्त करता है और पीछे प्र । न परम पद को प्राप्त करता है॥ ९०-११९॥

क्षिति-भूषण — अब इस के बाद सभी अमरों और अप्सराओं के गणों से वन्दित क्षिति-भूषण प्रासाद का वर्णन करूंगा। १२ अंश में विभाजित चौकोर क्षेत्र में भद्र में पांच पद और कोन में तीन पद रखने चाहियें। उस का गर्भ १७ भागों में विचक्षण बनावें। चारों तरफ कन्द-भित्ति २० पद से बतायी गयी है। इस प्रासाद की रमणी तो दो पद के प्रमाण में बनानी चाहिये। बाहर की दीवार को पदिका कहते हैं और भद्र का निर्गम दो पद वाला होना है। भद्रा के मध्य में सुमनोरम पांच प्रकार बनाने चाहियें। वेदी-जाल-विभूषित बाहर का अलिन्द करना चाहिये। उस के ऊपर सुशोभन मात्स्यच्छाद्य का निर्माण करना चाहिए।

अब इस क्षिति-भूषण प्रासाद में ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। उस का क्षुरक पीठ-सयुक्त ३ पद वाला बनाया जाता है। और इस की ऊंचाई २४$\frac{1}{2}$ पद की मानी जाती है। इस के मध्य मे तो दश पदों से तुलोदय बनाना चाहिये। १४ अंश वाली रेखा और स्कन्ध-शीर्ष आधे पद वाला बनाया जाता है। ढाई भाग से विद्वानो को वेदी-बंध करना चाहिये। छै भाग की ऊंचाई से जघा पुन आधे भाग से सेचरा(?) विहित है। मेखला और अन्तरपत्र एक एक पद से बनवाने चाहियें। पाच भाग के विस्तार से और तीन पद की ऊचाई से चतुष्किका का निर्माण करना चाहिये। उस के उपर कम दो पद वाला करना चाहिय और दूसरा एक पद अधिक। यथोत्तर न्यून पाच भूमियां बनानी चाहियें। पहिली भूमिका साढे तीन भाग से विद्वान् को बनानी चाहियें। पाद-सहित तीन भाग वाली दूसरी भूमिका बतायी गयी है। तीसरी भूमिका तीन पद वाली और पाद कम तीन पद वाली चौथी भूमिका ढाई भाग से पाचवी भूमिका बताई गई है। पाद कम एक पद वाली ग्रीवा और पाद-सहित एक पद वाला अडक बताया गया है। एक भाग की पद्म-पत्र-सदृश शुभ चन्द्रिका बतायी गयी है। मातुलिंग-समन्वित कलश तीन पद का समभना चाहिये। द्राविड, नागर अथवा वाराट वास्तु शुभ माना गया है। जिस प्रकार का वास्तु बनाने वाले को रुचि हो उसी रूप वाला उसे बनाना चाहिये। नाना-भूषण-भूषित नाना प्रकार के स्तम्भो, कलशों, पद्म-पत्र और हीरक आदि से सुशोभित तथा बनावटी ग्रास-युक्त चन्द्रशालाओं से युक्त मकर-ग्रास-सयुक्त, लक्षणान्वित तोरण चित्र-विचित्र रूप और चित्र आदि से शोभित रम्य-कर्म जहा तक अपनी पूंजी हो बनाना चाहिय। जिस प्रकार से गुणी राजा सम्पूर्ण पृथ्वी को अलकृत करता, उसी प्रकार से यह क्षिति-भूषण प्रासाद पृथ्वी को अलकृत करता है। द्रव्यों मे तथा सुधा म भी जितनी रेणु-सख्या है उतने युग-सहस्र-वर्ष इस प्रासाद का बनाने वाला शिव पद म बसता है॥ १२०—१४०॥

सर्वतोभद्र —अब सर्वतोभद्र का सस्थान बताया जाता है। चौकोर क्षेत्र का दश पदों से विभाजन करना चाहिय। वहा पर जितना ब्रह्मा का पद हो उतने से गर्भ का निवेश करना चाहिय। भित्ति का निवेश यथाशास्त्र-सम्मत विहित है। छै भाग के विस्तार से डेढ भाग विनिर्गत भद्र होना चाहिय। जलमग्रास-युक्त कर्ण दो भाग से बनाना चाहिये। पाद के पाद से एक पाद में जलमार्ग का विस्तार बनाना चाहिये। वहा पर चारु स्तम्भो से अलकृत एक

हीं भद्र होता है, वह वस्तु, धन, धान्य सुख को देने वाला और हर्ष पैदा करने वाला होता है। डेढ भाग विनिर्गत चार भागों से विस्तृत जो भद्र के आगे भद्र होता है, उसको वाह्योदर कहते है। इसकी, विस्तार से दुगुनी ऊंचाई बतायी गयी है। एक भाग से कुम्भक तथा आधे भाग मे मसूरक तदनन्तर भाग के एक पाद से अन्तर-पत्रक बनवाना चाहिये। मेखला की उचाई आधे भाग से बनवानी चाहिये। प्रासाद की किवडियो मे युक्त जघा चार भागो से उन्नत होती है। पाद कम एक पद मे ही एक ओर मेखला तथा अन्तरपत्र आधे पद मे उचे बनाये जाते हैं। तीन भाग मे विनत चन्द्रावलोकन भाग मे बनाना चाहिये। आसन-पट्ट के ऊपर दो पद वाला स्तम्भ न्यासित करना चाहिये। हीर-ग्रहण और कपि शीर्षक एक २ पद से बनवाना चाहिये। विचक्षण लोग पद पिण्ड का निर्माण एक भाग मे करें। छाद्य का विस्तार दो पद वाला और उसके आधे से तुलोदय विहित है। जठर (गर्भ), वाह्य-सीमा, दीवालें, अन्धकारिका, जघा की ऊंचाई और वर्ण तथा अन्य निवेश भी यथा-शास्त्र निर्मेय हैं। कोनो मे कलशान्त रथिकायें तीन पद के प्रमाण से बनानी चाहियें। दूसरी रथिका दो पद की ऊचाई के प्रमाण से बताई गयी हैं। प्रथम सिंह-कर्ण की ऊंचाई तीन पद और दूसरे की दो पद मे बताई गयी है। शृंग का परस्पर क्षेप यथा-शास्त्र विनिर्मेय है। सात भागों से उन्नत और छै भागों से विस्तृत शिखर बनाना चाहिये। आधे भाग से उन्नत ग्रीवा और एक भाग वाला अण्डक होता है। आधे पद से चन्द्रिका और डेढ पद मे कलश होता है। सब जगह पद्म-पत्र-सदृश मञ्जरी बनवानी चाहिये। नीचे वास्तु-पाद से शोभन भद्र-पीठ का निर्माण करना चाहिये। जो व्यक्ति इस सर्व-लक्षण-युक्त सर्वतोभद्र का निर्माण करता है उसकी विजय होती है तथा परम कल्याण को भी प्राप्त करता है ॥ १४१—१५६½ ॥

विमान —अब इसके बाद विमान-नामक गण-गन्धर्व-सेवित इन्द्र-प्रिय प्रासाद का लक्षण कहता हू। सौ भागों मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे कल्याण, स्वास्थ्य एव सुख दायक इस विमान-प्रासाद का विभाजन करना चाहिये। और उस म चार भद्रों तथा कर्ण-प्राग्रीवों के निवेश होने चाहियें। विस्तार के आधे से गर्भ और शेष मे दीवालें होती हैं। (उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ प्रभेदो मे) ज्येष्ठ तीस पद वाला, मध्यम पचीस पद वाला और कनिष्ठ सोलह अथवा इक्कीस पद के प्रमाण से माने गये हैं। यह विमान

तीन प्रकार का होता है। प्रथम जातिशुद्ध, दूसरा मञ्जरी-युक्त और तीसरा मिश्रित। ज्येष्ठ अर्थात जातिशुद्ध विहित ही है। जो मञ्जरी-रहित जाति-शुद्ध हो तो यह भेद मध्यम कहलाता है तथा कनिष्ठ-भेद मञ्जरी-युक्त बनाना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से कर्ण-प्राग्रीव का विस्तार करना चाहिये। आधे भाग से क्षोभण करनी चाहिये और जो शेप वह कर्ण के समान फिर उससे आधे भाग से भद्र का निर्गम बनाना चाहिये। मिश्रित के चार भाग विस्तृत प्राग्रीव होता है। मूल-सूत्र के अनुसार दोनो पार्श्वों पर दो पदिक रथ होते हैं। अब विमान-प्रासाद के ऊर्ध्व-मान का यथावत् वर्णन करते हैं। किंकरो से सुशोभित पीठ का प्रमाण दो पद माना गया है। जितना स्कन्ध होता है वह भागो की बाईस सख्या बताई गई है। वेदी-बन्ध आदि अन्य निवेश भी यथा-शास्त्र निर्मेय हैं। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत माना गया है। जघागार मे रूपो की व्यवस्था आवश्यक है। उसके मध्य मे मकर-ग्रास-विभूपिता भूपा होती है। मल्लिका, तोरण, सुन्दर घण्टायें, चामर, किन्नर आदि से यह भूषा उल्लसित हो जाती है। तुला-प्रमाण के ऊर्ध्व के विपय मे पहला तो चार भूमिका वाला विहित है। पुन दूसरी भूमिका मे यह प्रमाण आधा विहित है। यह कलशान्त विनिर्मेय है। तीसरी भूमिका पाद-सहित एक पद से विस्तृत तीन पद वाली होती है। उसके सक्षेप का निर्माण विचक्षणो को तो आधे पद से करना चाहिये। चौथी भूमिका मेखला-सहित तीन पद वाली बनानी चाहिये। मञ्जरियो से मनोज्ञ नील कमल की आकृति वाली वह होती है। वहा ५र सीमा पच-गुण-सूत्र रेखा के अन्त तक वर्तित करें। इस प्रकार भूमिका का पहला प्रवेश होता है, तदनन्तर अर्थ और वृद्धि के देने वाले दो और, और चौथा भी उन्ही के समान आधे पद की ऊचाई से तथा पाच भाग के विस्तार से वेदिका बनानी चाहिये। पाद कम एक भाग मे एक कम प्रमाण मे ग्रीवा तथा पाद-सहित एक भाग के प्रमाण से अण्डक का निर्माण करना चाहिये। यह अण्डक कदली-फल के रूपवाला तथा मदार-कुसुम की आकृति वाला होता है। चन्द्रिका ग्रीवा के तुल्य और कलश दो पद की ऊचाई से बनाया जाता है। इस प्रकार का गर्भ-लक्षण-सयुक्त छदक इस विमान-नामक प्रासाद को बनवाना चाहिये। जो फल अश्वमेध-प्रमुख यज्ञो के करने से होता है, वह फल मनुष्य इस एक प्रासाद विमान के द्वारा प्राप्त करता है॥ १५६½—१८१॥

नन्दन :—अब यहा पर नन्दन-नामक प्रासाद के लक्षण का वर्णन करूगा। बत्तीस कर वाले क्षेत्र को आठ भागो मे विभाजित करें। इसके चार भाग विस्तार से उसका भद्र प्रकल्पित करना चाहिये। और एक-भाग-निष्क्रान्त इसका सुन्दर प्राग्रीव होना है। मूल-कर्ण के दो पदिक पार्श्व मे स्थित दो रथो को बनाना चाहिये। छै अगुल अथवा तीन अगुल वाला और चार अगुल वाला ही सलिलान्तर बनाना चाहिये और वहा पर मञ्जरी देनी चाहिये। चार भागो से गर्भ और शेष से भित्ति और अधन्धारिका बनाना चाहिये। पद के एक पाद से निर्गत दो पद वाला कन्द-भद्र। सामने इसका सुग्रीव-नामक मण्डप बनाना चाहिये। वेदिका आदि अन्य निवेश भी शास्त्रानुकूल होना चाहिये। इसकी रेखा जिस प्रकार कैलाश प्रासाद मे बताई गई है, वैसी यहाँ बनानी चाहिये। बारह अण्ड वाली छै भूमिया अलग २ बनानी चाहियें। इस प्रासाद का नन्दन नाम विद्वानो ने इस लिए रक्खा है कि यह प्रासाद बनाने वाले को इस लोक और परलोक मे नन्दित करता है (नन्दयति) ॥ १८२ – १८६½ ॥

स्वस्तिक :—देवों और असुरो तथा यक्ष-सिद्ध और महानागो से वन्दित स्वस्ति-दायक स्वस्तिक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। इसके ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ प्रभेदो मे जैसा तलच्छन्द और ऊर्ध्व-मान होता है, वह सब यहा पर ठीक ठीक से कहा जाता है। पच्चीस हाथ वाले बराबर चौकोर क्षेत्र मे कर्ण तिर्यक् मुखायत सूत्रपात करना चाहिये। तदनन्तर सीमा के आधे सूत्र से ठीक २ वृत्त का आलेखन करें तदनन्तर चारो तरफ बत्तीस रेखाओ से विभाजन करें। दिशा तथा विदिशा मे स्थित रेखाओ से उस वृत्त को अकित करें। दिशा और कर्ण इन दोनो के सूत्र दोनो के मध्य माला मे निवेश्य हैं। इस प्रकार के तुल्य प्रमाण वाले बत्तीस भाग करने चाहियें। ऐन्द्री दिशा से लगा कर ईशान-कोण-पर्यन्त आठ शालायें बनानी चाहियें और फिर क्रमश शालान्तरो मे आठ कोने बनाने चाहियें। दो शालाओ को छोड कर चार २ कोने से कोने तक सूत्र को लावे। आठो दिशाओ मे पद्म-पत्र-वृत्त सूत्र के अग्र भाग को लावे। इस प्रकार से सुलक्षण कोने और रथिकायें होती हैं। दो भाग की लम्बाई वाली यहा पर आठ चौकोर शालायें होती है तथा पद्म पत्र-सदृश कर्ण-भद्र दो अश वाले होते हैं। इसका ऊर्ध्व-मान दुगुना होता है। इस ऊर्ध्व के बीस भाग करने चाहियें और वहा पर आठ २ अश

वाला तुलोदय होता है। शेष को बुद्धिमान् स्कन्ध-पर्यन्त मञ्जरी बनावे। विस्तार के पाचवें अंश से पीठ की ऊचाई बनानी चाहिये। समन्वित वेदिका-बन्ध तीन पद वाला होता है। जघा एक अंश लम्बी और चार भाग में ऊची बनानी चाहिये। मेखला और अन्तर-पत्र एक २ भाग से बनाने चाहिये। बारह अंश से ऊची रेखा और सात भूमिकायें बनानी चाहिये। चार पद के विस्तार में तथा आधे भाग से उन्नत ग्रीवा होती है। सुशोभन, गोल, स्कन्ध छै भाग के विस्तार से बनाना चाहिये। इनमे त्रिगुण भाग के विस्तार से कोण का समालेखन करना चाहिये। जिस सूत्र से स्कन्ध छै भागो से विस्तृत होता है, उससे ज्येष्ठ-प्रभेद पच्चीस हस्तो के प्रमाण मे तथा मध्यम सोलह हस्त मे और फिर कनिष्ठ स्वतिस्क प्रासाद बारह हस्तो से जानना चाहिये। ज्येष्ठ की जघा छै भाग की ऊचाई से बताई गई है तथा मध्यम व कनिष्ठ इन दोनो की जघायें क्रमश पाच और चार भाग को ऊचाई से होती हैं। इस स्वस्तिक-प्रासाद के बनाने पर अखिल लोक का मगल होता है—विशेषकर राजाओ का और बनाने वाले का मनोरथ सिद्ध होता है। ॥ १८६½—२०८½ ॥

मुक्त-कोण — अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। वह तीन प्रकार का होता है। क्रमशः ज्येष्ठ आदि सोलह, बारह और आठ हस्तो के प्रमाण से वे होते हे। ज्येष्ठ अठारह भाग वाला, मध्यम चौदह भाग वाला और कनिष्ठ दस भाग वाला होता है। अब उसका लक्षण-विवरण कहा जाता है। अठारह पद से विभक्त क्षेत्र मे तीन सौ चौबीस कोष्ठको का निर्माण करना चाहिए। मध्यम में छत्तीस भाग में शुभ गर्भ-गृह बनाना चाहिए। दो २ पद के विस्तार के प्रमाण से बाहर की दीवाल, अन्धकारिका और बीच की दीवाल ये तीनो अलग २ बनानी चाहिए। एक भाग से निकली हुई चार भाग की लम्बाई मे शाला बनाई जाती हे। शाला का यह भूषण दो पद वाला, भद्र बनाकर उसके दो पार्श्व बनावें फिर से चारो दिशाओ मे आठ सलिलान्तर बनाने चाहिए और चारो दिशाओ मे आठ श्रेष्ठ रथिकाओं की रचना करनी चाहिए। इसका तीन पद वाला शृग विहित है, जो कलशान्त ऊचाई के अनुसार निर्मेय है। सिंह-कर्ण अपने भाग मे समुन्नत बनाना चाहिए। कर्ण-शृग के ऊपर मूल-मञ्जरी का विधान करना चाहिए। अन्य भूषा-विच्छित्तिया भी तदनुकुल उचित हैं। चारो दिशाओ मे समान आयात वाला

स्कन्ध नौ भाग वाला होता है । मंजरी के तीन अंश से शुकनासा की ऊंचाई करनी चाहिए। ग्रीवा भाग में तथा दो पद वाला अण्डक बनाना चाहिए। डेढ भाग में चन्द्रिका तीन पद की ऊंचाई वाला कलश बनाना चाहिए। इस प्रकार से जो कोई महा यशस्वी पुरुष इस मुक्तकोणनामक प्रासाद के निर्माण में तत्पर होता है, वह सब पापों से निर्मुक्त होकर महासौख्य को प्राप्त करता है । इस प्रकार सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्त, सर्व-पाप-विवर्जित तथा सर्व-विरिवष-वर्जित वह मनुष्य भोग और मोक्ष को प्राप्त करता है।
॥ १०८½—१३१½ ॥

श्रीवत्स—अब सुर-पूजित श्रीवत्स-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। दस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में छै भागों में गर्भ, कोने में रथों को छोडकर, शेष जैसा बताया गया है, वैसा करना चाहिए । इस प्रकार से इस मध्यमप्रभेद का वर्णन किया गया है । अब कनिष्ठ-भेद का वर्णन किया जाता है। दस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग से निकली हुई चार भाग वाली शाला होती है तथा पार्श्व में एक भाग के प्रमाण वाले सलिलान्तर होते है । उनके मध्य में रथ-कर्ण में यथावत् पद्म-दल-सदृश सलिलान्तर भूषण बनाना चाहिए। चतुष्कोण में व्यवस्थिता शोभणा आधे भाग के प्रमाण से बनानी चाहिए। शुभ कर्णप्राग्रीवका को डेढ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिए । सलिलान्तरा की जो भूषण-शोभा बताई गई है, वही कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ प्रासाद में बनानी चाहिए । इस प्रकार से तीन प्रकार का सक्षेप में यह मुक्तकोणप्रासाद बताया गया है । इसका ऊर्ध्व-मान विस्तार से दुगुना ऊंचा होता है ।

पन्द्रह अंशों में उसके मध्य में तुलोदय होना है । चार पद वाला वेदी-बन्ध और सात पद वाली जंघा होती है। मेखला तथा अन्तरपत्र तथा हीरक एक पद वाला होता है। कर्ण शृंग होता है (?) और दो भागों वाली कैवाल। डेढ़ भाग वाले प्रत्यग में तीन पद वाला स्थक बनाना चाहिए । चारों विदिशाओं में इसका वण दो पद वाला होता है। शेष में आधे भाग से शोभन और उसके आधे २ से सलिलान्तर बनाया जाता है। पद-प्रमाण के बाहर से पद के आधे भाग से प्रक्षेप होता है। इसका दो पदों से निर्गत शुकनास निवेशित किया जाता है। वास्तु-विस्तार के एक पाद से द्वार का विस्तार करना चाहिए। विद्वान् लोग द्वार की ऊंचाई को विस्तार से दुगुनी करते है। अब

इस श्रीवत्स प्रासाद का यथा-प्रतिपादित ऊर्ध्व-मान का वर्णन करूगा। प्रासाद के एक पाद से पीठ और आधे पाद से खुरक होता है। कुम्भक आदि से विस्तार से दुगुना करना चाहिये। बारह अशो की लम्बाई से उनमें शिखर का निर्माण करना चाहिये। तुला की ऊचाई आठ वाली और वेदी ढाई भाग वाली होती है। कुम्भक एक पद वाला और एक पाद कम एक अश से मसूरक बनाया जाता है। मेखला और अन्तरपत्र पाद-पाद-ऊन विहित है। चार भाग से ऊची जघा और आधे भाग मे हीरक होता है। मेखला, अन्तरपत्र तो एक भाग से बनवाना चाहिये। छै भाग से विस्तृत स्कन्ध को दस पदो से विभक्त करें। जिस प्रकार मूल मे उसी प्रकार स्कन्ध मे भी अग प्रत्यग कल्पना होती है। स्कन्ध-पार्श्व मे जो रेखाये स्कन्ध के बाहर से व्यक्त होती है, उनको इस भागो से विभाजित करें। ऊपर-नीचे प्रत्येक भाग मे जो पत्र-मत्रति होती है और उसी आकृति वाली बाहर की रेखा अग २ पर प्रकल्पित करें। अनुमान-गुण-सूत्र त्रिभाग-समन्वित कर षड्गुण-सूत्र से तो रथ-रेखा का समालेख करना चाहिये। यहा पर इस प्रासाद मे सात भूमिकायें होती है। उनमे पहली दो अश से ऊची, दूसरी पद के आधे पाद से हीन तदनन्तर दो पाद से पाद हीन तीसरी भूमिका, चौथी भूमिका डेढ भाग विहीन दो पद के प्रमाण से कही गई है। पाचवी डेढ भाग से। स्कन्धशीर्षक एक पद वाला होता है। इस प्रकार सब भूमिकाये भाग के आधे पाद से होती हैं। शिखर के तीन भाग करके वहा पर एक भाग छोड देना चाहिये और शेष से सिंह मे अधिष्ठित शुकनासा की ऊचाई होती है। पाद कम एक भाग वाली ग्रीवा तथा पाद-महित एक पद से उन्नत अण्ड होता है। रेखा-विधान अण्डानुकूल विहित है। पाद-सहित एक भाग के प्रमाण से दो चन्द्रिकायें बनानी चाहियें। मध्य मे पद्म-पत्र की आकृति वाली आमलसारिका का निर्माण करना चाहिये। बीजपूरक-वर्जित दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य अति सुन्दर इस श्रीवत्स-नामक प्रासाद को बनाता है वह शत-कुल-उद्धार करके इन्द्र-पुरी पहुचता है ॥ १३१½—१५२ ॥

हस —अब इसके बाद यहा पर हसनामक प्रासाद का लक्षण कहूगा। चौकोर क्षेत्र मे चार पदो से विभाजन करना चाहिये। फिर चार भागो से गर्भ तथा १२ भाग वाली भित्ति का निर्माण करें। तदनन्तर दो भागो से भद्रो का परिकल्पन करना चाहिये। उनके गर्भ का निष्काम चार भाग मे

प्रशस्त माना गया है। भाग के सोलह अंश से सलिलान्तरों का निर्माण करना चाहिये। जिस प्रकार स्वस्तिक-प्रासाद में पीठिका, वेदिकाबन्ध, जघा, मेखला और ऊर्ध्वमान बताये गये हैं—वैसा यहाँ पर भी करना चाहिये। मध्य में किन्नर-रूप और नीचे पद्मपत्र तथा ऊपर व्याल-द्वार आदि बनाकर इस प्रकार पीठ को अलंकृत करना चाहिये। विचक्षण इसको त्रिभौम अथवा पञ्चभौम बनावें तथा कर्ण २ में नागर अथवा द्राविड का निवेश करें। भूमिकाओं पर सुशोभित एक २ अन्तर वाले कूटों का निर्माण करना चाहिये। रथिकाओं का भी निवेश तथैव प्रतिपाद्य है। विस्तार के आधे से इसकी वेदी और ग्रीवा आधे पद वाली होती है। कदली-फल-सदृश अण्डक एक पद वाला करना चाहिये। आधे पद से चन्द्रिका तथा एक पद से उन्नत कलश बनाना चाहिये। जिस प्रकार से पुर-मध्य में सुरम्य जलाशय में हंस शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार से यह हंसनामक प्रासाद भी पुरमध्य में शोभित होता है। जो पुरुष श्रेष्ठ इस हंसनामक प्रासाद का निर्माण करता है, वह श्रीमान् तब तक स्वर्ग में बसता है, जब तक चौदह इन्द्र बसते रहते हैं॥ १५३–१६३½॥

रुचक — अब इसके अनन्तर समस्त प्रासाद-वास्तुओं की आदिम-प्रकृति जो ब्रह्मा के द्वारा कल्पित की गयी है वह कुल-भूषण रुचक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। चार पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग से भित्ति और उसका गर्भ दो पद से बनाया जाता है। श्रीवत्स प्रासाद के समान ही इस प्रासाद का भी वेदी-बन्ध, जघा, मेखला ऊर्ध्व-मेखला तथा ऊपर और नीचे का मान बनवाना चाहिये। कोनों में हीर तीर्थ-समन्वित स्तम्भकों का निर्माण कराना चाहिये। मध्य में तो रथिका चारुकर्म-विभूषिता बनानी चाहिये। यह प्रासाद-वास्तु कर्म से चतुर्भौम बनाना चाहिये। प्रति भूमिका मध्य में रथिका-युक्त बनायी जाती है। जिस व्यक्ति के द्वारा शुभ वास्तु में यह रुचक-नामक प्रासाद बनवाया जाता है, उसके द्वारा अपने सौ [१००] कुल तथा आत्मा का उद्धार हो जाता है। १६३½—१७०½॥

वर्धमान—अब धर्म, आरोग्य और यश को देने वाले वर्धमान-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। जो व्यक्ति इस प्रासाद को बनवाता है, तो उस का अठगुना ऐश्वर्य होता है। दस पदों से चौकोर तथा समान क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। तदनन्तर चार भाग मध्यम रथ का निर्माण

करना चाहिये तथा वाम और दक्षिण दोनो रथो को एक एक विभाग से बनाना चाहिये। अन्य निवेश जैसे कर्णादि भी तथैव विनिर्मेय हैं। वहा पर भद्र का निर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। पार्श्व मे स्थित रथको का निकास आधे भाग से होता है। विस्तार के आधे से गर्भ और शेष से दीवालें बनायी जाती हैं। इसका ऊर्ध्व-मान स्वस्तिक के सदृश होता है। इस प्रकार यश और धन को बढाने वाला यह वर्धमान नाम का प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥ ७०½—१७५ ॥

गरूड—अब यहा पर गरूड-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हू। यह प्रासाद सदैव गरूड-ध्वज भगवान् विष्णु का वल्लभ माना गया है। २२ पद वाला क्षेत्र विभाज्य है। पूर्व और पश्चिम से फिर दूसरी बार उसका दश भागो से विभाजन करना चाहिये। विद्वान् फिर उस के मध्य मे शत पद वाला प्रासाद बनायें। भित्ति का विस्तार दो पद वाला तथा दो भाग वाले कर्ण होते है। दोनो पक्षो मे उत्सृष्ट मूल प्रासाद के दोनो पक्षो पर पुन आगे और पीछे भी दो दो भागो को छोड देना चाहिये। शेष से छं पद वाले दो निवेश विहित होते है। सोलह [१६] भागो से गर्भ और दीवाल इन दोनो के एक पद से होती हैं। श्रीवत्स, हस, रूचक तथा वर्धमान—इन प्रासादो मे कोई भी जो अच्छा लगे उस एक को आपनी इच्छा से गरूड बनाये। और उस के दोनो पक्ष बाये और दक्षिण निकले हुए होते हैं। इस प्रकार इस गरूड प्रासाद मे तीन गर्भ माने गये हैं। १७६—१८२ ॥

गज—अब गज-प्रासाद का लक्षण बताता हू। ६४ पदो से इस गज नामक प्रासाद के क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। तदनन्तर सीमार्ध-सूत्र से पीछ से वृत्त का आलेख करना चाहिये। फिर शास्त्रानुकूल उस के आधे से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। अब गज प्रासाद के ऊर्ध्व-प्रमाण का स्पष्ट वर्णन करता हू। चार पद से उन्नत चारो कोनो पर स्तम्भ बनाने चाहियें। इस की जंघा भी शास्त्रनुरूप निर्मेय है। पट्टिका और अन्तरपत्र इन दोनो के समान मेखला बनानी चाहिये। आगे से शूर-सेन [सुअर] और पीछे से गज की आकृति बनानी चाहिये। १८३—१८७½ ॥

सिंह—अब सिंह-नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है। जिस प्रकार से नन्दन प्रासाद मे विभाजन किया जाता है, उसी प्रकार चोकोर तथा बराबर क्षेत्र का यहा पर भी विभाजन करना चाहिये। चार भागो से

गर्भ और एक भाग वाली कन्द-भित्ति बनाई जाती है। एक भाग से अन्धकारिका और वाहर की दीवाल बनायी जाती है। एक भाग से निर्गत भद्र चार भागो से बनाया जाता है। जल-मार्ग-समन्वित कर्ण तो दो पद वाला बनाना चाहिये। सिंह-रूपो मे अधिष्ठित पीठ ऊचाई से दो पद वाला होता है। पीठ के बीच से आधे पद से खुरक बनाया जाता है। ऊर्ध्व-मान एक कला अधिक विस्तार मे दुगुना बनाया जाता है। इसका वेदिका-बन्ध दो पद वाला और जघा चार पद वाली और मेखला-अन्तरपत्र एक भाग की ऊचाई मे बनाया जाता है। ग्रीवा, अड और कलशो के साथ कर्ण-शृग तीन भाग वाले होते हैं। सिंह-कर्ण तो ऊचाई मे चार पद वाला होना चाहिये। सिंह-रुप-समाक्रान्त इस सिंह-नामक प्रासाद मे कर्ण-शृग के ऊपर छं [६] पद वाली मूल-मजरी होती है। पाच लताओ से युक्त सात भाग के समुत्सेध वाली यह मूल-मजरी होती है। ग्रीवा की ऊचाई नो पाद-कम एक पद से। अडक तो एक पद की ऊचाई वाला होता है और रेखा मे द्विनिस्सृति विहित है। चद्रिका की ऊचाई पाद कम एक भाग वाली बनाई गयी है। वीजपूरक-युक्त दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। सिंह-प्रासाद को जो बनवाता है वह पुरुप निश्चय ही अजेय होता है और साथ ही साथ व्यवहार मे, राजदरवार मे, सग्राम मे और इन्द्र की सभा मे भी वह अजेय होता है ॥ १८७½—१९८½ ॥

पद्मक—अब पद्म-सदृश पद्मक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। जो मनुष्य इस प्रासाद को बनवाता है वह सम्पूर्ण मनोरथो को प्राप्त करता है। दिशाओ और विदिशाओ मे शास्त्र-सम्मत-विभागीकरणो परान्त चौकोर क्षेत्र मे अलग अलग सूत्रो का न्यास करना चाहिये। तदनन्तर वृत्त की साधना करनी चाहिये। पुन अन्य विवरण भी तदनुकूल विहित हैं। दो भागो मे विस्तृत सोलह कर्ण-पत्र जो पद्म-पत्र के समान और जलमार्ग से युक्त हो, बनाने चाहियें। सीमा के आधे से गर्भ का निर्माण और शेष से दीवालो का निर्माण करना चाहिये। यह पद्म प्रासाद अपने ज्येष्ठ, मध्यम, और कनिष्ठ प्रभेदो के अनुसार क्रमश छै, आठ, बारह हाथ वाला होता है और इस प्रासाद के क्रमश ३२, १६ और ८ रथक होते हैं। इसके सलिलान्तर श्रीवत्स के समान ही बनवाना चाहिये। और उसी प्रकार स्वस्तिक के ही समान पीठिका, वेदिका-बन्ध, जघा, शेखर, चद्रिका, अडक, कलश और ग्रीवा इस की ऊचाई के प्रमाण से अपने विस्तार के अनुसार करना चाहिये। १९७½—२०५ ॥

नन्दि-वर्धन —अब इस के बाद नन्दि-वर्धन-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। यह प्रासाद, पुत्र, कलत्र और धन आदि से नदित करता है। चौकोर क्षेत्र में १६ पदों से विभाजन करना चाहिये तथा उसके २५६ विभाग बनाने चाहियें। फिर १०० पद से गर्भ और तीन पद लम्बी दीवाल बनानी चाहिये। नववध-समन्वित कर्ण का प्रमाण तीन पद वाला होता है। जल-मार्ग एक भाग से लम्बा और भाग के एक पाद से विस्तृत होता है। उस के कर्ण का पाँच भागों मे विभाजन करना चाहिये और भद्र तीन पदो से। कर्ण मे एक २ भाग आधे भाग से भद्र-निर्गम होता है। जल-मार्ग-सयुक्त प्रत्यग दो पद वाला करना चाहिये। दोनो पार्श्वों मे डेढ भाग से निकास रखना चाहिये। प्रत्यग मे छै पद से विस्तृत शाला होती है और उस के आगे एक भाग निर्गत और चार पद विस्तृत भद्र का निर्माण करना चाहिये। सभी दिशाओ मे आधे भाग का निर्गम बनाना चाहिये। यह विधान है। कर्ण के आधे मे गर्भ से वृत्त को लाना चाहिये। फिर उसका पहले आलेख करना चाहिये। फिर यथानुसार अग-प्रत्यग निर्गम का वितरण करना चाहिये। अब पद्म-पत्र-सहित तथा मेखला-सहित गजाधार का निर्माण आधे भाग से करना चाहिये। जघा और कुम्भ ऊचाई पाद कम एक पद से बनानी चाहिये। भाग के एक पाद से अण्डक और पाद कम अन्तरपत्रक उसके आधे से ग्रासहार तथा आधे भाग से खुरक होता है। खुरक के समान ही इस के पीठ की ऊचाई बतायी गई है। ऊर्ध्वमान विस्तार से दुगुना होता है। तेरह अंशो से तुलोदय का विधान है। बीस अश वाला तो शिखर विनिर्मेय है। पुन वह चार पद वाला होता है। एक पाद कम दो भाग से उनमे (शिखरो मे)कुम्भक का निर्माण करना चाहिये। एक भाग से कलश और आधे भाग से अन्तरपत्रक होते हैं। इसकी सुशोभित मेखला पाद-हीन एक पद के प्रमाण से बनानी चाहिये। छै भाग की ऊचाई से जघा और आधे भाग से ग्रास-पट्टिका बनानी चाहिये। और कर्ण मे स्थित हो रथक का निर्माण एक भाग से बताया गया है। मेखलान्तरपत्र डेढ भाग समुन्नत होता है। जघा के मध्य मे तो रथक तथा प्ररथक बनाने चाहियें। मकर, ग्रासो और मुक्ता तथा वरालको से युक्त गोल खभो से जघा चित्रित करनी चाहिये और वह मल्लच्छाया से भी विभूषित

करनी चाहिये । जलान्तरों में शुभ संघाटकों के द्वारा रूप बनाने चाहियें। तुलोदय की ऊंचाई आठ भूमियों से करनी चाहिये। स्कन्धादि भी तथैव प्रतिपाद्य है। दूसरी भूमिका तीन पद वाली बतायी गयी है और तीसरी पाद वर्जिता, चौथी ढाई अंश वाली और पांचवी पादक्रम (पादोन), छठी दो पद वाली और उसके बाद सातवी पादोना और आठवी भूमिका तो डेढ भाग के प्रमाण से बनानी चाहिये। एक २ का आधे पद से प्रक्षेप होना चाहिये। कोनों में कूट और प्रत्यंग में तिलक बनाने चाहियें। भद्र में कर्म-शकुल विविध रथिकायें बनानी चाहियें। रथ के दोनों पार्श्वों में लेखाओं का न्यास करना चाहिये। इसकी वेदिका एक भाग के प्रमाण से उन्नत करनी चाहिये। ग्रीवा तो एक भाग के प्रमाण से और अण्डक दो पद की ऊंचाई से बनाये जाते है। सामलसारिका और चन्द्रिका डेढ भाग से बनानी चाहियें। तीन पद का कलश बनाना चाहिये फिर उस के बाहर बीजपूरक। सामने से शूरसेन, मध्य में रूप-समाकुल मिश्रक विमान के सदृश इस प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। इस भवन का यह नंदिवर्धन-नामक प्रासाद-भूषण कहा जाता है॥ २०६—२३१॥

सकल देवों के योग्य मेरु आदि जो प्रासाद-विंशिका—२० प्रासाद बताये गये है, उनको जो तत्वत जानता है वह सम्पूर्ण शिल्पि-वर्गों में मूर्धन्य होता है और राजाओं का आदर-पात्र होता है॥ २३२॥

चतुर्थ पटल

लाटप्रासाद

१. श्रीधर आदि उत्कृष्ट चालीस प्रासाद

२. नन्दन आदि उत्कृष्ट दश मिश्रक प्रासाद

श्रीधरादि-चत्वारिंशत्प्रासाद-नन्दनादि-दश-प्रासाद-लक्षण

श्रीधर आदि ४० प्रासाद —अब सूक्ष्म लक्षण वाले एवं उत्कृष्ट श्रीधर आदि पचास (५०) दूसरे प्रासादों का सक्षेप से वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

श्रीधर, हेमकूट, सुभद्र, रिपुकेसरी, पुष्प, विजयभद्र, श्री-निवास, सुदर्शन तथा कुसुमशेखर—ये भगवती पार्वती के प्रिय प्रासाद हैं। भगवान् शकर के प्रिय प्रासाद है—सुरसुंदर, नद्यावर्त, पूर्ग, सिद्धार्थ, शखवर्धन तथा त्रैलोक्य-भूषण। पद्म तो ब्रह्मा का प्रिय प्रासाद है ही तथा अन्य हैं—पक्षबाहु और विशाल तथा कमलोद्भव और हंस-ध्वज। लक्ष्मीधराख्य-प्रासाद विष्णु का प्रिय है। इसके अतिरिक्त सर्वदेव-साधारण प्रासाद हैं—महावज्र, रतितनु, सिद्धकाम, पचचामर, नदिघोष, अनुकीर्ण, सुप्रभ, सुरानन्द, हर्षण, दुर्धर, दुर्जय, त्रिकूट, नवशेखर, पुण्डरीक सुनाभ, महेन्द्र, शिखिशेखर, वराट तथा सुमुख। ये चालीस शुद्ध प्रासाद बताये गये हैं ॥ १—६½ ॥

नन्दनादि-दश मिश्रक-प्रासाद —परस्पर-निर्माण-प्रभेद से दश मिश्रक प्रासाद बताये गये हैं—नन्द, महाघोष, वृद्धिराम, वसुन्धर, मुद्गक, बृहच्छाल, सुधाधर, सम्वर, शुक्तिनिभ तथा सर्वाङ्ग-सुन्दर। इस प्रकार से पचास भेद हुये ॥ ६½—१२½ ॥

अब इन प्रासादों के क्रमश लक्षणों का वर्णन करता हूं ॥ १२ ॥

श्रीधर —अब इन सर्व-प्रमुख श्रीधर प्रासाद का लक्षण-पुरस्सर वर्णन करता हूं। यह श्रीधर सब इच्छाओं को पूरा करने वाला सब देवों का प्रिय तथा पुण्यों का परम कारण कहा गया है। चौबीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में सब कोनों में बारह कर्ण-शृगों की योजना करनी चाहिये। प्रत्यक का चार २ भागों में विस्तार करना चाहिये। और परस्पर विष्कम्भ यहां पर दो पद से बनाया जाता है। कर्ण-भद्र दो अश वाले और आधे भाग से निर्गम। कर्ण-पद में दूसरा कर्ण-पद के आधे भाग में विस्तृत होता है। इन दोनों के मानानुकूल मध्य में सलिलान्तर बनाना चाहिये। भद्र का प्रमाण विस्तार में दश भाग वाला

बताया गया है और सम-सूत्र-समाहित निर्गम तीन भागों से है। बाहर की दीवाल दो पादों से विनिर्मेय है। अन्धकारिका दो २ पाद वाली विहित है। कन्द सौ (१००) पद वाला और गर्भ छब्बीस (२६) अश वाला। कर्ण-कद दो पद वाला प्रत्यङ्ग एक-पदिक विहित है। पुन वह आधे भाग से निकला हुआ चारो दिशाओ मे व्यवस्थित होता है। एक भाग से निकली हुई इसकी चार पद (खभे) वाली शाला होती है। बाहर की दीवाल और कद का अभ्यन्तर और बाह्य इन दोनो का अन्तर विस्तार से पाच भागो वाला बताया जाता है, जो अन्तराल कहा जाता है। शृग चार पद वाला होता है। इसका विभाग वैसा ही हो, जाता है, जैसा बाह्य-शृग का होता है। दीवाल और कद के अन्तराल मे विद्वानो को पड्दारुक बनाना चाहिये। ईलिकान्तोरणयुक्त चारो दिशाओ मे सुन्दर सर्व-लक्षण-सम्पन्न सामने मण्डप बनाना चाहिये। इसकी ऊचाई का प्रमाण ५० भागो से बताया गया है। इनके मध्य मे बीस भागो से तुला की ऊचाई (तुलोदय) बनानी चाहिये। उनके मध्य मे छै अशो से वेदीन्बध का निर्माण किया जाता है। उस वेदीन्बन्ध के समान पदो के द्वारा नौ (९) भागो मे विभा-जित करने पर वहा पर चार पद वाला कुम्भ और दो पद वाला मसूरक बनाया जाता है। एक भाग से अन्तरपत्र और दो पद वाली मेखला बताई गई है। जो मूल भाग होते है, उनसे दश भागो से ऊची जघा बताई जाती है। मेखला दो पद वाली और अन्तरपत्र दोनो अशो वाला बताया गया है। ऊर्ध्व-पट्ट के नीचे और तल-पट्ट के ऊपर सोलह अश बनाने चाहिये और वहा पर यह कर्म सम्पादित करना चाहिये। एक भाग से रूप-धारा और डेढ २ भाग से राजसेनक विहित है। वेदी तीन भागो की ऊचाई से और आसन-पट्टक भी तदनुकूल है। डेढ भाग से ऊर्ध्व-चन्द्रावलोकन (छत का गवाक्ष) होता है। आसन के ऊपर से ढाई पद वाले स्तम्भ बताये गये हैं। एक भाग से उच्छालक बनाना चाहिये और डेढ पद से उन्नत शीर्ष, दो पद की ऊचाई वाला पट्ट और छाद्य-विस्तार तीन पद वाला। लम्बन तो उसके आधे से यथा-शोभा स्थापित किया जाता है। अन्तरपत्र ऊर्ध्व-अन्तरानुकूल यथा-क्रम कल्प्य है। कोनो पर त्रिविध वर्मा-रम्भो से कूट का निर्माण करना चाहिये। उनका विस्तार चार भागो मे और ऊचाई छै (६) भागो मे। घटा से युक्त कर्ण, कूट के प्रमाण से बनाये जाते हैं। ये कूट सब यथा-विच्छित्ति-पुरस्सर प्रमेय हैं। उनके विस्तार और उनकी ऊचाई से तुल्यता करनी चाहिये इस प्रकार प्रत्येक कर्ण म चार चार ने मध्य मे सोलह

होते हैं। सिंह-कर्ण के विस्तार का प्रमाण आठ भागों का कहा गया है तथा उनकी ऊंचाई छै (६) भागों से होती है और वह रथिकाओं से अलंकृत किया जाता है। गुण-तार-समायुक्त सूरसेन नाम का सिंह-कर्ण सर्वकर्म-समाकुल बनाना चाहिये। सिंह-कर्ण की ऊंचाई से ऊपर उरो-मञ्जरी बनानी चाहिये। विस्तार से आठ भाग वाली और ऊंचाई नौ (६) भाग वाली यह होती है, तथा पांच लताओं से युक्त यह मञ्जरी सुशोभित की जाती है। पाद-रहित भाग वाली ग्रीवा, एक भाग से ऊंचा अण्डक, आधे भाग से चन्द्रिका, एक भाग वाला कलश होता है। कूट के सिर पर दूसरी उरो-मञ्जरी बनानी चाहिये। यह मञ्जरी बारह भागों वाली विस्तीर्ण तथा सार्धोन-त्रिंशतोच्छ्रिता (२८½) बतायी गयी है। एक भाग से ग्रीवा और डेढ भाग से अण्डक विहित है। आधे भाग से और दो भाग वाला कलश विहित है। इस प्रकार से आठ उर शिखरक (मध्य-शृंग) चारों दिशाओं में होते हैं। द्वितीय कूट के ऊर्ध्व भाग में मूल-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। उसका सोलह भाग से विस्तार और अठारह से ऊंचाई करना चाहिये। सब का स्कन्ध-मान जैसा शत-वास्तु में बताया गया है, वैसा होना चाहिये। डेढ पद में ग्रीवा और दो पदों से युक्त अण्डक। सब अण्डक कदली-फल के तुल्य बनाने चाहियें। मण्डिका का जोड़ा आमलसारक के सहित दो पद में बनाना चाहिये। उसके ऊपर तीन पद से ऊंचा गोल कलश होना चाहिये। तोरणों, मकरों, पत्रों, ग्रासादिकों, मरालकों और हस्तिमुण्डों से युक्त, अप्सराओं के गणों से अलंकृत तथा सब प्रकार के अलंकारों से विभूषित ऐसे श्रीधर प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। जो मनुष्य कीर्ति के लिये और धन के लिये इस श्रीधर प्रासाद का निर्माण कराता है, वह इसी संसार में सौख्य और इन्द्रत्व को प्राप्त करता है और वह मनुष्य विविध भोगों का भोग कर स्वर्ग को तथा परम पद को प्राप्त करता है और वह सब पापों से विनिर्मुक्त हो कर शांत हो जाता है—इस में कोई संशय नहीं। ॥ १३—४६ ॥

हेमकूट—अब शुभ-लक्षण-युक्त हेमकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सब विद्याधरों का स्थान और पिनाकी भगवान् शिव का आश्रय कहा गया है। छब्बीस (२६) अंश में विभाजित चौकोर क्षेत्र के करने पर यहां पर छै पद में कर्ण, बारह में शाला और ३ भागों से निकास चारों दिशाओं में होते हैं। आठ भाग की लम्बाई वाला फिर दूसरा

निर्गम ३ पदो से किया जाता है, चारो पार्श्वों मे चार खभे इसी प्रकार सभी दिशाओ में यह विधान है। कर्ण-शाला का अन्तर एक पद से विस्तृत बनाना चाहिये। द्वार एक पद से और उसी तरह सलिलान्तर पद-विस्तृत प्रत्येक अग वाले, आधे भाग से निकले हुए, समान मान वाले, मनोरम कर्ण मे एक पद से पूर्व होता है। भद्र मे आधे पद मे निकली हुई दो पद वाली रथिका होती है। चारो कर्णों मे बुद्धिमान् को इसी प्रकार का मान करना चाहिये। बाहर की दीवाल का तो विस्तार तीन पद वाला बताया गया है। ६४ पद वाला गर्भ और उस की दीवाल ३ पद वाली होती है। वारिमार्ग से युक्त कर्णमान ३ पद का होता है। जलमार्ग आधे पद से और उस का द्वार एक पद से। आठ पद से विस्तीर्ण, आधे भाग से आयत शाला बनायी जाती है। फिर भद्र आधे भाग से निकला हुआ बनाया जाता है। इस हेमकूट प्रासाद मे तल का न्यास विभक्त पद के निश्चय से होता है। इस के आगे बडा भारी गुण-पूजित एक मडप बनाना चाहिये। हेमकूट इस प्रासाद का ऊर्ध्व-मान कलाधिक द्विगुण विहित है। नीचे उसका आसन सात भाग मे ऊंचा होता है। दो भाग वाला खुरक मध्य मे पूर्व-मानानुकूल है। क्रमश आगे पाद मान का वर्णन करता हू। सुन्दर वेदी-बन्ध सात भाग से उन्नत बनाना चाहिये। उस कुम्भक के आधे से एक भाग से कलश की ऊंचाई करनी चाहिये और आधे से अन्तरपत्र यथा-शोभा बनाना चाहिये। सुन्दर कपोताली डेढ पद के प्रमाण मे बताई गयी है। अति सुलक्षण जघा दस भाग से उठी हुई इसके ऊपर दो पद से उन्नत भरण का निर्माण करना चाहिये। तीन पद से मेखला और अन्तरपत्र ये दोनो बनाने चाहियें। मेखला के तो नीचे और तथा खुरक के ऊपर १६ भागो से अतर बताया जाता है। इसके मध्य मे कर्ण का प्रमाण अलग से बताता हू। राजासन द्विपद तथा चतुष्पद विहित है। आसन शीर्ष-पट्ट का निर्माण भाग के प्रमाण से करना चाहिये। और ऊपर ढाई भाग से च द्रावलोकन बनाना चाहिये। आसन-पट्ट के आधे से आठ भाग वाले स्तम्भासनों का योजन करना चाहिये। भरण और स्तम्भ, प्रत्येक एक २ पद के बताये गये हैं। अर्धपट्ट छाद्यक से सुशोभित दो पद वाला और वहा विस्तार से ३ पद का छाद्यक बताया गया है। यह प्रमाण चारो दिशाओं मे अलिन्दों मे बताया गया है। अब क्रमश अन्तरपत्र की ऊर्ध्व-भाग के वर्णन करता हू। छै पद वाले कर्ण-

विस्तार मे सात अशो से कर्ण-मजरी होती है। आधे पद से ग्रीवा और एक पद से अडक, आधे अश से चद्रिका और एक एक मे कलश की ऊचाई। इसकी उरो-मजरी का विस्तार चार पद मे होता है। एक भाग से ग्रीवा और अडक तथा आधे से कुम्भक। सिंह-कर्ण तो इस के मध्य मे दो पदो से करना चाहिये। इस प्रकार से हेमकूटो मे कर्ण मे पाँच अण्डक बताये गये है। आठ अश से विस्तृत और छै पद से ऊचा अलिन्द के ऊर्ध्व-भाग म स्थित मनोरम सिंह-कर्ण बनाना चाहिये। सिंह-कर्ण मे दो भागो मे स्थित बारह अशो से विस्तृत १३ पदो से उन्नत उरो-मजरी बनाना चाहिये। सात अश से विस्तृत स्कन्ध, और ग्रीवा एक पद से ऊची तथा डेढ भाग मे अडक और आधे पद से चद्रिका बतायी गयी है। दो पद मे सुमनोरम आवान-लिङ्ग का निर्माण करना चाहिये। मूल-मजरी का विस्तार २० भाग के प्रमाण का होता है। इसकी ऊचाई २१ से, द्वादश-भाग स्कन्ध। यह हेमकूट प्रासाद पचभौम (Five Storeys) वाला यथाशोभा बनाना चाहिये। पहिली भूमिका पाच भाग मे बनायी जाती है फिर दूसरी २ आधे भाग से। एक पद से उन्नत स्कन्ध होता है। दश भागो मे विभाजित कर पाच अति सुन्दरी लताये करनी चाहियें। हेमकूट के कर्णों म प्रत्येक अग मे नर-किन्नर बनाने चाहिये। अन्य तिलक-कूट तो निरन्तर बनाने चाहियें। इस प्रकार की कूट से निकली हुई मजरी हेमकूट म बनानी चाहिये। विस्तार मे आठ भाग वाली, डेढ भाग वाली ग्रीवा बतायी गयी है। तथा दो पद उत्सेध वाला, १२ पद आयत वाला अण्डक होता है। दण्डिका डेढ भाग से ऊची और ६ भाग से विस्तृत होती है। विस्तार और ऊँचाई कलश की ३ पद से बनाई जानी चहिये। इस प्रकार का मनोरम हेमकूट का जो मनुष्य निर्माण कराता है, वह मनुष्य स्वर्ग मे जब तक पिनाकी (शिव) की क्रीडा रहती है, तब तक वह वहा पर क्रीडा करता है ॥ ५०—८६ ॥

सुभद्र—अब भद्र-सुभद्रक सुभद्र-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। इस का सुभद्र नाम इस लिये पडा क्योकि इस का प्रत्येक अग भद्र-युक्त है। चौदह भागो के चौकोर क्षेत्र मे १० भागो मे गर्भ और छै पदो से विस्तृत स्कन्ध। यहा पर दीवाल वीस पदो कन्ध के समान बतायी गयी है। वर्ण इन के प्रत्येक अग मे पद के विस्तार से होते हैं। दो अग मे मध्य का विस्तार दोनो का निर्गम एक पद विहित है। पुन इसी मान म अन्य निर्गम

विनिर्मेय है। बाहर की दीवाल दो पद वाली। चार पद से आयत कर्ण और उस का भद्र दो पद वाला तथा इस का निर्गम आध भाग से। कर्ण मे कोण तो सब दिशाओ मे सुन्दर पदिका वाले होते है। गर्भ का विस्तार साढे पाच पद के प्रमाण मे करना चाहिये। वहा पर सब दिशाओ मे दो पद से निर्गम दिया जाता है। कर्ण और भद्र के अन्तर मे सलिलान्तर का निवेश करना चाहिये, उस का दरवाजा एक पद के पदमान-प्रविष्ट एव पदपाद-विस्तृत विहित है। मान का यथावत् वर्णन करता हु। आधे भाग से अति सु दर राजपीठ का निर्माण करना चाहिये। ऊर्ध्व भाग से चार अश वाला खुरपीठ बनाना चाहिये। कुम्भक का उत्सेध दो पद वाला और मसूरक* एक पाद से हीन, आधे भाग से अन्तरपत्र, तीन चौथाई अश से मेखलाये, छै भाग से जघा, एक भाग से ग्रास-पट्टिका। मेखला और अन्तर-पत्र प्रत्येक एक पद वाले बताये गये हैं। पट्ट से नीचे तथा खुरक से ऊपर ११ भागो का अन्तर विहित है। राजासन-पद-उत्सेध से अति शोभन बताया गया है। ढाई पद से वेदिका की ऊचाई, आधे पद से आसन और दो अश से चन्द्रावलोकन, आसन-पट्ट का स्तम्भ पाच पद से युक्त होता है। भरण और स्तम्भशीप एक पद से उन्नत बनाना चाहिये। छाद्यक से ढका हुआ, एक पद से पट्टक का निर्माण करना चाहिये। छाद्य के विस्तार को पद से और एक पद से लम्बन। अन्तरपत्र का यथास्थित ऊर्ध्व भाग का अब वर्णन करूगा। चार पद वाले कर्णों मे जो कर्ण और पदिकायें स्थित है, उनसे विस्तार और ऊचाई से एक पद वाले शिखर बनाने चाहियें। कलश और ग्रीवा आधे पद से ऊंची होनी चाहिये। सिंह—कर्ण तो विस्तार और ऊचाई मे समान दो पद वाला होता है। शिखर के नीचे तीन पद वाली कर्ण-मजरी का निर्माण करना चाहिये। ऊपर से तीन पद वाली और विस्तार के स्तम्भ मे दो पद वाली वह होती है। ग्रीवा के सहित कलश और अडक का निर्माण करना चाहिये। सिंह-नामक प्रासाद के समान शुभ-लक्षण कर्ण बनाने चाहिये। वे मूल के मान से विस्तीर्ण और गर्भ के ऊपर स्थित रहते हैं। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी भी भूमिकायें वैसी ही विहित हैं। कर्ण मे स्थित कलश के ऊपर मूल—मजरी करनी चाहिये। विस्तार दस भाग ऊचाई १२ अश, पाच लताओं से युक्त तथा विचित्र कर्मों से युक्त इसका स्तम्भ छै पद वाला और इस की ग्रीवा चार पदवाली तथा

विस्तार में सम तथा ऊंचाई में पान्हीन पद प्रमाण से होता है। अडक डढ भागों से स्थित तथा पड भाग विस्तृत होता है। चन्द्रिका का भाग पाद कम करना दो भाग वाला। इस प्रकार से इस सुलक्षण सुभद्र-नामक प्रासाद का जो लोग निर्माण करवाते हैं उसका कल्याण कल्प कोटि सहस्रों वर्ष शिव जी के सामने होता है ॥ ८७—११२[1] ॥

रिपु-केसरी —सर्वपापक्षयकारी तथा तीनों लोकों में कीर्तित रिपुकेसरी नामक यह प्रासाद है। बारह भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो पद की बाह्य भित्ति और उतनी ही मध्य भित्ति। विस्तार में सब दिशाओं में फैला हुई भ्रमणी दो पद वाली। गर्भ आठ भागों से विस्तृत कर्ण डेढ भाग वाला विहित है। एक भाग से निकला हुआ चार भाग से आयत भद्र बनाना चाहिये। रथक चारों दिशाओं में बनाने चाहियें। दोनों पार्श्वों में डेढ पद लम्बे प्रतिरथ बनाने चाहिये। पदार्ध विनिष्क्रान्त अन्य निर्मितियां विहित हैं। कर्ण की लम्बाई चार भाग वाली तथा कर्ण भद्रक दो पद वाला बाह्य कर्ण में व्यवस्थित आधे पद में विनिष्क्रान्त चौथाई पद से विस्तीर्ण पदमात्र प्रविष्ट प्रतिपाद्य है। कर्ण और तिलक के मध्य में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। तिलक का विस्तार दो अंश से और एक पद से निर्गम। भद्रक व्यवस्थित तिलक सुवर्णित (सुनहला) हो। तीन पद से निकला हुआ भद्र आठ भाग वाला होता है। उस को चारों दिशाओं में खम्भों से भूषित करना चाहिये। अब सुखावह प्रतिपत्र ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। ऊर्ध्व प्रमाण दो कला अधिक दुगुना बनाना चाहिये। १८ भागों से मध्य में तल की ऊंचाई बनानी चाहिये। इनसे (मध्य से) सुन्दर वेदी बन्धों का निर्माण करना चाहिये। दो पद वाला कुम्भक और डेढ़ पद वाला कलश मसूरक तथा अन्तरपत्र तो दो पदों में बनाने चाहियें। सोलह (१६) पद वाला मध्य विहित है। इस का खुरक भी तथैव मत है। राजसेना वेदी और उसी प्रकार आसनपट्टक ये सब ऊर्ध्व मान में पांच पदों से बनाने चाहिये। दो पद वाला चन्द्रावलोकन बनाना चाहिये। आसनपट्ट के ऊपर सात भागवाला स्तम्भ। भरण और स्तम्भ शेष ऊर्ध्व प्रमाण में दो पद वाले और उसी प्रकार दो पदवाला यह पिण्ड और तीन पद वाला छाद्य पिण्ड। अब अन्तरपत्र के ऊपरी भाग का वर्णन करता हूं। जहां तक कर्ण शृंग का विवरण है वह आयाम एवं

ऊचाई मे चतुष्पद परिणीतव्य है । ग्रीवा और अण्डक एक भाग से और चन्द्रिका आधे पद से और कलश आधे भाग से—सब विना सशय के यहाँ पर बनाना चाहिये । इसके ऊपर दूसरी कर्ण-मन्जरी बनानी चाहिये । ग्रीवा, अण्डक और कलश तीन पदो की ऊचाई और विस्तार वाले होते हैं । भद्र-कर्ण मे आश्रित तिलक मे दो अश का विस्तार बताया गया है। उस के ऊपर मे उसकी दूसरी ऊचाई तीन पद वाली बतायी गयी है । सात भाग से उन्नत, आठ भाग से विस्तृत, सुमन-सूनित सिंह कर्ण बनाना चाहिये । तिलक के ऊपर मे दूसरी उरो-मन्जरी बनानी चाहिये । वह मूल मे आधे भाग से लम्बी तथा नौ (९) भाग के प्रमाण से ऊची । उसका तो स्कन्ध-विस्तार ढाई भागो से बताया गया । ग्रीवा आधे भाग वाली उत्सेध मे एक भाग से अमल-सारक आधे भाग से चन्द्रिका और एक भाग से उन्नत कलश । कर्ण श्रृंग के ऊपर दूसरी मूल-मजरी होनी चाहिये । वह बारह(१२) भाग वाली तथा कला से भी अधिक ऊची उठनी चाहिये। स्कन्ध सात पद वाला कहा गया है और ग्रीवा एक भाग से। अण्ड का उत्सेध दो अश वाला और विस्तार सात भाग वाला । चन्द्रिका एक भाग से और कलश तो दो भाग से । नागरिका लता (न कि ग्रामीण) का यहाँ पर योजना करनी चाहिये । दूसरा और कोई कर्म यहा पर योज्य नही कहा गया है । जो लोग इस ससार मे विजय चाहते हैं, और बडे २ भोगो और आनन्दों का उपभोग करना चाहते हैं तथा सब पापों का नाश चाहते हैं, उन लोगो का इस रिपु-केसरी-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिये ॥ ११२½—१४० ॥

पुष्पक —अब पुष्पक नाम के प्रासाद का वर्णन करता हू । इसको विश्व-कर्मा ने पहिले कुबेर के लिये बनाया था । चौदह भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे जो स्थापत्य-कौशल इस प्रासाद के लिये बताया गया है, वह बडी ही पारिभाषिक गणना एव सूत्रणा है । तदनुकूल ही चारो दिशाओ पर चार कर्णो का सूत्रानुसार उत्पादन करें । तदनन्तर दिशाओ मे स्थित चार कर्णो को सूत्र के द्वारा उत्पादित करना चाहिये और फिर जो अन्य चार कर्ण हैं, वे भी तो सिद्ध हो ही गये हैं । इस प्रकार से अष्ट-दल कर्णो को गोल ही बनाना चाहिय । एक भाग से प्रवेश के विस्तार वाले सलिलान्तर को वर्णान्त मे बनाना चाहिये । छै पद की लम्बाई से शाला और इसका निर्गम तीन पद से । दो पद की बाहर की दीवाल और छै पद से कन्द का विस्तार । कन्द

के गर्भ मे स्थित पत्र को कर्ण-कन्दनुसार उस मे घुमावे। उस से समसूत्र सुशोभन वृत्त उत्पन्न होता है। उसके मध्य मे तो सोलह पत्र वाला कन्द बनाना चाहिये। भित्ति और कन्द के अन्तराल मे भ्रमन्तिका विहित है। पुष्पक के तल का न्यास पद्म-पुष्प की आकृति वाला होता है। अब इसी का ऊर्ध्व-मान कहा जाता है। इस की ऊंचाई यथा-क्रम उठनी चाहिये। इसके बाद तीन पद से पीठ-बन्ध बनाना चाहिये। कुम्भ सवाव (१½) अंश से बाहर और मसूरक एक पाद कम। आधे से अन्तरपत्र और उसी के समान कपोताली तथा विद्याधरी-माला पुष्पहस्तो से अलङ्कृत करना चाहिये। बारह (१२)पद की ऊंचाई वाला तुलोदय। इसके मध्य मे ३ भाग से वेदी का बन्ध बनाना चाहिये। आधे पद से खुरक और एक भाग से कुम्भक, आधे पद से मसूरक और एक पद से मेखला। पुष्पक मे छँ भाग की उठी हुई जघा बतायी गई है। मराल, (हंस), ग्राह (घरियाल), मकर और पुष्प तथा विद्याधरो से भी सूक्ष्म-कर्ण-समाकीर्णा इसकी जघा बनायी जाती है। एक भाग से भरण और एक ही भाग से पट्टिका। मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से उन्नत। तलपट्ट के ऊपर ऊर्ध्व-पट्ट का मस्तक। ग्यारह (११) भाग वाली अन्य विच्छित्ति बनानी चाहियें। एक भाग से राजसेन और दो भाग मे वेदिका की ऊंचाई और आसनपट्ट आधे भाग से समुन्नत होता है। तीन अंश लम्बित एक भाग वाला चन्द्रावलोकन। आसन के ऊपर से पचपद शुभ स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये। हीर-ग्रहण और शीर्ष दोनो डेढ भाग से और गलपट्ट एक भाग से तथा आदि-नल्लक दो भाग वाला, और वह सुनिर्मित, सुमनोरम एक भाग से लम्बा होना चाहिये। इसके ऊपर भाग मे छाद्य-पट्टिका का निर्माण करना चाहिये। और इसके ऊपर कपोताली तथा अन्तर्छद एक पद से बनाना चाहियें। उनका विस्तार छै (६) भाग से और ऊंचाई पाच भाग से। सूरसेन मध्यवर्ती अनितोरण वाला बनाना चाहिये। वराल, ग्राम, मकर, वराह, गज-सुडक आदि मे युक्त अनिन्द के ऊपर स्थित कोण बनाना चाहिये। पुष्प-कर्म-निरन्तर पुष्पकूट है। इसकी चार भूमियो होती हैं और वे आगे २ न्यून होती चली जाती हैं। प्रथमा भूमिका जो अधिक ऊची, पुन अन्य कम २ ऊची। आदिम कोण-कूट का विस्तार तीन पद बताया गया है। दूसरो का फिर यह क्रमश एक २ पद से कम होता है। बाहर से परस्पर क्षेप एक २ अंश से योजित करना चाहिये। इसके मध्य मे छँ (६) भाग से विस्तृत लता बनानी चाहिये। स्कन्ध मे दो पद की विस्तार वाली मध्य-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। षड्गुण-

सूत्र को ले कर लता-रेखा अंकित करनी चाहिये। फिर भाग-सुन्दर सुवृद्ध आलेख करना चाहिये। वेदिका का उत्सेध एक भाग से और स्कन्ध का विस्तार छै भाग से, एक भाग से ग्रीवा, दो भाग से सामलसारक। विशाल-पद्म-सदृश पद्म-शीर्षक का निर्माण करना चाहिये। पद्मपत्र की कान्ति वाली चन्द्रिका दो पद से उठी हुई और तीन अंश से उठा हुआ कलश विहित है। इस प्रकार का सुमनोरम पुष्पक-नामक प्रासाद का निर्माण जो करता है उससे धनाधीश कुबेर तुष्ट होते हैं, और वह कल्याणों को प्राप्त करता है।। १४२—१७२।।

विजय-भद्र—अब विजय-भद्र और सुभद्र का लक्षण कहता हूं। यह प्रासाद षण्मुख भगवान् स्वमिकार्तिक का प्रिय और बहुपुण्य विधायक है। अठारह भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में आठ पद वाला कर्ण और चार पद वाला भद्र बनाना चाहिये। एक पद से निर्गत सब कोणों में यही विधि है। सलिलान्तर एक पद से वल्भ्य और एक पद से आयत बनाना चाहिये। तीन (३) पद से निर्गत, दश भाग से आयत अर्थात् लंबा भद्र बनाना चाहिये। चारों दिशाओं प्रासाद के सामने से मुखमंडप होता है। बाहर की दीवाल और अन्धकारिका तीन पद वाली, मध्य में प्रासाद का प्रमाण सोलह अंश से करना चाहिये। चार पद वाले कर्ण और इन के कन्द में भद्र दो पद के प्रमाण से तथा कन्द-कर्ण में आश्रित निष्क्रान्त एक पद से। छै (६) पद से बीच का अङ्ग (गर्भ) और इस का निर्गम दो पद वाला है। कर्ण-शाला का जो अन्तरपत्र होता है वह प्रमाणानुरूप बनाया जाता है। कन्द की भित्ति दो पद वाली और गर्भ द्वादश भाग वाला। यहां पर ऊर्ध्व-मान दो कला अधिक दुगुना माना गया है। चौबीस (२४) भाग के अन्त में तुलोदय के मध्य से ऊर्ध्वमान भी कहा गया है। उस में ग्रीवा और अंडक आदि का निर्माण करना चाहिये। उस के बाहर तुलोदय विहित है। सात अंश से वेदी का बंध, तीन भाग से कुम्भ और डेढ़ भाग से अड़ क। एक भाग से अन्तरपत्र और मेखला बारह भाग से जंघा और दो अंश वाली गलपट्टिका। आधे भाग से अन्तरिक्ष और डेढ़ भाग वरण्डिका, एक भाग से रूपासंसमाकुल अन्तरपत्र होता है। दोनों पट्टों के ऊपर और नीचे का मध्य भाग इक्कीस (२१) भाग वाला होता है। इस के बाद मध्य से दो पद वाला राजसेनक बनाना चाहिये। वेदी चार पद वाली बताई गयी है। एक भाग से आसन-पट्टक और ढाई पद से चन्द्रावलोकन बनाना

चाहिये । नौ (८) भाग उन्नत पत्रकर्म-समाकुल स्तम्भ होना चाहिये। एक भाग से भरण और दो भाग वाला शीर्षक। दो दो भागों से उच्छालक एवं हीरग्रहण विहित है। दो अंश से पद की ऊंचाई और बाहर का विस्तार चार भाग से। इस प्रकार की रूपकातिरञ्जना एवं पद्मपत्रिया विहित हैं। और वह ठीक तरह से बतायी गयी (साधुचित्रित) एवं सुश्लिष्ट तीन भाग से होती हैं। प्रत्येक कर्णो मे श्रृगो का विस्तार दो पद से होता है। ग्रीवा, अडक और कलश के साथ ऊर्ध्वमान तीन भाग वाला है। मध्य मे चार पद वाले कर्ण से लगाकर उरोमजरी होती है। उस की ऊंचाई छै (६) पद की कही जाती है। ग्रीवा तथा अडक दो पद से उन्नत होते हैं। कलश की ऊंचाई एक भाग मे होती है। इस प्रकार से कर्णो का निर्माण सम्पादित होता है। कर्णों की पिण्डिका भद्र-देश-विनिर्मेय है। सुचर्चित सिंहकर्ण सात भागों से बनाना चाहिये। दोनो कर्णों मे और उन के दोनो श्रृंगो मे ऊपर चारो दिशाओ मे उरोमञ्जरी मे पंद्रह (१५) भाग की ऊंचाई बतायी गयी है और उस का कन्द आठ पद वाला और ग्रीवा एक पद से उन्नत। अडक दो भाग से बनाना चाहिये। और चद्रिका एक पद मे ऊची, कलश तीन पद से और उन के मध्य मे अन्तर-मजरी। पाच लताओ से युक्त तथा वाराटी क्रिया मे अन्वित बीस भाग विस्तीर्ण मूल-मजरी का निर्माण करना चाहिये और वह बाईस (२२) भाग मे ऊची होनी चाहिये। स्कन्ध द्वादश भाग वाला होता है। बीच वाली लता सुग्सेन-कर्मरूप-समाकुला होती है। ग्रीवा डाइ पद से ऊची बनवानी चाहिये। अडक दो पद वाला, मडिका एक भाग वाली और चार पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस प्रकार मे २६ दड (अथवा अड) वाला यह शुभ-लक्षण प्रासाद कहा गया है। इस का पीठ छै (६) पद वाला प्रसिद्ध है और वह पूर्व-कर्म के समान बनाया जाता है। जो लोग इस प्रासाद को भक्तिपूर्वक निर्माण कराते है, वे लोग आरोग्य और पुत्र-लाभ प्राप्त करते हैं तथा विजय भी प्राप्त करते है और षडानन स्वामिकार्तिक भी तुष्ट होते है ॥ १७३—२०० ॥

श्री-निवास —अब श्री-निवास-नामक प्रासाद का ठीक तरह से वर्णन करते हैं। तृप्ति के लिये वह बनाया जाता है और वहा विजय-श्री बैठती है। अठारह पदो से विभक्त चौकोर क्षेत्र मे क्रमश अन्ध-कारिका और भित्ति दो

सूत्र को ले कर लता-रेखा अंकित करनी चाहिये। फिर भाग-सुन्दर सुयुद्ध आलेख करना चाहिये। वेदिका का उत्सेध एक भाग से और स्कन्ध का विस्तार छै भाग से, एक भाग से ग्रीवा, दो भाग से आमलसारक। विशाल-पद्म-सदृश पद्म-शीर्षक का निर्माण करना चाहिये। पद्मपत्र की कान्ति वाली चन्द्रिका दो पद से उठी हुई और तीन अंश से उठा हुआ कलश विहित है। इस प्रकार का सुमनोरम पुष्पक-नामक प्रासाद का निर्माण जो करता है उससे धनाधीश कुबेर तुष्ट होते हैं, और वह कल्याणों को प्राप्त करता है॥ १४२—१७२॥

विजय-भद्र—अब विजय-भद्र और सुभद्र का लक्षण कहता हूं। यह प्रासाद षण्मुख भगवान् स्वमिकार्तिक का प्रिय और बहुपुण्य विधायक है। अठारह भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में आठ पद वाला कर्ण और चार पद वाला भद्र बनाना चाहिये। एक पद से निलास सब कोणों में यही विधि है। सलिलान्तर एक पद से कल्प्य और एक पद से आयत बनाना चाहिये। तीन (३) पद से निर्गत, दश भाग से आयत अर्थात् लंबा भद्र बनाना चाहिये। चारों दिशाओं प्रासाद के सामने से मुखमण्डप होता है। बाहर की दीवाल और अन्धकारिका तीन पद वाली, मध्य में प्रासाद का प्रमाण सोलह अंश से करना चाहिये। चार पद वाले कर्ण और इन के कन्द में भद्र दो पद के प्रमाण से तथा कन्द-कर्ण में आश्रित निष्क्रान्त एक पद से। छँ (६) पद से बीच का अङ्ग (गर्भ) और इस का निर्गम दो पद वाला है। कर्ण-शाला का जो अन्तरपत्र होता है वह प्रमाणानुरूप बनाया जाता है। कन्द की भित्ति दो पद वाली और गर्भ द्वादश भाग वाला। यहां पर ऊर्ध्व-मान दो कला अधिक दुगुना माना गया है। चौबीस (२४) भाग के अन्त में तुलोदय के मध्य से ऊर्ध्वमान भी कहा गया है। उस में ग्रीवा और अंडक आदि का निर्माण करना चाहिये। उस के बाहर तुलोदय विहित है। सात भाग से वेदी का बंध, तीन भाग से कुम्भ और डेढ़ भाग में अंडक। एक भाग से अन्तरपत्र और मेखला बारह भाग से जंघा और दो अंश वाली गलपट्टिका। आधे भाग से अन्तरिका और डेढ़ भाग वरण्डिका, एक भाग में रूपकर्म-समाकुल अन्तरपत्र होता है। दोनों पट्टों के ऊपर और नीचे का मध्य भाग इक्कीस (२१) भाग वाला होता है। इस के बाद मध्य से दो पद वाला राजसेनक बनाना चाहिये। वेदी चार पद वाली बताई गयी है। एक भाग से आसन-पट्टक और ढाई पद से चन्द्रावलोकन बनाना

चाहिये। नौ (८) भाग उन्नत पत्रकर्म-समाकुल स्तम्भ होना चाहिये। एक भाग से भरण और दो भाग वाला शीर्षक। दो दो भागो से उच्छालक एव हीरग्रहण विहित है। दो भाग से पद की ऊचाई और बाहर का विस्तार चार भाग से। इस प्रकार की रूपकातिरञ्जना एव पद्मपत्रिया विहित हैं। और वह ठीक तरह से बतायी गयी (साधुचित्रित) एव सुश्लिष्ट तीन भाग से होती हैं। प्रत्येक कर्णों मे श्रृगो का विस्तार दो पद से होता है। ग्रीवा, अडक और कलश के साथ ऊर्ध्वमान तीन भाग वाला है। मध्य मे चार पद वाले कर्ण से लगाकर उरोमजरी होती है। उस की ऊचाई छै (६) पद की कही जाती है। ग्रीवा तथा अंडक दो पद से उन्नत होते हैं। कलश की ऊचाई एक भाग मे होती है। इस प्रकार से कर्णों का निर्माण सम्पदित होता है। कर्णों की पिण्डिका भद्र-देश-विनिर्मेय है। सुचर्चित सिहकर्ण सात भागो से बनाना चाहिये। दोनो कर्णों मे और उन के दोनो श्रृगो मे ऊपर चारो दिशाओ मे उरोमञ्जरी मे पंद्रह (१५) भाग की ऊंचाई बतायी गयी है और उस का कन्द आठ पद वाला और ग्रीवा एक पद से उन्नत। अडक दो भाग से बनाना चाहिये। और चद्रिका एक पद से ऊची, कलश तीन पद से और उन के मध्य मे अन्तर-मजरी। पाच लताओ से युक्त तथा वाराटी क्रिया मे अन्वित बीस भाग विस्तीर्ण मूल-मजरी का निर्माण करना चाहिये और वह बाईस (२२) भाग से ऊची होनी चाहिये। स्कन्ध द्वादश भाग वाला होता है। बीच वाली लता भूरमेन-कर्मरूप-समाकुला होती है। ग्रीवा ढाइ पद से ऊची बनवानी चाहिये। अडक दो पद वाला, मडिका एक भाग वाली और चार पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस प्रकार से २६ दड (अथवा अड) वाला यह शुभ-लक्षण प्रासाद कहा गया है। इस का पीठ छै (६) पद वाला प्रसिद्ध है और वह पूर्व-कर्म के समान बनाया जाता है। जो लोग इस प्रासाद को भक्तिपूर्वक निर्माण कराते है वे लोग आरोग्य और पुत्र-लाभ प्राप्त करते हैं तथा विजय भी प्राप्त करते है और षडानन स्वामिकार्तिक भी तुष्ट होते हैं॥ १७३—२००॥

श्री-निवास —अब श्री-निवास-नामक प्रासाद का ठीक तरह से वर्णन करते हैं। तृप्ति के लिये वह बनाया जाता है और वहा विजय-श्री बैठती है। अठारह पदो से विभक्त चौकोर क्षेत्र म क्रमश अन्ध-कारिका और भित्ति दो

दो पदो से होती है। और श्री-निवास का सुन्दर गर्भ छैः (६) पद से बनाना चाहिये। कन्द मे दो पद वाले कर्ण होने चाहियें। एक भाग से सलिलान्तर तथा एक पद से निकला हुआ चार पद वाला भद्र बनाना चाहिये। बाहर के तीन पद वाले कर्ण दो पद वाले भद्रों से युक्त होने चाहियें। चतुर्थ कर्ण मे तो भद्र एक पद से निकला हुआ होना चाहिये। आधे पद के लम्बे प्रत्येक कोण बनाने चाहियें। प्रवेश से तथा विस्तार से भी एक पद से अम्बुधर (सलिलान्तर) बनाना चाहिये। विस्तार से छैः पद वाला दो पदो से निकला हुआ भद्र बनाना चाहिये। सलिलान्तर से दो अंश से विस्तृत तिलक बनाना चाहिये। सुन्दर कर्म से अलंकृत एवं सुशोभित निष्क्रान्त एक पद से बनाना चाहिये। अब श्री-निवास प्रासाद मे क्रमश ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हू। पीठ मे खुर की ऊचाई पाद कम एक पद इष्ट है। पाद-सहित एक अंश से जाड्य-कुम्भ की ऊचाई करनी चाहिये। एक भाग अन्तरपत्र और एक ही भाग से मेखला। श्री-निवास प्रासाद मे पीठ की ऊचाई चार भाग से, वेदी-बन्ध का खुरक आधे भाग से ऊचा होता है, तथा कुम्भक डेढ भाग से और उस के आधे से मसूरक होता है। *
... ...

॥ २०१—२१७ ॥

सुदर्शन तथा ... ...

॥ २१८—२३७ ॥

कुसुम-शेखर ... ...

॥ २३८—२६० ॥

सुर-सुन्दर—अष्ट शृग के भाग के तीन भाग से पक्षक और शृग के बीच मे सलिलान्तर का निवेश करना चाहिये। अन्योन्य शृग निकास एक भाग से कहा गया है। दश भाग का लम्बा भद्र चार अंश से निकला हुआ होता है। इस प्रकार से सुरसुन्दर-नामक प्रासाद मे इस प्रकार का तलच्छद वर्णन किया गया है। क्रमश अब ऊर्ध्व-मान का ठीक दो भागो से वर्णन किया जाता है। पीठ से लेकर विस्तार से दुगुनी ऊचाई होनी चाहिये।

* टि० इसके आगे का मूल गलित है। लगभग ५० श्लोक नष्ट है। अतः इन दो क्रमिक-प्रासादों—सुदर्शन तथा कुसुम-शेखर के लक्षण अप्राप्त हैं—श्रीनिवास का भी कुछ अंश गलित है।

उपपीठ में भी एक भाग की ऊंचाई करनी चाहिये। पाद-हीन एक पद से तोरण द्वार की ऊचाई कही गई है। डेढ़ भाग की ऊंचाई जाड्य-कुम्भ की बनाई जाती है। कलश और अन्तरपत्र पादहीन एक पद से ऊंचे और इससे ऊपर आधे पद से ग्रास-पट्टिका बनानी चाहिये। और खुरक आधे पद से तथा कुम्भ भी तथैव विहित है। एक भाग से समवृत्त और अति सुन्दर कलश का निर्माण करना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र सवाव भाग से। छं (६) भाग मे उठी हुई जघा और आधे भाग वाली ग्रासपट्टिका। वर्ण मे एक भाग से और आधे भाग से प्रमाण दोनो कोनो का। एक भाग मे हीरक यथा-शोभ बनाना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र डेढ़ भाग से बनाना चाहिये। ऊपर से दोनो पदो के मध्य मे साढे बारह अश का प्रमाण होना चाहिये। उस के मध्य मे पदक सहित राजसेन का निर्माण आधे भाग से होना चाहिये। दो भागो से वेदिका और आसनपट्टक आधे भाग से। एक भाग से चन्द्रावलोकन और उतने ही से आसन के ऊपर स्तम्भ का प्रमाण। पाच भागो से भरण का निवेश करना चाहिये। और एद भाग से ऊचाई वाला दुगुने आयत से शीर्ष का निर्माण करना चाहिये। पट्ट की ऊचाई डेढ भाग से बनाना चाहिये। ढाई भाग से बाहरी ऊचाई विहित है। छाद्यक के ऊपर दो भागो से वासन-पट्टिका का निर्माण करना चाहिये और उस को रूप-ग्रास और वरालको से सुशोभित करना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र तो रूप-युक्त एक एक भाग से और विद्वानो को दो भाग से दूसरी मेखला बनानी चाहिये। इसके बाद सब तरफ से कर्म-युक्त कूटो का निर्माण करना चाहिये और उन कूटो मे प्रत्येक को सिंह-कुम्भ-समन्वित बनाना चाहिय। वे ही क्रमश उरो-लञ्जरिका बनती है। प्रथम अष्टाण्डक-त्रय (२४) के अन्त मे षडण्डक-चतुष्टय (२४) विहित है अर्थात् २४, २४ अण्डक-शिखर-भूषा विन्यास बताया गया है। वर्णो मे चार चार अण्डक-शिखर विनिर्मेय है। ये शिखर-शोभाए प्रत्येक ढाई पदो से ऊची होती है। अथवा अन्य प्रमाण भी विहित है। सिंह-कर्ण छै भागो से ऊचा तथा भद्र मे पल्लव-विस्तृति कही गई है। दूसरा सिंह कर्ण चार कर्म से सुशोभित होना चाहिय। तीसरा मनोरम सिंह कर्ण दो पद वाला बनाना चाहिये। मूल-मञ्जरी का विस्तार चौदह पद वाला होता है। १७ भाग से ऊंचाई पद्म-कोण के समान होती है। स्कन्ध आठ पद वाला कहा गया है और ग्रीवा डेढ पद की ऊची। अण्डक की ऊचाई दो पद की और चन्द्रिका की ऊंचाई आधे पद की। मातुलिंग-समुद्भव तीन पद वाली होती है,

कलश तीन पद वाला और मातुलिंग-समुद्भव तीन पद वाला होता है। मूल-मञ्जरी के मध्य में तो तीन शिखरों का निर्माण करना चाहिये। वह सुरेख, सुप्रसन्न और सर्वदेश-विभूषित होना चाहिये। इस प्रकार से इस प्रासाद मे अण्डकों के प्रमाण से इस सुर-सुन्दर-नामक प्रासाद का ज्येष्ठ भेद कहा जाता है, और मध्यम भेद में १००, कनिष्ठ मे १०१ अण्डक कहे गये हैं। सुर-सुन्दर में इन अण्डकों का प्रमाण मन्दार-कुसुम के आकार का बताया गया है। जो व्यक्ति इस प्रकार से यह सुर-सुन्दर प्रासाद को बनाता है वह ब्रह्मा के सौ युग तक सूर्य लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ॥ २६१—२८६½ ॥

नन्द्यावर्त —नृप की वृद्धि करने वाले अब नन्द्यावर्त-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। नागकन्याओं से भूपित एवं राजाओं का प्रिय यह प्रासाद माना गया है। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र मे दो पद से ब्रह्मा का पद प्रतिष्ठित किया जाता है। गर्भ-विन्यास वर्तुलाकृति विहित है। एक भाग से तुला की भित्ति और एक भाग से भ्रमतिका तथा पाच पद-वर्जित एक भाग से बाहर की दीवाल। कद में दो भाग वाला पद्म-शेखरक बनाना चाहिये। और पद वाले बाहर के कर्ण गोत्र बनाने चाहिये और वे स्वस्तिका की आकृति वाले तथा गात्र बनाने चाहियें। चार रथिकायें चारों कन्द-कोनों मे निर्मेय है। डेढ भाग से निकला हुआ पाच भाग का लम्बा भद्र होना चाहिये। भद्रान्त-पातिनी रथिका भी पदसमित विनिर्मेय है। शेष भद्र विस्तार मे तीन भाग वाला बनाना चाहिये। और आधे भाग से विस्तीर्ण और भाग प्रवेश वाला इस प्रमाण से बुद्धिमानो को सलिलान्तर बनाना चाहिये। नद्यावर्त मे तलच्छन्द का अनुसरण करने वाला भद्र भी वैसा ही विहित है। अब नद्यावर्त मे क्रमश ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूँ। ढाई भाग से राजासन ऊंचे से तथा तुलोदय ऊर्ध्वानुकूल आठ भागो से प्रमेय है। तुलोदय के मध्य में वेदी-बंध दो भाग वाला होता है। मेखला और कलश से युक्त कुम्भक की ऊंचाई एक भाग वाली, चार भाग वाली जघा और एक भाग वाला भरण, मेखला और अन्तलपत्र एक एक भाग मे बनाये जाने चाहिये। एक एक पाद के प्रमाण से राजसेन विहित है। वेदी आठ भाग के प्रमाण वाली, एक चौथाई भाग से आसन पुन चन्द्रावलोकन को भागार्ध से नत करना चाहिये। एक पाद कम तीन पादो से स्तम्भ को पल्लवो से सुशोभित बनाना चाहिये। हीरग्रहण का शीर्ष एक भाग की ऊंचाई वाला बनाना चाहिये। एक पद मे ऊंचा पद और पद आयत छाद्यक बनाना चाहिये। ऊपर चार कर्म वाली पट्टिका

एक भाग से। चतुरायत सिंह-कर्ण तीन अंशों से ऊंचा और वह सूरसेन-भूषित अति शोभित बनाना चाहिये। ढाई भाग से और पद से विस्तृत शृंग से इसके ऊपर दूसरा शृंगसमान ऊंचाई और विस्तार वाला होता है। डेढ़ अंश से उन्नत कूट प्रत्यंगों में बनाये जाने चाहियें। दूसरा सिंह-कर्ण सिंह-कर्ण के मस्तक पर होता है, तीसरा उसके ऊपर और चौथा उसके ऊपर। छै (६) भाग से विस्तृत कर्ण के कूट में मूलमंजरी होती है। स्कन्ध की ऊंचाई सात भाग की ऊंची होनी चाहिये। मूलमंजरी के मध्य में स्थित उरोमंजरी होती है। इस का विस्तार चार भाग से और ऊंचाई छै (६)भागों से होती है। कलश और अंडक से युक्त कर्ण की अभ्यन्तर-मंजरी होती है। इस प्रकार से २१ अंडकों से सुलक्षण यह नन्द्यावर्त प्रासाद बनता है। जो लोग इस अत्युत्तम नंद्यावर्त प्रासाद को भक्ति से निर्माण करते हैं, वे शुभ विमान पर चढ़ कर इन्द्र-लोक को जाते हैं। २८६½—३१२½

पूर्ण—अब इस के बाद मनोरथ पूर्ण करने वाला पूर्ण प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह प्रासाद किन्नरों और यक्षों से वन्दित कहा जाता है और यह मनुष्यों और पितरों का प्रिय माना जाता है। दस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो पदों के विस्तार से गर्भ बनाना चाहिये। एक भाग के विस्तार वाली दीवाल। कन्दभद्र दो पद से और इस का निर्गम आधे भाग से। सब दिशाओं में दो पदों से सुन्दर भ्रमन्तिका का निर्माण करना चाहिये। बाहर की दीवाल पदिका एक पद वाली, तथा कर्ण का विस्तार दो पदों से तथा अण्ड-विनिर्गम तदनुकूल और उस का दो भाग वाला सुशोभन भद्र बनाना चाहिये। कर्ण भी एक पद विहित है। पड्भद्र आधे भाग से निकला हुआ आयाम और क्षेप में समान तो आधे भाग से सलिलान्तर बनाना चाहिये। इस का गर्भ चार भाग वाला और दीवाल एक भाग वाली। वलभियां भी यहां अलंकरणीय हैं। चतुर्गर्भ इस मंदिर में पूर्व में द्वार बनाना चाहिये। अब इस प्रासाद का ऊर्ध्वमान वर्णन करूंगा। दो भाग से पीठ, दो भाग से वेदी-बंध बनाना चाहिये। रूपकर्म-सुशोभित जंघा चार पदों से विहित है। पदद्वय-समित अन्तरपत्र भी। कलश अंडक युक्त सब कर्णशृंगों का प्रमाण विद्वानों ने तीन पद कहा और घंटा कलश संयुक्त वलभी चार पद वाली बताई गयी है। कर्ण-शृंग के ऊपर तीन मत्तलच्छाद्य बनाने चाहियें। वे तीनों अलग अलग एक भाग से उन्नत तथा अन्तरपत्र

से युक्त कहे गये है। एक भाग से घटा और दो भाग से कलश और अडक बनाये जाने चाहिये। मूल कमल-सहित कर्ण मे विद्वान् सूत्र को फेंके और एक सूत्र से लाञ्छित मल्लछाद्य का निर्माण करना चाहिये। जो भक्त इस प्रकार के प्रासाद को बनवाता है, वह पूर्णायु होता है और शिवलोक म आनन्द करता है ॥ २१२½ – २२७½ ॥

सिद्धार्थ —सर्वकाम और अर्थ की सिद्धि देने वाले अब सिद्धार्थ-प्रासाद का वर्णन करूगा। इसके बनवाने वाले के सब मनोरथ इस लोक मे और परलोक मे सिद्ध होते हैं। दश पदो से विभक्त तल और चौकोर क्षेत्र में छै पद से गर्भ बनाना चाहिय। इसका (?) चार पद वाला होता है। एक भाग से रमणी और एक भाग से बाहर की दीवाल। कर्णा को दो पद से और शाला को छै (६) पद मे बनाना चाहिये। उसके ऊपर यथा-शोभा कर्ण-शृग का निर्माण करना चाहिये। शाला का निर्गम तीन पद वाला और चारो दिशाओ म चतुष्किायें बीच मे और बाहर उसके चार दरवाजे बनाने चाहियें। बीस भाग से इन दरवाजो की ऊचाई का प्रमाण बताया गया है। पीठ-भद्र तीन पद वाला तथा उसकी दुगुनी ऊचाई बाहर से विहित है। सुशोभन वेदि बन्ध ढाई भाग से बनाना चाहिये। साढे चार भाग वाली जघा ऊचाई से सुशोभित बनानी चाहिये। मेखला अन्तरपत्र एक भाग से बनाना चाहिये। खुरक से मेखला सात भागो के अन्तर पर होती है। दो भागो मे राजसेन तथा आसन-सहित वेदी बनाना चाहिये। तीन भाग का ऊचा स्तम्भ और आधे भाग से हीरक तथा स्तम्भ-शीर्ष होते है। और पट्ट की ऊचाई एक भाग वाली विहित है। मूर्धच्छाद्य एक भाग वाला और एक भाग से लम्बन। कलश और अण्डक से युक्त शृग की ऊचाई तीन भाग की होती है। सिंह कर्ण का विस्तार छै (६) भाग से और ऊचाई चार भाग से बताई गई है। दोनो शृगो के ऊपर सुन्दर मूल-मञ्जरी बनायी जानी चाहिय और वह नौ भाग से ऊची और न से विर्हीन विहित है। स्कन्ध पाच पद वाला समझना चाहिये और ग्रीवा आधे पद की ऊची, अण्डक एक भाग मात्र मे ऊचा होता है और एक भाग मे चन्द्रिका। कलश तो वर्तुल होता है और सम विस्तार वाला और दो भाग वाला होता है। भद्र मे वराटको का यहा पर हेमकूट के समान करना चाहियें। जो इस सर्वकामद सिद्धार्थ-प्रासाद को बनाता है अथवा बनवाता है, वह सफल मनोरथ प्राप्त करने वाला होता है और शिवलोक मे शाश्वतिक गति को प्राप्त करता है॥ ३२७½---३४३ ॥

शङ्ख-वर्धन —अब इसके बाद सर्व-पाप-विघातक शङ्ख-वर्धन का वर्णन करता हू। यह प्रासाद सब देवो का निवास है और सब राजाओ का प्रिय होता है। चौकोर क्षेत्र जो गर्भ-कर्णादि से शोधित है, उसके पीछे सब कोनो मे लाञ्छित वर्तुल का निर्माण करना चाहिये। विस्तार के आधे मे गर्भ का निवेश कहा गया है और बाकी से अन्य निर्मिति। बीस भागो से विभाजित उस क्षेत्र मे ऊर्ध्व दुगुना बनवाना चाहिये। तुलोदय आठ भाग वाला और मञ्जरी बारह अश वाली, कुम्भक और कलश तथा कपोताली दो भागो से बनानी चाहिये। पाच भाग की ऊची जघा और इस के मध्य मे ग्रास-पट्टिका, मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से बनवाना चाहिये। आधे भाग से शख-आवर्तक-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। शखावर्तक कूटो को अपने के विस्तार से बनाना चाहिये। शत-वास्तु से विभक्त इस प्रासाद मे मानानुसार स्कन्ध और ग्रीवा आधे भाग से ऊची बनाना चाहिये। शिखर के साथ चन्द्रिका डेढ पद मे उन्नत बनानी चाहिये। शखवर्धन प्रासाद मे कलश की ऊचाई दो पद वाली करनी चाहिये। गर्भ का आच्छादन शखावर्त-वितानक नाम मे बनाना चाहिये। इस प्रकार से जो व्यक्ति इस शखवर्धन-नामक प्रासाद को बनाता है, वह बहुत समय तक पृथ्वी का भोग करता है और हाथ जोडे हुए लक्ष्मी इसके वश मे आ जाती है॥ ३४४—३५३½॥

त्रैलोक्य-भूषण—देवो के द्वारा भी वन्दित त्रैलोक्य-भूषण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। यह प्रासाद सब देवो का आश्रय और पाप का विनाश करने वाला होता है। अब इसके ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रभेदो का वर्णन किया जाता है। कनिष्ठ तीस हाथ वाला, मध्यम तैंतालिस हाथ का और उत्कृष्ट ५० हस्त सख्या का बताया गया है। तीस भागो मे विभक्त चौकोर और बराबर क्षेत्र मे दस भाग लम्बा गर्भ तथा चौदह भाग वाला कद होता है। एक भाग मे निकली हुई छै पदवाली शाला बनानी चाहिये। चन्द्र-कर्ण चार पद वाला और इसका भद्र दो भाग वाला। शृग के मध्य मे तथा अन्त मे पट्टदारु का निवेश करना चाहिये। दूसरी बाहर की दीवाल दो भाग वाली दो अश मे सुन्दर बनानी चाहिये। दो कर्ण-शृग चार पद के विस्तार से बनाने चाहियें। १२ अश के प्रमाण से शाला और उस का निर्गम तीन पद से। पूर्व-कर्ण-शृग आठ भागो से यथा

शास्त्र-विनिर्मय है तथा अन्य विच्छत्ति यथा-विनिष्क्रान्त चार पद वाला होता है। उस का भद्र दो पद का और निर्गम भी दो पद का होता है। दोनो शृंगो के मध्य मे आधे पद से पक्ष-भद्रक निर्माण करना चाहिये। आधे पद से सलिलान्तर और प्रक्षेप पद सम्मित बताया गया है। अब ६० भाग से उन्नत ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हू। प्रथम विन्यास तुगोदय है, पुन. मञ्जरिया जो यथाभाग निर्मेय है। तुगोदय के मध्य म तो वेदी पाच पद से उन्नत होती है। उस के आगे मे कुम्भक और उसी के समान कलश-मेखला। ग्यारह पद वाली जघा और तीन पद वाला हीरक। दो भागो से मेखला और उसी के समान तारका-सहित दुसरी भी मेखला। तल-पद के ऊपार से १६ पदो मे राजसेन और आधे डेढ भाग से और दो भाग से वेदिका बनानी चाहिये। पद के आधे भाग से आसन और डेढ पद से चन्द्रावलोकन। ७ पद वाला स्तम्भ लम्बा विहित है और साढे तीन से हीरक। डेढ पद लम्बा शीर्ष और पक्ष तो दो पदवाला होता है। छाद्य तीन पद वाला तथा लम्बित एक पद वाला। छेद-हारा तो दो पद वाली और पदिकायें दो अश की है। उसके ऊपर द्राविड-कर्म-विभूषिता मञ्जरी बनाना चाहिये। घण्टा, कलश और अण्डक सहित कोण-कूट को सात भाग से उन्नत करना चाहिये। दूसरी भूमिका उसी प्रमाण से बनवाना चाहिये। कर्ण मे कर्ण को लेकर छै पद बनवाने चाहिये। आठ आठ तथा छै छे के चार जोडे—इस प्रकार से कर्ण के अण्डक की समस्त सख्या ५० बताई गई है। द्वादश अश का विस्तार और नौ भाग की ऊचाई होनी चाहिये। प्रथम कर्म मे द्राविड-क्रिया की आभा से युक्त आठो अण्डक ऊचाई और विस्तार से दस भाग से समभना चाहिये। दूसरा कर्म-विभूषित भद्र-क्रम तो समझना चाहिये—मूल-मञ्जरी का विस्तार २२ अश के प्रमाण से और २३ अश की ऊचाई समझनी चाहिये। स्वन्ध १३, दो पद की ऊचाई से ग्रीवा और तीन पद की ऊचाई मे अण्डक होता है। कर्पर दो पद वाला, चार भाग से कलश की ऊचाई। इस प्रासाद मे १२ उरो-मञ्जरियें बनाई गयी हैं। अण्डको की सख्या ७३ से अधिक प्रमाण वाली समझनी चाहिये। इस प्रकार से देवो का आनन्द करने वाला इस त्रैलोक्य-भूषण-नामक प्रासाद का निर्माण करके वह मनुष्य इस देवालय मे कल्पान्त तक रहता है॥ ३५३½—३७८॥

पद्मक :—अब भगवान् अश्विनी-कुमार का प्रिय पद्मक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। सात भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र के मध्य मे तीन भागो को छोड कर कोनों मे दो लान्छित करने चाहियें। दो २ आठ भाग सम्मुख तथा पीछे भी १६ के विस्तार में आधे से गर्भ बनाना चाहिये और उसी के समान बाहर का भाग। अब पद्माख्य प्रासाद का क्रमश ऊर्ध्व मान वर्णन करता हू। यह विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला २० भागो मे विभाजित होता है। इस प्रासाद मे वेदी, जघा, माला, मञ्जरी, ग्रीवा अण्डक और कलश शख-वर्धन-प्रासाद के समान बनाना चाहिये। जो व्यक्ति इस अश्विनी-कुमार-वल्लभ-पद्माख्य प्रासाद को बनवाता है, वह पाप-पक-महोदधि से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है। ३७९—३८४½॥

पक्ष बाहु—कुल-नन्दन पक्ष-बाहु-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। यह सब रोगो को हरने वाला तथा सब लोगो का पुण्य और कल्याण करने वाला होता है। १२ अश से विभाजित चौकोर क्षेत्र मे आठ भाग का लम्बा कर्म बनाना चाहिये। दो भाग मे दीवाल। दो पद से कर्म और आधे भाग मे सलिलान्तर बनवाना चाहिय। प्रत्यङ्ग डेढ भाग से चार पद वाली शाला, दोनो के भाग से आधे आधे भाग से अलग अलग निकास होना चाहिये। दोनो पक्षो के विस्तार से आठ भाग वाली बाहे बनवानी चाहियें। उन दोनों का गर्भ चार पद वाला तथा भित्ति का विस्तार दो पद वाला। चार भाग का भद्र और दो भाग का कोण विहित है। अब २४ भाग वाले ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हू। तीन पद से वेदिका बन्ध और पाच पद की ऊंचाई से जघा। कलश दो भागो से और चन्द्रिका और अण्डक भी दो भागो से बनाना चाहिय। मध्य मे तो पार्श्वों म घटावद्ध-मञ्जरी बनानी चाहिये। कर्म भूपित तीन गर्भ वाले इस पक्षबाहु-नामक प्रासाद का जो निर्माण कराता है, वह त्रिनेत्र-प्रताप वाला तुरग-व्रात-नायक होता है॥ ३८४½—३९२½॥

विशाल :—विशाल गुणो से अन्वित अब विशाल-प्रासाद का वर्णन करता हू। यह प्रासाद भी कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिक का प्रिय एव गण-विप्रो मे पूजित होता है। दश पद का क्षेत्र बनाना चाहिये। मध्य-मञ्जरी छै भाग वाली, दीवालें एक भाग वाली, और उसी प्रकार भ्रमन्तिया भी। जल-मार्ग से युक्त कर्ण दो २ भाग से बनाना चाहिये। आधे भाग से विनिर्गत एव भाग से तिलक बनाना चाहिय। और इसकी लम्बाई और इसका निकास इन

दोनो मे चार भाग वाली चतुष्किका, चतुर्द्वार वाला मध्य गर्भ चार पद वाला बनाया जाता है। विस्तार से दुगुना ऊचा ऊर्ध्व मान विहित है। डेढ भाग के प्रमाण से वेदिका-बन्ध का निर्माण करना चाहिये। माला और अन्तरपत्र को एक भाग से बनाना चाहिये। कलश और अण्डक से युक्त ढाई भाग का शृग, उसका आधा दूसरा शृग उसी प्रमाण से बनाया जाता है। षड् भाग से विस्तृत जघा-मञ्जरी सात भाग से। उसके विस्तार के अश मे छै से स्कन्ध का विस्तार। ग्रीवा की तो ऊचाई आधे पद से बनानी चाहिये। अण्डक की ऊचाई एक भाग से, आधे भाग से चन्द्रिका। सममूल, सुशोभन, कलश का निर्गम दो पद से करना चाहिये। इस प्रकार से १७ अण्डको वाला इस विशाल-नामक प्रासाद को जो बनवाता है, वह इस लोक मे नागाधिप बन जाता है और वह बहुत मनोरथों को प्राप्त करता है, और शरीरान्त मे उत्तम पद को प्राप्त करता है ॥ ३६२½—४०२½॥

कमलोद्भव :—सिद्ध-गन्धर्व-सहित स्कन्ध से व्यवस्थित लक्ष्मी-प्रिय कमलोद्भव-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हू। दिशाओ और विदिशाओं मे भूमि पर सम तथा चौकोर क्षेत्र बनाकर वृत्त का समालेख करके ३२ भागो मे उसे विभाजित करना चाहिये। फिर एक २ दल-पट्टिका का दो २ भागो से निर्माण करना चाहिये। कमल-सदृश आकार वाले कर्ण को १६ भागो से विभाजित कर बनाना चाहिये। पाच भागो से विभाजित सीमा मे तीन भागो से गर्भ होता है। नीचे उसका पद्म-पीठ आसन प्रकल्पित करना चाहिये। २० भागो से विभाजित करते हुए ऊर्ध्व दुगुना करके एक भाग से तुलोदय और १२ अश से मञ्जरी बनाना चाहिये। जिस प्रकार से शख-वर्धन मे निर्माण होता है, उसी प्रकार वहा वेदी, जघा और माला बनानी चाहिये। उसके ऊपर पद्म-कूट आदि पद्म-पत्र के समान ऊचे बनाना चाहिये। ऊपर एक २ पद से हीन पाच भूमिकायें बनानी चाहियें। उनकी वेदिका विकसित शतपत्र (कमल) के समान बनाना चाहिये। पादोन-भाग से ग्रीवा और सवाये भाग से अण्डक और विकसित कमल के आकार की एक भाग से चन्द्रिका बनानी चाहिय। पल्लव-सहित, कमल-सहित दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस कमलोद्भव के बनाने से आरोग्य प्राप्त होता है, आयु, लक्ष्मी, वृद्धि और पुत्र आदि सख्या से प्राप्त होते हैं ॥ ४०२½—४११॥

हंस-ध्वज :—हंस-क्रीडा-विभूषित सुरसमूह-सेवित ब्रह्म-प्रिय हंस-ध्वज-

दो पद वाले वे दश शृग तीनो दिशाओं मे होते है और छै (६) शुभ शालायें तीनो ही दिशाओं मे बनानी चाहियें। दो भाग से निकली हुई चतुर्भाग वाली माला दक्षिण मे होती है। इस प्रकार का यह उद्दिष्ट तलच्छद-नामक मण्डप सामने होता है। विस्तार से दुगुनी लम्बाई और ऊचाई इस प्रासाद की होती है। १३ भाग के प्रमाण से तुलोदय होता है। ऊपर अर्थात् ऊर्ध्व बीस पद वाला तथा तीन पद वाला वेदी बन्ध। उत्सेध से छै (६) पद वाली जघा और एक भाग मे भरण होता है। तीन भागो मे दो मेखलायें तथा शृग और कलश बनाये जाते हैं। ऊचाई से चार पद वाला सिह-कर्ण बनाया जाता है। तीनो दिशाओ म दश शृग और एक घटा बनानी चाहिये। १४ अश के विस्तार वाली . (?) मूल-मन्जरी होती है। ऊर्ध्व मे सत्रह (१७) अश वाली और ग्रीवा की ऊचाई दो पद वाली होती है। दो पद से अण्डक और एक भाग से कर्ण बनाना चाहिये तथा शिखर पर तीन पद वाला सुमनोरम कलश स्थापित करना चाहिये; लक्ष्मीधर-नामक इस प्रासाद को जो इस वसुधा-तल पर बनाता है, वह अक्षय पद वाले तत्व मे लीन होता है—इसमे कोई सशय नही। ४२६—४३७ ॥

महावज्र —अब शुभदन्तथा मृत्यु और पाप को हरने वाले महावज्र-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। इस प्रासाद के बनवाने पर महाराज सुरेद्र इन्द्र परितुष्ट होते है। (ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ प्रभेदो मे) कनिष्ठ आठ हाथो के प्रमाण मे, मध्य १२ हाथो के प्रमाण से और उत्तम १६ हस्त सख्या के प्रमाण मे बताया गया है। अपने विस्तार के सूत्र से वर्तुल आकृति मे क्षेत्र का आलेखन सम्पादन कर के, कोनो मे लाञ्छित करके ३६ भागो मे विभाजित करना चाहिये। इस प्रासाद मे १२ दो पद वाली कर्णिकायें बनानी चाहियें। दो कर्णिकाओ के मध्य भाग मे वर्तुल स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये। ऊपर के प्रमाण मे दो भागो म कमल की आकृति बनानी चाहिये और नीचे मेखला की आकृति भी कमल-सदृश विहित है। उनमे फिर कूट निर्माण करने चाहियें। कर्णिका के ऊपर सुन्दर आलेख बनाना चाहिये। पाच भूमिया बनानी चाहियें। विस्तार मे चार पद वाला और आधे भाग की ऊचाई वाला कर्ण-सहित मण्डप का निर्माण डेढ़ भाग से करना चाहिये। पल्लव-सहित शृग-कर्णों मे सुशोभित कलश का निर्माण दो भागो से होता है। इस प्रकार पुर-भूषण इस

महावज्र-नामक प्रसाद का जो निर्माण करता है, वह दम्पति-सहित तुष्ट हो कर अप्सराओं के गणों के साथ रमण करता है ॥ ४३८—४४६ ॥

रति-देह :—अब सुमनोरम रतिदेह—नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। यह प्रासाद अप्सराओं एव गणों से सकीर्ण और कामदेव का मन्दिर कहलाता है। समान भाग वाले, समान लम्बाई वाले आठ भागो मे विभाजित क्षेत्र मे सलिलान्तर-समन्वित कर्ण-कूट दो पद वाला होता है। अलिन्द के चारो भाग विस्तार और आयाम मे बराबर होते है। एक भाग से बाहर की दीवार और शेष भागो से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। मध्य मे चतुष्किका बनानी चाहिये, जहा मनोरम खम्भे शोभित हो रहे है। यह खम्भे पल्लवो और नाग-बन्धो तथा शाल-भञ्जिकाओ से युक्त बनाये जाने चाहियें। वहा पर मकर के मुख से निकली हुई लेलिका बनानी चाहिये। बाहर के चार अलिन्द होते है। वहा पर स्तम्भो की सुषमा भी विहित है। पहिला भरण कर्म-युक्ति-सुशोभित बनाना चाहिये। बाहर के अलिन्द से रहित दूसरा भवन (भूमिका) बनानी चाहिये। तीसरे भवन अर्थात् भूमिका मे चार स्तम्भ वाली चतुष्किका बनानी चाहिये। खेलिका-तोरणो के न्यास से सुन्दर वरानक बनाने चाहियें। स्तम्भो के कूटो को पूर्व से और सिह-कर्णो को मध्य से निर्माण करना चाहिये। क्रमश एक २ भाग की ऊचाई से मत्तवारणो का निर्माण करना चाहिये। ये शुभ अन्तरपत्रो से सयुक्त तीन २ सख्या मे बनाने चाहियें। और घटा एक भाग से ऊर्ध्व मे अमलसारक वाली बनानी चाहिये। चन्द्रिका एक भाग से और दो भागो से कलश की ऊंचाई बनानी चाहिये। इस प्रकार का जो रति-वल्लभ प्रासाद को बनाता है, वह काम-देव को सन्तुष्ट करता है, और मनुष्यो मे पुण्यभागी बनता है ॥ ४४७— ४५८½ ॥

सिद्धि-काम :—अब प्रमथ-गणो से सुशोभित सिद्धिकाम-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। इस प्रासाद के बनवाने पर मनुष्य धन, पुत्र और कलत्र को प्राप्त करता है। चार भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे दो भागो मे गर्भ और एक भाग से सुशोभित दीवार बनवाना चाहिये। एक भाग से निकला हुआ दो भाग के विस्तार से भद्र बनाना चाहिये। विद्वान् प्रत्येक दिशा मे एक भाग से कर्ण बनावें। छै (६) भागो मे विभाजित इसका ऊर्ध्व दुगुना बनाना चाहिये। एक भाग मे वेदिका-बन्ध और डेढ़ पद मे उसका जघा होती है। मेखला और अन्तरपत्र एक पाद मे तीन पद वाले माने गये हैं। पादोन-

पदपञ्चक उठी हुई जंघा विहित है। तीन भागों से विस्तृत और भाग के एक पाद से उठी हुई ग्रीवा बनानी चाहिये। आधे पद से अण्डक और पद के एक पाद चण्डिका (?) बताई गयी है। आधे भाग से कलश की ऊंचाई बराबर मानी गयी है। अन्य दूसरी भूमिका भी यथाशास्त्र विहित है। इस सर्वपाप-विमोचन सिद्धिकाम नामक प्रासाद को जो निर्माण करता है, उस व्यक्ति के मन में स्थित सभी मनोरथ सिद्ध होते है ॥ ४५८½—४६६½ ॥

पञ्च-चामर :—अब पञ्च-चामर-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। जो व्यक्ति इसको भक्ति से बनवाता है, वह चिरकाल तक स्वर्ग में आनन्द लेता है। बारह भागों से विभक्त समन्तात् चौकोर क्षेत्र में चार भाग वाला गर्भ और एक भाग से दीवाल बनानी चाहिये। अधकारिका तो दो भागों से और बाहर की दीवाल एक भाग से बनानी चाहिये और तीन भागों से विनिष्क्रान्त। फिर उनमें चतुष्किकायें बनवानी चाहियें। घटा तथा अण्डक से युक्त ऊर्ध्व-मान दुगुना कहा गया है। दस भाग के प्रमाण से तुलोदय का विधान करना चाहिये। तीन पद वाला वेदिका बन्ध और जंघा छै अंश की। मेखला और अन्तरपत्र एक २ भाग से बनवाने चाहियें। ऊपर का शृंग कलश एवं अण्डक से शोभ्य है। बीस शिखर सब मण्डपों से सभिन्न बनाये जाने चाहियें। शृंग के नीचे मनोहर मल्लच्छाद्य का निर्माण करना चाहिये और इसी प्रकार सब चतुष्कों में मल्लच्छाद्य बनवाये जाने चाहियें। पांच छाद्यकों से मध्य में प्रासाद-नायक बनाना चाहिये। घटिकाओं की ऊंचाई सवाये पद से इष्ट होती है। घटा की डेढ भाग से और ग्रीवा की उससे एक पद अधिक (अर्थात दो पद की ऊंचाई मानी जाती है)। अमलसारी तो यथा-शास्त्र मानानुकूल विहित है। कलश बीजपूरक-समन्वित दो पदों से बनाना चाहिये। इस प्रकार पंचघटावृत इस पंचचामर-नामक विमान को बनाकर मनुष्य सभी लोकों का आधिराज्य प्राप्त करता है ॥ ४६६½—४७६ ॥

नन्दिघोष—विपक्षों के भय को नाश करने वाले अब इस नन्दिघोष-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। जो इस प्रासाद को भक्ति-पूर्वक बनाता है, वह अजर-अमर हो जाता है। चार भागों में विभाजित बराबर और चौकोर क्षेत्र में एक भाग-विनीत दो भाग से विस्तृत भद्र का निर्माण करना चाहिये। इस प्रासाद में किसी भी दिशा में दीवाल का निर्माण नहीं करना चाहिये। राजसेन, वेदी और चन्द्रावलोकन तो बनाना चाहिये। चार भागों को छोड़कर सभी

दिशाओ मे यही नम है। पहिली भूमिका मे विस्तार और ऊचाई समान बनानी चाहिये। और आगे कहे विभागो से अन्य निर्माण अभिप्रेत हैं। एक भाग से राजसेन, दो भागो से वेदी, एक भाग से चन्द्रावलोकन और आधे से आसन-पट्टक होते हैं। स्तम्भ की ऊचाई तीन भागो से फिर एक भाग से शीर्षक का निर्माण करना चाहिये। पट्ट की उचाई एक भाग से और वहा पर चौबीस (२४) खभे नाना-सघ-विभिन्न पल्लवो एव मनोज्ञ विच्छित्तियो से शोभ्य हो। सोलह स्तम्भो से युक्त दूसरी भूमिका बनानी चाहिये और इसी प्रकार दूसरी भूमिका मे भी कर्म का विधान है। तीसरी भूमिका मे चतुष्किका चार स्तम्भो से युक्त होती है। जो व्यक्ति इस नन्दि-घोष प्रासाद का निर्माण करता है, वह कर्म-बधन वाले इस शरीर को त्याग कर परम पद को प्राप्त होता है ॥ ४७७—४८६½ ॥

मनूत्कीर्ण (मानकीर्ण) —अब महान् अद्भुत मनूत्कीर्ण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। जिसको पहिले पहल स्वयभू ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि मे सोच कर बहुत अच्छी तरह से बनवाया था। छै (६) भाग से विस्तृत क्षेत्र मे चार भागो म गर्भ का निर्माण करना चाहिये। मध्य मे वृत्त-विधान है, पुन नौ वृत्त-मालिका विहित है और आठ रथिकायें क्षेत्र की दिशाओ और विदिशाओ मे बनानी चाहियें। द्विपदयान्वित, द्विगुण ऊर्ध्व-मान का अब वर्णन करता हू। तुलोदय मे ऊपर साढे आठ भाग बनाने चाहियें और वहा पर सुशोभन वेदी-बन्ध का निर्माण डेढ भाग मे करना चाहिये। और फिर जघा की ऊचाई ढाई भाग मे बनानी चाहिये। आधे भाग से कणिका से युक्त मनोज्ञ हीरक का निर्माण करना चाहिये। मेखला और अन्तरन्पत्र एक भाग से बनवाना चाहिये। फिर शृग की ऊचाई ढाई भाग के प्रमाण मे बनानी चाहिये। सब मध्य मे सब शृगो के मस्तक पर वृत्त का अनन करना चाहिये। यह छै भाग मे विस्तृत और छै (६) भाग मे उन्नत विहित है। जो मात्रा बतायी गयी है, उसी मे मञ्जरी बनवानी चाहिये। त्रिभौम अथवा पचभौम यह प्रासाद विचित्र बनवावे। एक भाग के पद के विस्तार से दो पद लम्बी ग्रीवा बनानी चाहिये। पाद हीन एक पद मे अण्डक बनाना चाहिये। भाग के एक पाद से चन्द्रिका, पाद कम एक पद से कलश बनाने चाहियें। जो व्यक्ति इस मनूत्कीर्ण-नामक को मन से भी बनवाता है, वह भगवान् शिव के भवन (कैलाश) मे जा कर गाणपत्य (गणाधिपत्य) प्राप्त करता है ॥ ४८६½—४६७½ ॥

सुप्रभ—अब सुप्रभ नाम के प्रासाद का वर्णन करता हू। इस प्रासाद को बनाकर जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा से दूसरे की प्रभा को क्षीण कर देता है, उसी

प्रकार से यह प्रासाद भी अन्य प्रासादो की प्रभा को क्षीण कर देता है। बारह अ शो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे चार पद से गर्भ बनाना चाहिये। विस्तार और लम्बाई समान। प्रासाद का आधा कद और कद-भद्र दो पद वाला होता है। दो पद वाली भ्रमन्ती चारो दिशाओ मे शोभित होनी चाहिये। बाहर की दीवाल (पदिका) कर्ण के विस्तार से दो पद वाली बनाना चाहिये। चार पद से मध्य भद्र और विनिष्क्रन्त तीन पदो से बनाना चाहिये। इसका अन्य भी तथैव विहित है। और चतुष्किका तो दो पद वाली कही गयी है। विद्वान् को शाला के पार्श्व मे दो अति-भद्र बनाने चाहियें। उन दोनो के एक पाद से दोनो पार्श्वों पर निवास रखना चाहिये। पार्श्व-भद्र और कर्ण के अन्तराल मे दो पदिकाओ का न्यास करना चाहिय। गवाक्षो से विचित्रित करना चाहिये, जिस से मध्य मे प्रकाश आ जा सके। इसी क्रम से समस्त दिशाओ मे कार्य करना चाहिये। प्रासाद के भाग की विधि से सामने मडप बनाना चाहिये और चारों दिशाओ मे क्रमश मञ्जरी बनानी चाहिये। जहा तक अन्य प्रथम निवेश—जघादि है—वे भी तथैव विहित है। मूल विस्तार से द्विकलाधिक (दुगुनी) ऊचाई होती है। तुलोदय दश पद वाला और मञ्जरी सोलह अश वाली होती है। वेदी-बध की ऊचाई ढाई भाग के प्रमाण से बतायी गयी है। पाच भागो- से उठी हुई जघा और एक से उठा हुआ हीर बनाना चाहिये तथा मेखला अन्तरपत्र डेढ भाग से बनाना चाहिये। कर्ण-शृग की ऊचाई कलश के अन्त तक तीन भाग की। दिङ्मञ्जरी तो विस्तार से चार पद वाली बनानी चाहिये। उदय के प्रमाण से पाच भाग बनाने चाहियें। पद के एक पाद से ग्रीवा और कलश आधे पाद से होता है। मूल-मञ्जरी का विस्तार दश भागो से करना चाहिये। यथा-शास्त्र तीन भागो से उत्सेध विहित है। पादोन-भागिका ग्रीवा निर्मेय है। डेढ भाग से अडक और कलश की ऊचाई दो पद वाली बतायी गयी है। मूल-स्कन्धादि भी, तथैव निर्मेय हैं। मूल-मञ्जरा का विस्तार दश भाग का होता है। इस प्रकार से नव-अडक वाला यह शुभ-लक्षण-नामक प्रासाद सम्पन्न होता है। जो व्यक्ति भक्ति से इस सुप्रभ-नामक प्रासाद का निर्माण करता है, वह दिव्य तेज वाला देह के त्यागने पर मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ४६७½—५१४½ ॥

सुरानन्द—अब अति सुन्दर सुरानन्द-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। चौकोर तथा बराबर क्षेत्र का दश भागो मे विभाजित करके छै भागो

से गर्भ का विस्तार और दो भाग मे भित्ति-विस्तार ... ...। भागार्ध-प्रमाण से जलाश्रय (सलिलान्तर) का निर्माण करना चाहिये। प्रत्यङ्ग-स्थानक अन्य विधान भी विहित हैं। चारो दिशाओ मे तीन पदो से शुभ-रूप शालायें निर्माण करनी चाहियें। शाला के दोनो पार्श्वों पर आधे पद मे जल-मार्ग बनाना चाहिये और उनका परस्पर निवास तो एक एक भाग से बनाना चाहिये। ऊर्ध्वमान विस्तार मे दुगुना विद्वानो के द्वारा बताया जाता है। गर्भच्छाद्य आठ पदो से द्वादश-भाग मञ्जरी तथा वास्तु-विस्तार पद से वेदी-बंध बनाया जाता है। ऊपर से फिर चार पद वाली जघा और आधे भाग से ग्राम-पट्टिका बतायी जाती है। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत बनाने चाहियें। कोने पुन द्राविडी शैली के कूटो से शोभ्य हैं। गोल गोल खम्भे वाराटी शैली मे निर्मेय है। मध्याङ्गण-तोरणो की संख्या २४ बताई गई है। छै पद का स्कन्ध-विस्तार और एक पद की ग्रीवा समझनी चाहिये। शिर (शिखर अथवा शृग) डेढ़ पद से और एक भाग मे चन्द्रिका समझनी चाहिये। पल्लव-भूषित कलश दो अश की ऊचाई का बनवाना चाहिये। जो व्यक्ति इस सुरानन्द-नामक प्रासाद को बनवाता है, उसके लिये मातायें (देवियां आदि) वरदा होती हैं, और देवता लोग उसके अनिस्तार्य अपमृत्यु का हरण करते हैं॥ ५१८½—५२४½॥

हर्ष :—सर्व-लोक-प्रहर्षक अब हर्षण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। इस प्रासाद मे लक्ष्मी जी नित्य निवास करती हैं। यह विश्वकर्मा का स्थान है। १८ पदो के द्वारा विभक्त चौकोर क्षेत्र मे प्रत्येक कोने मे तीन २ भागो से कर्णों का विधान करना चाहिये। एक भाग से निर्गत दो पद वाला कर्ण-भद्र बनाना चाहिये। लम्बाई और चौड़ाई मे समान जल-मार्ग को एक पद के प्रमाण से बनाना चाहिय। इसका प्रत्यग दो पदो मे निर्गत तीन भाग वाला होता है। तथा प्रत्यग मे वेदी और चन्द्रावलोकन मे धर्म कल्पित करना चाहिये। मध्य-भाग चार पद वाला तथा इसका भद्रक दो पद वाला और एक भाग से विनिर्गत विचक्षण बनावें। अपने अनुरूप दो भाग वाली वलभियां चारो दिशाओं मे होनी चाहियें। वलभियों के चार भागो से गर्भ बनाया जाता है। बाहर की दीवाल दो पद वाली और भ्रमन्तिका भी दो पद वाली। स्वन्य १० भागो से घोर गर्भ ३६ पदो मे बनाना चाहिय। इसका ऊर्ध्व-प्रमाण ४० पदो से माना गया है। १६ भागो से उसका शुभ छादन बनाया जाना चाहिये।

५ पद वाला वेदी-बन्ध और आठ पद वाली जघा होती है। विद्वान् को शाला और अन्तरपत्र को तीन भाग से बनाना चाहिये। ऊपर का अन्तरपत्र यथा-क्रम बनाना चाहिये। वलभी-सवृति ( ) विद्वानो को ऊचाई से पाच भाग वाली बनाना चाहिये। शृगो एव सिहु-कर्णों के साथ २ एक भाग की ऊचाई से वर्धमान से तीन पद वाली कर्ण-मञ्जरी बनाना चाहिये। तीन पदो से ऊर्ध्व और एक भाग से कलशाण्डक होता है। विस्तार से १६ पद वाली मूल-मञ्जरी बनाना चाहिये। बीस भाग का ऊर्ध्व ६ पद लम्बा स्कन्ध बनाना चाहिये। डेढ पद से ग्रीवा बनानी चाहिये। फिर उसके बाद दो पद से अण्डक। चन्द्रिका एक भाग से फिर कलश तीन पद से बनाया जाता है। जिस देश मे यह हर्षण-नामक प्रासाद बनाया जाता है, वहा सुख की वृद्धि होती है। गौओ एव ब्राह्मणो के कल्याण के साथ २ राजा सफल-मनोरथ होता है। ॥ ५२४½—५३८ ॥

दुर्धर :—अब शुभ-लक्षण दुर्धर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। २४ भागो मे विभाजित बराबर चौकोर क्षेत्र म षड्पद-कर्ण विहित है तथा प्रतिरथ भी। आठ पदो वाली शाला बनानी चाहिये और उसका निर्गम चार पदो से। सब तरफ से कर्ण-शोभित वह दो पद से विनिष्क्रान्त होता है। बाहर की भित्ति दो पद वाली और अन्धकारिका चार पद वाली। कन्द-भित्ति तो दो पद वाली तथा गर्भ आठ पद की लम्बाई से। कन्द की शाला छै पद से तथा कन्द के कर्ण तीन पद से होते हैं। ऊर्ध्व-प्रमाण विस्तार से दो पद अधिक दुगुना होता है। तुला की ऊचाई बीस अश विहित है, पुन शिखर तीस पदो से। कुम्भ ढाई भाग वाला और कलश एक भाग से ऊचा बनाया जाता है। आधे भाग से अन्तरपत्र, एक भाग से मेखला। दस भाग की ऊचाइ से जघा और एक भाग का हीरक होता है। फिर चार भागो से दो मेखलायें बनानी चाहियें। ऊर्ध्व-पट्ट के नीच और तल-पट्ट के ऊपर इन दोनो का अन्तर १६ भागो से बनाना चाहिये। दो पद वाला वेदिका-बन्ध और चार पद से वेदी बनाना चाहिय। तथा आसन एक ही भाग से और स्तम्भ पाच पदो से होता है। एक भाग से भरण और शीर्षक एक भाग की ऊचाई से बनाया जाता है। पट्ट दो भाग की ऊचाई मे तथा छाद्य तीन पद की लम्बाई से। इस प्रासाद मे १२ कर्ण-शृग चारो दिशाओं मे होते हैं। ग्रीवा मानानुकूल विहित है तथा शृग की ऊंचाई तीन पद से। सात भाग से ऊची छै पद वाली कर्ण-मञ्जरिया बनाई जाती

हैं। ग्रीवा आधे भाग से और अण्डक की ऊंचाई एक भाग से। पुन पदत्रयोन्नता सिंह-कर्ण-समन्विता पदिका विहित है। मध्य के भद्र में उसकी ऊंचाई विस्तार के आधे भाग से होती है। मूल-मञ्जरी का विस्तार सोलह पदों से होता है। और उसकी ऊंचाइ अठारह पदों में होती है। ग्रीवा डेढ़ पद की ऊंचाई से बनाई जाती हैं। अण्डक दो पद वाला बनाना चाहिये तथा चन्द्रिका एक पद से ऊंची। सर्व-लक्षण-युक्त कलश तीन पद वाला समझना चाहिये। सतरह अण्डकों से यह प्रासाद दुर्धर होता है। जो व्यक्ति इस दुर्धर प्रासाद को बनवाता है, वह भर्ग (भगवान् शिव) से भक्ति प्राप्त करता है, और निधनोपरान्त शिव-सायुज्य प्राप्त करता हैं॥ ५३६—५५५॥

दुर्जयः—अब शत्रु-मर्दन दुर्जय-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू, जिसको बनाकर मनुष्य दुर्जय हो जाता है और पृथ्वी पर क्रीडा करता हैं। पाच भागों में विभक्त चौकोर क्षेत्र मे नौ पद वाला गर्भ और सोलह भाग वाली भित्ति बनाना चाहिये। एक भाग से कर्ण-रथिका और दो भागों से मध्य में एक रथ। एक भाग से उसका निर्गम। यही विधान चारो दिशाओ मे करना चाहिये। भद्र और कर्ण के अन्तर में एक-पदाधिक जल-मार्ग बनाना चाहिये। ऊर्ध्व-मान तो दस भाग वाला बनाना चाहिये। वेदी-बन्ध पाद-सहित दो जघा-प्रशों से, एव पाद-संयुति से निर्मेय है। मेखला और अन्तर-पत्र तो आधे पद से प्रकल्पित करने चाहियें। शिखर शिखरों के साथ छै भाग से ऊंचा होता है। स्कन्ध-विस्तार तीन पद से, रेखा पद्म-दल की आकृति वाली। पाच भूमिया क्रमश उत्तरोत्तर न्यून बनानी चाहियें। पहिली भूमिका डेढ भाग से, दूसरी क्रमश पद के एक पाद से न्यून बनानी चाहिये। स्कन्ध पाद कम एक भाग से तथा ग्रीवा आधे पद से, अण्डक तो एक भाग से और कर्पर आधे भाग से बनाना चाहिये। सुशोभन समवृत्त कलश एक भाग की ऊंचाई से बनाया जाता है। वहा पर न तो दुर्भिक्ष पड़ता है और न व्याधि का भय होता है॥ ५५६—५६५½॥

त्रिकूट —ब्रह्मा आदि तीन देवों से सेवित, त्रिकूट-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हू, जिसके निर्माण करने से हजार यज्ञ का फल और मोक्ष प्राप्त होता है। तुल्य-त्रिभुज-इष्ट-प्रमाण से क्षेत्र का निर्माण करके फिर एक एक बाहु चार पदों से विभाजित करना चाहिये। दो भाग से मध्यम भद्र और एक भाग की कर्ण-पट्टिका बनानी चाहिये। आधे से गर्भ और आधे से तीन दीवालें

विद्वान् को बनाना चाहियें। विस्तार को पाच भाग मे विभक्त कर ऊंचाई दुगुनी करनी चाहिये। वेदी बन्ध पाद-सहित एक भाग से ऊचा बनाना चाहिये। जघा पाद-सहित दो भागो से उसकी ऊचाई करनी चाहिये। मेखला और अन्तर पत्र आधे भाग से बनाना चाहिये। पाच भागो से विभाजित छै भाग मे मजरी बनाना चाहिये। पूर्वोक्त सरणि का अनुसरण करके चारो तरफ स्तम्भादि स्क धादि तथैव करना चाहिये। चौथाई भाग से ग्रीवा और आधे भाग से अण्डक बनाना चाहिये। चन्द्रिका एक भाग से और कलश एक भाग की ऊंचाई से बनाना चाहिये। ब्रह्मा, शिव और विशणु का प्रिय यह त्रिकूट प्रासाद जो बनवाता है, वह सिद्ध हो कर उनकी पुरी को जाता है—इसमे सशय नही॥ ५६५½—५७३½॥

नव-क्षेखर – अब नव-शेखर-नामक प्रासाद का वर्णन करूगा। उन्नीस पदो से चौकोर क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। चार पद वाले कर्ण बनाने चाहियें। उनके पद दो भाग वाले होते हैं। पदार्ध से उनके जल मार्ग विनिर्गत होते है। विचक्षणो के द्वारा अन्य इष्ट निर्मितिया तथैव प्रतिपाद्य है। रथक और चार मञ्जरिया तीन पद के प्रमाण से बनानी चाहियें। चार पद वाली दीवाल और ग्यारह अश वाला गर्भ होता है। चालीस पद से ऊपर समस्त स्कन्ध-पर्यन्त सोलह पदो से तुलोदय और चौबीस पदो से मजरी बनानी चाहिये। चतुष्पद वेदी-बन्ध, अष्टपदा जघा होती है। एक पाद से दो भरण और तीन अश वाली मेखला तथैव अन्तर पत्रक होते हैं। ऊचाई से पाच पद वाली मजरी बनवानी चाहिये। ग्रीवा आधे भाग से और एक भाग मे अण्डक होता है। ऊपर के एक भाग से चन्द्रिका और उसी प्रकार से कलश बनाये जाते हैं। अन्य निर्माण भी शास्त्र-समत हो। एक पाद ो ग्रीवा और सपादाश एक भाग से अण्डक। एक भाग मे चन्द्रिका और दो भाग से कलश की ऊंचाई होती है। मूल-मजरी का विस्तार पन्द्रह अश मे होना है। तथा सत्तरह अशो से उन्नत तथा नौ अशो से लम्बा स्कन्ध बनाया जाता है। आधे भाग से ग्रीवा और ढाई पद का अण्डक बनाया जाता है। डेढ भाग से करण्डिका और तीन पद मे कलश की उचाई। इस प्रकार इस शेखर-नामक प्रासाद को जो बनवाता है, वह नौ खण्डो से युक्त इस वसुन्धरा का भोग करता है। ॥५७३½—५८५½॥

पुण्डरीक —अब यशोवर्धन पुण्डरीक प्रासाद का वर्णन करता हू। इसके बनाने पर जब तक पृथ्वी स्थिर है तब तक कीर्ति स्थिर रहती है। पाच पदो से

बराबर चौकोर क्षेत्र को विभाजित करना चाहिये। तीन पद वाला गर्भ और एक भाग वाली उसकी भित्ति का निर्माण करना चाहिये। डेढ भाग विनिर्गत करना चाहिये। उसका भद्र तीन पद से बनाया जाता है। भद्रों में दिशाओं में चार वर्तुल रथिकायें बनानी चाहियें। रथिका का प्रमाण एक भाग है। यह मूल-च्छन्द बताया गया है। इसका ऊर्ध्व-मान दस भाग वाला दुगुना होता है। एक भाग से उच्छालक और आधे भाग से मगला। यहां पर वेदी-बन्ध नहीं करना चाहिये और जघा ढाई भाग वाली होती है। सान्तर पत्रका मेखला तो आध भाग से बनाई जाती है। मञ्जरी की ऊंचाई साढे पांच पदों से होती है। स्कन्ध विस्तार तीन पद वाला और ग्रीवा पादिका विहित है। आधे पद से अण्डक और भाग के एक पाद मे चन्द्रिका। शुभ-लक्षण कलश एक भाग की ऊंचाई वाला होता है। मूल-मञ्जरी के मध्य से भद्र मञ्जरी तीन पद वाली होती है। एक भाग से उठी ग्रीवा होती है। तीन भाग से अण्डक और एक भाग से उठा हुआ कलश बनाया जाता है। इस प्रकार पांच अण्ड वाला कल्याण वर्धक यह पुण्डरीक-नामक प्रासाद बनाना चाहिये ॥ ५८४ ½—५६४ ॥

सुनाभ —देवों और दानवों से वन्दित सुनाभ-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद राजाओं का प्रिय एवं उत्कृष्ट-लक्षण पुण्यदायक होता है। चतुर्भुज समक्षेत्र का सत्तरह पदों में विभाजन करना चाहिये। पांच भाग की लम्बाई वाले कोण और तीन पद से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दोनों कोणों के मध्य में सात भाग का अन्तर देना चाहिये। एक भाग के प्रवेश में और आध भाग के विस्तार से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। दो पदों से बाहर की दीवाल और तीन पद से भ्रमन्तिका बनाई जाती है। मध्य में पांच भाग लम्बा प्रासाद-नायक बनाया जाता है। उसका गर्भ तीन पद वाला और दीवाल एक भाग से बनाई जाती है। एक भाग से निर्गत तीन पद वाला वर्ण बनाया जाता है। पद के प्रमाण से चार कोणों का विनिवेश करना चाहिये। विभागों से जैसा रूप दिखाया जाता है वैसा ही होता है। समान मान निर्मित पांच गर्भ बनाने चाहिये। ग्रीवा और अण्डक रहित ऊर्ध्व मान दुगुना होता है। तीन पदों से वेदी-बन्ध और जघा मान पद वाली होती है। विद्वान को दो मसलायें तीन पद से बनवाना चाहियें। बाह्य छन्द के ऊपर से वर्ण मञ्जरी बनानी चाहिये। छै पद वाली कर्ण मञ्जरियां होती हैं और दो पद वाला कलश-अण्डक। मूल-मञ्जरी बारह भाग के विस्तार से बनाई जाती है।

और उसकी ऊंचाई तेरह पद की होती है। ग्रीवा एक भाग से उन्नत होती है। दो पद की ऊंचाई से अण्डक और एक भाग की ऊंचाई से चन्द्रिका बनाई जाती है। तथा तीन पद की ऊंचाई से शुभ-लक्षण वर्तुल कलश का निर्माण किया जाता है। जब तक पृथ्वी, समुद्र, शशि, दिवाकर, सूरगुरु और (बृहस्पति) तथा अन्य देवता लोग रहते है, तब तक इसका बनाने वाला स्वर्ग मे निवास करता है। ॥ ५९५—६०७½॥

महेन्द्र —पृथ्वी का भूषण, यक्ष, गन्धर्व तथा महाप्रभ फणीशो के द्वारा सेवित महेन्द्र-सञ्ज्ञक प्रासाद का अब वर्णन करेंगे। इस महेन्द्र प्रासाद को पन्द्रह भागो से विभाजित करना चाहिये। नौ भाग की लम्बाई वाला गर्भ और तीन भाग वाली दीवाल बनानी चाहिये। इसके विस्तार से तीन पद के प्रमाण से इसके विशेषज्ञो के द्वारा शाला विख्यात है। शाला के दोनो पार्श्वों पर विद्वानों को डेढ पद वाले दो रथ बनवाने चाहियें। रथ और शाला के अन्तर से ही सलिलान्तर का निर्माण कराना चाहिये। अन्य सलिलान्तर भी तथैव अन्य स्थानो पर विनिर्मेय हैं। कर्ण का मान दो पद वाला चारो कोणों पर करना चाहिये। इनके परस्पर विनिर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। ऊर्ध्व-मान तो सीमा के विस्तार मे दुगुना बनाना चाहिये। तुलोदय दस अश का और बीस अश की मञ्जरी होती है। विद्वान् ढाई भाग से वेदी-बन्ध बनाते हैं। दोनो जघाओं की ऊंचाई ढाई भाग की होती है। पत्र-भगियो से लाञ्छित भरण का निर्माण एक भाग से होता है। उसके ऊपर दो भाग से उन्नत मेखला बनाना चाहिये। एक भाग मे समुन्नत नौ भाग से आयत ग्रीवा बनानी चाहिये। दो पद की ऊंचाई से अण्डक और एक भाग से उन्नत चण्डिका बनाई जाती है। दो पद का कलश बनाना चाहिये। विस्तार और ऊंचाई मे समान सात लतायें बनानी चाहियें। लता के मध्य मे छै प्रकार के क्रम वाला वेलक (?) होना है। प्रत्यग मे तिलक, कूट तथा अन्य निवेश निर्मेय हैं। और कोनो मे तो वाराटी शैली के कूट इस माहेन्द्र मन्दिर मे बनाने चाहियें। इस प्रासाद को बनवा कर राजा इन्द्र के स्वर्ग मे निवास करता है॥ ६०७½—६२०½॥

वराट :—अब त्रिपुरीशो का प्रिय और नागो का अति प्रिय शुभ-लक्षण वराट नाम के प्रासाद का वर्णन करता हू। दस पदो मे बराबर और चोकोर क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। और वहाँ पर छै (६) पदो मे गर्भ और दो भागो भित्ति का विस्तार करना चाहियै। कर्ण का विस्तार चारो कोनो

पर दो पदो से सम्पन्न करना चाहिये। सलिलान्तर का विस्तार आधे भाग के प्रवेश से होना चाहिये। दोनो जल-मार्गों के अन्तर का भद्र पाच भाग से लम्बा होना चाहिये। उस भद्र का निर्गम विस्तार के आधे से होना चाहिये। मध्य मे पाद-सहित आठ भागो से उत्तम वृत्त का निर्माण करना चाहिये। जल-मार्ग-सहित ऐसा तलच्छन्द बताया गया है। इसका ऊर्ध्व-प्रमाण विस्तार से दुगुना होता है। तुलोदय आठ भाग से, बारह पदो से ऊचाई विहित है। तीन पद की ऊचाई मे भद्र-पीठक का निर्माण करना चाहिये। वेदी-बन्ध का विस्तार के आधे से ऊचाई बनवानी चाहिये। चार भाग से उन्नत जघा और आधे भाग की ऊचाई वाला हीरक होता है। मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से उन्नत बनाना चाहिये। शृग ऊचाई मे तीन पद वाला और उसी प्रकार ग्रीवा और कलश तथा अडक। उसके ऊपर पाँच पदो से विस्तृत शुभ उरोन्मजरी होती है। आधे पद से ग्रीवा और एक भाग से अडक बनाना चाहिये। कलश एक अश से उन्नत तथा आठ अश के विस्तार वाली मूल-मजरी होती है। उसकी ऊचाई नौ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। स्कन्ध पाँच पद वाला तथा ग्रीवा एक पाद कम एक पद के प्रमाण से तथा पद-मजरी सपादिका। आधे पद से चद्रिका। इस वराटक प्रासाद मे कलश की ऊचाई दो पद वाली होती है। जो मनुष्य भक्ति पूर्वक इस वराट-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह विविध यानो से अक्षय स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ६२०½—६३३½ ॥

सुमुख—अब क्रम-प्राप्त सुमुख प्रासाद का लक्षण कहता हू। २२ भागो से विभाजित चौकोर क्षेत्र मे ग्यारह अशो से गर्भ और चार मे भित्ति बनायी जाती है। वहा पर कोण दो भाग वाला और भाग के एक पाद से सलिलान्तर होना है। आधे भाग मे इसका प्रवेश और चार अश से विस्तार कहा गया है। इस प्रकार से आधे भाग से निकला हुआ भद्र विनिर्दिष्ट किया गया है। कर्ण और भद्र के अन्तर मे २ पाद कम दो भाग मे सलिलान्तरो सहित तीन प्रति-रथ बनाने चाहियें और उनका परस्पर निकास आधे आधे भाग से बनाना चाहिये। इसका ऊर्ध्वमान द्विकलाधिक दुगुना होता है। इसका तुलोदय पाच अंशो से बनाना चाहिये। उसके ऊपर २५ विभागो से मन्जरी होती हैं, इसका वेदी-बध साढे चार भाग से बनाया जाता है। साढे आठ अशो से जघा और वरण्डी तो दो भाग

वाली नौ लताओं से युक्त पहिले के समान इसकी मञ्जरी बनानी चाहिये। इस के स्कन्ध का विस्तार ग्यारह (११) भागों से होता है। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का समालेख करना चाहिये। कोण में आसन्न इसका प्रतिरथ द्राविडी शैली में बनाया जाता है। नौ भूमिकायें बनानी चाहियें और शेष कार्य महेन्द्र प्रासाद के समान। इस की ग्रीवा पाद कम दो भागों से बनायी जाती है। ढाई भाग के प्रमाण से शुभ अडक का निर्माण होता है। चण्डिका डेढ भाग से और कलश तीन अण्डकों से। इस प्रकार से सुमुख-नामक प्रासाद का वर्णन किया गया। जो व्यक्ति इसको भक्ति से बनवाता है, वह सम्पूर्ण भोगों का भोग करता है और इन विपुल भोगों का भोग करके शास्वत पद को प्राप्त करता है॥ ६३३½—६४५॥

नन्द—अब उसकी स्थिति में जो विजय-भद्र का रूप होता है, उस से देवता-प्रिय विजय-नामक प्रासाद बनाना चाहिये। और फिर कर्ण में रथकों से सर्वलक्षण-युक्त विधान विहित है, तथैव निवेश करना चाहिये। उसके ऊपर मनोज्ञ मञ्जरी बनानी चाहिये, उदय के विस्तार से उसका कलाधिक विहित है। स्कन्ध तो छै पदवाला और एक भाग से उन्नत ग्रीवा होती है। अडक और चन्द्रिका बराबर डेढ भाग से होती है। और उसी चन्द्रिका के मध्य में अमलसारक का निर्माण करना चाहिये और उसके ऊपर ढाई भाग से उन्नत कलश बनाना चाहिय। द्राविड शैली से और वाराटी शैली से इसकी मञ्जरी का निर्माण करना चाहिय॥ ६४६—६५२॥

महाघोष—अब महाघोष नाम का दूसरा प्रासाद बताया जाता है। नन्दिघोष के सस्थान और रूप में इसकी व्यवस्थिति होती है। इसके सब कर्णों में भद्रों का विनिवेश करना चाहिये। भद्र में दो पद की लम्बाई से निर्गम वाली चतुष्किका बनानी चाहिये। एक भाग की बाहर की दीवाल और शेष से गर्भ-गृह बनाया जाता है। कर्ण में शृंग बनाने चाहियें। इस प्रकार से प्रासाद की यह प्रथम भूमिका निष्पन्न हुई। दूसरी भूमिका तो फिर भित्ति-विन्यास-वर्जिता होती है। चारों दिशाओं में वेदी और चन्द्रावलोकन बनाने चाहियें। तीसरी भूमिका भी चार खंभों वाली बनानी चाहिये। उस के ऊपर से छाद्यकों से संवरण करना चाहिये। जो व्यक्ति इस उत्तम नंदिघोष-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, उस के कुल में ऐश्वर्य नहीं नष्ट होता है॥ ६५३—६५८॥

वृद्धिराम—मिश्रक-प्रासाद-प्रभेदो मे ही वृद्धिराम-नामक प्रासाद बनाया जाता है। श्री-निवास का जो सस्थान बताया गया है वही इस का भी होता है। सोलह (१६) स्तम्भो से ढका हुआ गर्भ-कद छोड कर इसका मध्य बनाना चाहिये। शेष निर्माण श्री-निवास के समान होता है। आठ उरोघण्टाओं और अश्वशालाओ से सब प्रकार के अलकारो से सुशोभित इसके भद्र बनाने चाहियें। वसुन्धर प्रासाद के जो भेद होते है, उन सबो मे यह शुभ प्रासाद युक्त होता है। यह वृद्धिराम प्रासाद २१ कलशो से प्रशस्त माना जाता है। इस प्रासाद का कर्त्ता, जब तक चन्द, सूर्य और तारें हैं, तब तक इन्द्र के समान अप्सराओ के गणो के साथ इन्द्र के समान स्वर्ग मे क्रीडा करता है॥ ६५९—६६३ ॥

वसुन्धर—वसुन्धर-नामक प्रासाद वृद्धिराम-नामक प्रासाद के ही सस्थान मे होता है। बाहर की दीवालो को छोडकर गर्भ की दीवाल बनाई जाती है। वेदिका आदि विन्यास भद्र तथा तोरण से भूषित होता है। इस प्रकार के भेद मे युक्त यह वसुन्धर-नामक प्रासाद बनता है। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस प्रासाद को बनवाता है, वह असमय देवो के लिये भी दुष्प्राप्य महादेव के मन्दिर मे निवास करता है ॥ ६६४-६६६ ॥

मुदग—अब मुदग प्रासाद का वर्णन करता हू। छं भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र म एक भाग वाली इस की भित्ति और वर्तुल गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दो पदो के निकास से चार पद वाला गोल भद्र बनाना चाहिये। स्वस्तिक के आकार वाली चार रथिकायें बताई गयी हैं। छं कोनो से घिरे हुये सब कर्ण बनवाने चाहियें। जघा, वेदी और पीठ मनूत्कीर्ण प्रासाद के सदृश होवें। एक भाग मे विस्तृत दो भाग मे उन्नत पत्र और मकरो से युक्त कर्ण-कूटो का निर्माण करना चाहिये। पाच भाग मे उन्नत तथा चार पद लम्बित भद्र, कलश के सहित ग्रीवा और अडक ढाई पद के प्रमाण मे होते हैं। मूल-मञ्जरी का विस्तार पड्-पद समित है। दस भागो से ग्रीवा और कलश युक्त ऊचाई करनी चाहिये। यहा पर मञ्जरी का निवेश भी मनुत्कीर्ण प्रासाद के समान होनी चाहिय। इस प्रकार जो इस प्रासाद को भक्तिपूर्वक बनवाता है उसके चन्द्र के समान यश का गान किन्नरिया स्वर्ग मे करती हैं। ६६७—६७४ ॥

बृहच्छाल—अब बृहच्छालाभिध सुरालय का वर्णन करता हू। इस

प्रासाद को यथा-स्थिति कमलोद्भव के संस्थान में बनाना चाहिये। दिक् सूत्र एवं कर्ण-सूत्र से अन्य निवेश विहित है। कर्णान्त में और भद्र के मध्य में सलिलान्तर बनवाना चाहिये। यह पद के एक पाद से विस्तीर्ण और आधे पद से प्रक्षिप्त (projected) होता है। पीठ, वेदी और जघा तथा मेखला और अन्तर-पत्र ये सब कमलोद्भव के समान बनवाना चाहिये। अधिक कहने से क्या मतलब। ईलिका, मकर और ग्रासो तथा असुर सहित वरालो से व्याप्त जैसी जघा पुष्पक में बताई गई है, वैसी ही यहा पर भी इष्ट माना जाता है। ऊर्ध्व पीठ के प्रमाण का तथा अवच्छाद्यक का जो मध्य होता है, वहा पर पट्-दारुक का निवेशन करना चाहिये। सिह-कर्ण-विभूषित मत्तच्छाद्य बनाना चाहिये। सिह-रूपो तथा विचित्र वरालको से समाक्रान्त, तीन अश से उन्नत और दो पद से विस्तृत कर्ण-कूट का निर्माण करना चाहिये। छप्पन अडक वाले कर्ण पृथक् पृथक् यहा पर होते है। वे तीन उरो-मञ्जरिओ से विभूषित किये जाते है, और कर्णान्त मे मूलरेखा विस्तार से सात भाग वाली होती है। इस की ऊचाई का विधान ८½ भाग से बताया गया है। उसी प्रकार ४ उरो-मञ्जरिया प्रत्येक दिशा में बनानी चाहियें। पहली उरो मञ्जरी १२ अण्डक-विभूषिता होती है। दूसरी १४ अण्डो वाली और तीसरी १६ अण्डो वाली और चौथी १८ अण्डो से युक्त कहलाती है। ३६ अण्डको से युक्त मूल रेखा बनाई जाती है। ग्रीवा पादकम एक पद के प्रमाण से तथा अण्डक पाद-सहित एक पद से बनाये जाते हैं। और ये अण्डक लवलीफल के समान होते हैं, तथा चन्द्रिका एक पद से ऊची बनाई जाती है। समवृत्त मनोरम कलश दो पद से समझना चाहिये ॥ ६७५—६६१ ॥

पंचम पटल

नागर-प्रासाद

१. मेरू आदि बीस परम्परागत प्रासाद

२. श्रीकूट आदि छत्तीस प्रासाद

अथ-मेर्वादि-विंशिका-नागर-प्रासाद-लक्षण

मेरु आदि २० नागर प्रासाद :—अब नाम और लक्षणों से नागर प्रासादों का वर्णन करता हूं - मेरु, मन्दर, कैलाश, कुम्भ, मृगराज, गज, विमानच्छन्द, चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र, वर्तुल, सर्वतोभद्रक, सिंहास्य, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंसक, वृष, गरुड, पद्मक और समुद्र—नागर प्रासादों की संक्षेप से यह बीस संख्या बताई गई है ॥ १—४½ ॥

इन प्रासादों में भूमिकादि-कल्पन :—मेरु प्रासाद चतुर्द्वार, षोडश-भौम तथा विचित्र शिखरों से आकीर्ण बनाया जाता है। मन्दर बारह-तल्ला (द्वादशभौमिक) तथा कैलाश नौ भूमिका वाला बताया गया है। अनेक शिखरों वाला चित्र-सुन्दर, चार द्वारों वाला, महान् उत्तुंग और अष्टभौम—यह प्रासाद विमानच्छन्दक के नाम से पुकारा जाता है। बीस अण्डकों से युक्त सप्तभौम नन्दिवर्धन-नामक प्रासाद तथा सोलह अण्डक वाला षड्भौम नन्दन-नामक प्रासाद बनाना चाहिये। भद्रशाला-विभूषित, अनेक शिखरों से आकीर्ण, प्रचुराण्डक एवं पञ्चभौम सर्वतोभद्र प्रासाद बनाना चाहिये। वृष प्रासाद तो अपनी ऊंचाई के तुल्य सब प्रकार शुभ-वलभिच्छन्दक तथा देवताओं का प्रिय प्रासाद बनाया जाता है। वर्तुल (मण्डल)-नामक प्रासाद तो एकाण्डक-विभूषित समझना चाहिये। सिंह, सिंह की आकृति वाला, गज गज के समान आकृति वाला, कुम्भ कुम्भ की आकृति वाला, उसी प्रकार नव-भूमिकाओं से ये उन्नत होवें। अञ्जलीपुट सस्थान, पञ्चाण्डक-विभूषित समन्तात् षोडशास्र प्रासाद होता है। और यह समुद्रक प्रासाद उसे समझना चाहिये, जिसके दोनों पार्श्वों पर चन्द्रशालायें हों और ऊंचाई से दो भूमिका वाला हो। उसी प्रकार से तीन भूमिकाओं की ऊंचाई वाला कमल-सदृश अष्टास्र-नामक प्रासाद समझना चाहिये। षोडशास्र-नामक प्रासाद वह है जो विचित्र शिखरों वाला एवं शुभ हो। मृगराज-प्रासाद तो विशाल प्राग्रीवों से एवं भूमिकाओं से उन्नत तथा चन्द्रशाला-विभूषित प्रसिद्ध है। गज प्रासाद तो अनेक चन्द्रशाला वाला कहा जाता है। पर्यस्त मृगराज तो नाम से गरुड नाम वाला होता है। वह सप्तभौम उन्नत

और उसी प्रकार तीन चन्द्रशालाओं से युक्त बाहर और भीतर चारों तरफ से छ कोनों वाला माना गया है। दूसरा गरुड प्रासाद उसी के समान होता है। वह ऊंचाई में दशभौम विहित है। पद्मक प्रासाद दो भूमिकाओं से अधिक षोडशाश्रि होता है। चतुरश्र-प्रासाद तो पचाण्ड एक-भौम विहित है तथा चार हाथों के प्रमाण से निर्मित गर्भ वाला वृष-नामक प्रासाद सर्वमनोरथ सम्पादक होता है। यह सात अथवा पांच भूमि वाला प्रासाद माना गया है। और जो अन्य उसी प्रमाण के प्रासाद है, वे सिंह के समान समझने चाहियें। वे सभी चन्द्रशालाओं से विभूषित और प्राग्रीवों से युक्त बनाने चाहियें। वे ईंट से, लकड़ी से अथवा शिलाओं से अथवा अन्य द्रव्यों से बनाये जावें॥ ४½—२१॥

मानादि-विवरण—मेरू प्रासाद पचास हस्तों के विस्तार से तथा लिङ्ग से दुगुन गर्भ और चार हाथ वाली दीवालें होती हैं। अन्धारिका छ हाथों के प्रमाण से चारों तरफ बनानी चाहिये और विचक्षण लोग अन्धकारिका को बाहर की भित्ति (दीवाल) के अनुरूप बनाते हैं। इस प्रकार का यह सब गुणों से युक्त यह साधार अर्थात् प्रदक्षिणा-युक्त—(with circum-ambulatory passage) मेरू प्रासाद बनाया गया। अन्य प्रासादों का जो गर्भ होता है, वह लिङ्गानुकूल निर्मेय है। जो शेष रह जाय उस से अन्धकारिका के सहित समभाग से पहिले के समान और सब प्रासाद गर्भ को छोड कर निर्मित करना चाहिये। मेरू आदि विमान तक जो पहिले सात प्रासाद बताये गये है, वे पूज्य-लिङ्गानुसार एवं लिङ्ग-पूजकों के लिये प्रशस्त माने गये हैं। दूसरा के लिये वे भयावह होते हैं। वावृक्ष (वाचाट ?) प्रधान जो नन्दि-वर्धन आदि जो बाद के प्रासाद बताये गये हैं, वे आग शुभ मान गय है। दूसरे मध्यम दुखद माने गये हैं। हम प्रासाद मे लगा कर समुद्र पर्यन्त, जो पाच प्रासाद बताये गये है, वे लिङ्गों के लिये प्रशस्त माने गये हैं। ॥ २२—२८ ॥

मंदर प्रासाद तो शास्त्रानुकूल प्रति-पाद्य है। नंदि-वर्धन प्रासाद बत्तीस हाथों के प्रमाण में बनाना चाहिये। तीस हाथों से नंदन और सर्वतोभद्र बताये जाते है। अष्टाश्रि प्रासाद २८ हाथों और षोडशाश्रि पचीस हाथों से विहित है। वर्तुल, पद्मक, श्वेत, विमान व बारह हाथों के प्रमाण से यथा-शास्त्र विनिर्मेय है। गज, सिंह, कुम्भ और वलभि छन्दक—ये चार प्रासाद भी यथा-प्रमाण होते हैं। वावृक्ष, मृगराज

और विमानच्छद ये अलग अलग बारह हाथ के प्रमाण से बताये गये हैं। गरुड आठ हाथ वाला अथवा दस हाथ वाला माना गया है। इन्ही प्रमाणो मे इन प्रासादो का निर्माण करना चाहिये। अन्य जो एक हस्त, द्वि-हस्त और त्रि-हस्त जो बताये गये है, वे यक्ष, नागर और ग्राहो के लिये बनाने चाहियें। प्रासादो की यह सक्षेप विधि बतायी गई है॥ २६—३६

भूमिकाष्टक–मानादि–अवयवादि-कल्पन-विधि —अब शुद्ध पुष्पक विमान का विशेष रुप मे वर्णन करता हू। पैंतीस भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र म पाच भाग की रथिका और दो भाग मे सलिलान्तर बनाने चाहियें। ग्रग्रीवक-विभूपित पञ्जर का निर्माण तीन भागा से करना चाहिय। दूसरा सलिलान्तर तो दो भाग के प्रमाण से होता है। शाला ग्यारह भाग वाली और सलिलान्तर पहिले के समान। पञ्जर तीन भाग तथा सलिलान्तर दो भाग से बनाना चाहिय तथा प्रान्त मे पाच हाथो क प्रमाण मे कूट बनाना चाहिये। सभी दिशाओ म यही विधि है। शुद्ध-पुष्पक प्रासाद म इस प्रकार से यह नागर तलच्छद होता है। ये विवरण पहली भूमिका के सम्बन्ध म हैं। क्षेत्र के विस्तार स आधी ऊचाई वाली पीठ सहित जघा का निर्माण किया जाता है। दूसरी भूमिका साढ़े दस हाथो म तीसरी नौ हाथो स, चौथी आठ हाथ वाली, पाचवी सात हाथ वाली, छठी तो भूमिका आठ हाथ वाली, सातवी पाच हाथ वाली, तदनन्तर आठवी चार हाथ वाली बताई जाती है। विचित्र वेदिका-बन्ध विद्वान् लोगो को तीन हाथ के प्रमाण से बनवाना चाहिय। विस्तार म दुगुनी ऊचाई वाला स्कन्ध माना गया है। स्कन्ध के ऊपर जो घटा अथवा आमलसारक होता है वह सुन्दर वर्तुल बनाया जाता है। घटा की ऊचाई स्कन्ध के आधे भाग म होती है। घटा के विस्तार म कुम्भ की चौथे भाग म निगत करना चाहिए। भूमिकाओ का सामूहिक रुप से जो प्रमाण बताया गया है उन भूमिकाओं का विशेष रूप से विवेचन कर अब कहा जाता है। सर्वावयव-पुरस्सर भूमिका-निर्माण किया जाता है। एक हाथ के प्रमाण म खुरक तथा दो भागो क प्रमाण से पद्म-पत्रिका बनाई जाती है। एक भाग वाली.. ......? और उसी प्रकार म कुमुद तथा छद का निर्माण किया जाता है। किरिणी, पत्र न युक्त खण्ड उससे दुगुना नीचे प्रस्त क प्रमाण से बनाया जाता है। और उस क ऊपर म पट्टिका बनानी

चाहिये तथा उस के समान गिरि-पत्रिका बनानी चाहिये तथा उसी के अन्य अवयव तत्पन्न प्रमाणानुकूल हैं, पूर्वोक्त *प्रमाण से प्रतिपादित कंठ से* वह बराबर सूत्र वाली होती है। उस के ऊपर विचक्षण लोग एक स्तर के प्रमाण से छेद का निर्माण करते हैं। फिर दो भागों के प्रमाण से कंठ देना चाहिये। पट्टिका का निर्माण एक स्तर से और उसी के समान गिरि-पत्रिका। चौगुनी अथवा तिगुनी तिलक-नासिका बनानी चाहिये। दो स्तम्भों के मध्य में पंचालय अर्थात् पाञ्चाली शैली का कर्म करवाना चाहिये और उसे तिलक-नासिका से सुन्दर बनवाना चाहिये। फिर बुद्धिमान् लोग पूर्व प्रमाण से छेद देते हैं। सात स्तर वाली जघा तथा ऊपर से मेंठा और वरंडी तीन स्तर के प्रमाण से बताये जाते हैं। जघा के नीचे तीन स्तर के प्रमाण से कुम्भक का निर्माण होता है। घटा और मंडप से युक्त माला छै स्तर से बनाई जाती है। उस के लशुन और एक स्तर से भरण बनाया जाता है। तदनन्तर दो स्तर से कुम्भ और एक स्तर से गंड का निर्माण होता है। उच्छाल दो स्तर वाला और वीरगण्ड एक स्तर वाला होता है। तदनन्तर दो स्तर वाला पट्ट और उस के आधे से पट्टिका बनाई जाती है, और उसी के समान गिरि-पत्री तथा वरण्डी तीन स्तर वाली होती है। स्तम्भ के ऊपर सुन्दर ढाई पादिका का निर्माण करना चाहिए। उस के बाद छेद एक स्तर से और फिर कण्ठ तीन स्तर से बनाना चाहिये। पट्टिका एक स्तर से और उसी के समान गिरि-पत्रिका होती है। वरण्डी का निर्माण साढे तीन प्रस्तर के प्रमाण से होता है। फिर छेद एक स्तर बनाना चाहिये, और उसी के समान तदनन्तर कण्ठ, और उसी के समान गिरिपत्री। तीन अंश से आमलसारक। तदनन्तर छेद, कंठ, गिरिपत्री, वरण्डिका, पूर्व प्रमाण से बनाना चाहिये। पुनः अन्य प्रमाण भी अनुकरणीय है। गिरिपत्री एक स्तर से, फिर खुरक का निर्माण तीन अंश से करना चाहिये। छेद, कंठ और पत्रिका तथा अन्य अवयव, तथा वरंडी साढे तीन स्तरों के प्रमाण से बनानी चाहियें। छेद, कंठ और पीठ तथा गिरिपत्री पूर्वोक्त प्रमाण से। इस के बाद दो स्तर वाली वेदिका बनाई जाती है। उस के आधे से छेद, तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण से कंठ बनाना चाहिये। फिर मनोज्ञ-गिरिपत्री एक स्तर के प्रमाण से करना चाहिये। *चतुरंश प्रमाण वाला आमलसारक* होता है। उसके आधे से ऊपर

पद्म-पत्र निर्मित किया जाता है। कुम्भ चार स्तर वाला और कंठ एक स्तर के प्रमाण से बनाये जाते हैं। तदनन्तर कर्ण एक स्तर के प्रमाण से तथा दो स्तर से बीज-पूरक बनाया जाता है। चार स्तरो से कूट का विस्तार किया जाता है। तदनन्तर भागो मे विभाजित करना चाहिये। शूरसेनो से अलकृत मजरी का निर्माण दो भागो मे करना चाहिये। फिर वरडिका और वरडिका-बध एक २ भाग मे होता है। मूल-मजरी के विस्तार से शुकनासा का प्रकल्पन किया जाता है। अब वहा पर द्वयर्ध-पाद विस्तार का निर्णय किया जाता है। ऊचाई से वह दुगुनी होती है, अथवा शूरसेन बनाना चाहिय। शुक-नासिकायें तीन प्रकार की होती हैं। तीन भाग की ऊचाई करके ऊपर क भाग मे मकर का सनिवेश करना चाहिये, अथवा वहा पर विद्वान् लोग शुभ गर्भकूट का निर्माण करते हैं। दूसरी भूमिका मे तो पीठ साढे दस स्तर से बनता है। जघा और माला चार स्तर वाली बनानी चाहिये। लशुन दो स्तर वाला बताया गया है और एक स्तर के प्रमाण मे अन्तरण इष्ट होता है। उसी प्रकार कुम्भ को बनाना चाहिये और दुगुने से युक्त उच्छाल। गदर एक स्तर के प्रमाण से फिर पट्ट दो स्तर के प्रमाण से बनाये जाते हैं। आगे मे पट्टिका और गिरिपत्रिका बनानी चाहिये। शूरसेनो म अलकृत वरडी तीन स्तर के प्रमाण से बनाई जाती है। एक स्तर के प्रमाण मे छेद, तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण से कठ बनाना चाहिय। पहिला एक भाग के प्रमाण से और उसी के समान गिरिपत्रिका बनाई जाती है। तीन भाग से शिखर और छेद एक भाग वाला बनाया जाता है। एक स्तर से कठ और तीन स्तर से गिरिपत्री को बनाते हैं। ... सयुक्त तीन स्तर वाली वरण्डिका बनाई जाती है। बुद्धिमान् लोग छेद और कठ का निर्माण पूर्वोक्त प्रमाण से करते हैं। पट्टिका और गिरिपत्री एक २ भाग मे बनाई जाती है। दो स्तर के प्रमाण मे शिखर तथा एक भाग वाला छेद बनाया जाता है। इसी प्रकार से कण्ठ का निर्माण करना चाहिये। मुक्ता-वरण्डिका होती है। छेद, कण्ठ, पत्री और गिरिपत्री एक २ भाग मे बनानी चाहिए। पहिले के समान प्रयत्न-पूर्वक यथाशोभा निर्माण करना चाहिए। ऊपर चौथी भूमिका लक्षण-युक्त बनाना चाहिए। १३ स्तर से पीठ का निर्माण करना चाहिए और उसी के यथा-लक्षण-समान मध्य जघा। माला का निर्माण चार स्तरो के प्रमाण से किया जाता है उसके आधे से तदनन्तर लशुन निर्मित होता है। उसी क समान कुम्भ की

रचना और उच्छाल की कल्पना दो स्तरो के प्रमाण से होती है। उस के आधे मे गण्डक बनाना चाहिए, तदनन्तर उस से दुगुना पट्ट। पट्टिका और गिरिपत्री एक २ स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिए। वरण्डी तीन स्तर वाली तथा छेद एक स्तर वाला कहा गया है। उसी के समान गिरिपत्री तथा उस के बाद दो स्तरो से होता है। छेद, कण्ठ, पट्टिका और गिरिपत्री एक २ भाग वाले होत है। वरण्डी दो स्तर के प्रमाण से बनानी चाहिए। कण्ठ, पत्रिका और गिरिपत्री एक २ भाग से। पहले के समान खिरिहिर [ ] होता है तथा पूर्व क्रम से ही छेद का निर्माण कहा गया है। विद्वान् को दो स्तर वाली तिलमासा बनानी चाहिए। एक भाग से छेद और दो भाग से कण्ठ बनाये जायें। पहिला एक भाग और उसी के समान गिरिपत्रिका। घण्टा सात स्तर वाली कही गई है और पट्ट दो स्तर वाला। उस म दुगुना कलश और छेद का निर्माण पूर्ववत् करना चाहिए। उस के ऊपर पाचवी भूमिका होती है। उस का पीठ ग्यारह स्तर वाला होता है, उसी प्रकार मेठा होती है और जघा तथा माला तीन स्तर वाली होती है। लशुन आधे स्तर से और भरण एक स्तर से विद्वान् मनुष्य गण्डक-मयुक्त कुम्भ का निर्माण डढ स्तर से करते हैं। दो स्तर से उच्छाल बताया गया है तथा एक स्तर गण्डक का विधान है। दो स्तर के प्रमाण से पट्ट और पट्ट र आधे से पट्टिका फिर उसी के समान गिरिपत्रिका होती है। और वरण्डिका तो तीन स्तर वाली कही गई है। एक स्तर के प्रमाण से छेद फिर उससे दुगुना कण्ठ। तथा उस के आधे पत्रिका और उसी के समान गिरिपत्रिका बनाई जानी चाहिये। खिरिहिर का निर्माण दो स्तरा स उस के आधे से छेद का निर्माण कहा गया है। इस प्रकार कण्ठ और पट्टिका तथा गिरिपत्रिका बनाये जाते है। और तिल-मासा दो स्तरो के प्रमाण से और छेद डेढ हाथ आयत होता है। कण्ठ उससे दुगुना बनाना चाहिये। और पट्टिका एक भाग से उसी प्रकार गिरिपत्रिका निर्माण होती है। घण्टा पाच स्तरा के प्रमाण से बनाई जाती है। पद्म को दो स्तरो से बनाना चाहिय। तदनन्तर कहा हुआ पूर्व क्रम से। अब इसके बाद छठा भूमिका का वर्णन करता हू। वहा पर उसका पीठ बताया जाता है। दो स्तर के प्रमाण से गर्भ और उसी के समान खुरक बनाया जाता है। उसके आधे से छेद और कण्ठ दो स्तरो के प्रमाण से बनाया जाता है। पट्टिका एक भाग से और गिरिपत्रिका भी उसी के समान। वरण्डी दो स्तर वाली और उसके आधे से छेद का आदेश किया गया है। पीठ का

निर्माण बारह अंश के प्रमाण से सम्पादित किया जाता है। जघा और माला उसके आधे से बनाई जाती है। माला तो दो स्तर वाली बताई गई है और लशुन भी उसी के समान होता है। एक स्तर वाला भरण और दो स्तर वाला कलश होता है। उच्छालक उसी के समान और गण्डक का विधान एक भाग से होता है। दो स्तर से यह और एक भाग स पट्टिका बनानी चाहिये। पहिले के समान गिरिपत्री और वरण्डिका को तो यथा-शास्त्र छेद एक स्तर से कण्ठ उससे दुगुना, पूर्ववत् दोनों पत्रिकायें और दो अंश के प्रमाण से खिरिहिर होता है। छेद, कण्ठ और पट्टिका तथा गिरिपत्री एक २ भाग वाली होती है। तिल नामा दो स्तर वाली और छेद एक भाग वाला बनाना चाहिये। इसके बाद कण्ठ दो स्तर वाला और कण्ठ-पट्टिका एक भाग वाली बनाई जाती है। उसके बाद एक भाग से गिरिपत्री बनानी चाहिये। तीन भाग क्रम पांच स्तरों से आमलसारक बनाना चाहिये। यह तीन स्तर के प्रमाण से होता है, तदनन्तर शेष पूर्व क्रम से।

सातवी भूमिका में तो पीठ बारह स्तर के प्रमाण से बताया जाता है। जघा पांच स्तर वाली और मेठा और माला दो भाग वाली होती है। आधे स्तर से लशुन और एक स्तर से भरण होता है। गण्ड के सहित कुम्भ को विचक्षण लोग एक स्तर से बनाते हैं। उच्छाल दो स्तरों से बनना चाहिये तथा गण्ट एक भाग से विहित है। पट्ट डेढ़ स्तर वाला बनाना चाहिये और पट्टिका की तो एक स्तर से होती है और उसी के समान गिरि पत्री। वरण्डिका तो तीन स्तर वाली होती है। छेद तीन भाग क्रम एक भाग से और फिर कण्ठ अधगुने से दोनों पत्रिकायें पूर्व के समान। घटा चार स्तरों के प्रमाण से बनाई जाती है। दो स्तर के प्रमाण से पद्म बनाना चाहिये। और शेष तो पूर्व क्रम से। आठवीं भूमिका जो होती है शुभ लक्षण होना चाहिये॥ ३७—११६॥

इस प्रकार शुभ-लक्षण-युक्त मेरु आदि बीस मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया। जो व्यक्ति आठ भूमियों तक इन प्रासादों को बनाता है, वह शिल्पियों की सभा में पूजनीय होता है॥ ११७॥

अथ श्री-कूटादि-षट्-त्रिंशत्प्रासाद-लक्षण

अब नागर क्रिया वाले छत्तीस सान्धार प्रासादों का वर्णन करता हूं। उन मे पहला श्रीकूट फिर श्रीमुख, श्रीधर, वदर (वरद), प्रियदर्शन, कुलानन्द, अन्तरिक्ष, पुष्प-भास, विशालक, सकीर्ण, महानन्द, नन्द्यावर्त, सौभाग्य, विभग, विभव, बीभत्सक, मान-तुंग, सर्वतोभद्र, वाह्योदर, निर्यू होदर, समोदर, नन्दि-भद्र, भद्र-कोष, चित्रकूट, विमल, हर्षण, भद्र-सकीर्ण, भद्र-विशाल, भद्र-विष्कम्भ, उज्जयन्त, सुमेरु, मन्दर, कैलाश, कुम्भक, और गृह-राज—इन नामो से ये छत्तीस प्रासाद बताये गये हैं ॥ १—८½ ॥

श्रीकूट-पटक :—अब इन प्रासादो का लक्षण कहा जाता है। बारह अंश विभाजित चौकोर क्षेत्र मे इस श्रीकूट-नामक प्रासाद का विभाजन करना चाहिए। ज्येष्ठ बीस हाथ वाला, मध्यम पन्द्रह हाथ वाला और कनिष्ठ दस हाथ की सख्या के प्रमाण से बनाना चाहिये। छै भाग के आयाम से भद्र तथा दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहिये। एक भाग से निर्गत तिलक का, एक भाग से निर्माण करना चाहिए। फिर इसके एक भाग से निष्क्रान्त भद्र बनाया जाता है। एक भाग वाली बाहर की दीवाल और दो पद वाली भ्रमकारिका तथा एक ही भाग वाली गर्भ की दीवाल तथा चार पद के प्रमाण से गर्भ का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार से अधश्छन्द का वर्णन किया गया। अब ऊर्ध्वच्छन्द का विधान किया जाता है। विस्तार के आधे भाग से जघा और एक भाग वाली मेखला बनाई जाती है। तीन भाग से ऊंचा शृग और दूसरा भी वैसा ही। पूर्व शृग और दूसरा भी वैसा ही। पूर्व शृग के मध्य में विचक्षणों को उसे बनाना चाहिए। डेढ भाग की ऊचाई से तिलक बनाना चाहिए और दूसरा भी वैसे ही। दूसरे तिलक के ऊपर सुश्लिष्ट रूप-सयुक्त, छै भाग से आयत तथा सात भाग से उन्नत उरो-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। एक भाग का अधश्छाद्य होता है। मञ्जरी का जो विस्तार बताया गया है, उसे दस भागो मे विभाजित कर शेष

निर्माण श्रीवत्स के समान होता है। स्कन्ध छ भाग के विस्तार वाला होता है और ग्रीवा आधे भाग की ऊंचाई से होती है। अण्डक एक भाग वाला तथा कुमुद आधे भाग वाला बनाना चाहिये। बीजपूरक-सयुक्त कलश डेढ भाग से बनाया जाता है। दूसरे कर्ण-शृंग के ऊपर मूल-मञ्जरी होती है—अन्य अवयव-कल्पना आठ भाग की ऊंचाई से होती है। इसका स्कन्ध, ग्रीवा आदि में विभाग श्रीवत्स प्रासाद के समान होता है। इस प्रकार यह श्रीकूट-सज्ञक प्रासाद प्रसिद्ध होता है। इसको बनाकर पुरुष तीन हजार वर्ष दिव्य स्वर्ग में भोग करता है॥ ८½—२१½॥

अब श्रीकूट-प्रासाद के मण्डप का लक्षण कहा जाता है। प्रासाद के प्रमाण के तुल्य यहां पर मण्डप का निर्माण करना चाहिये। मुखायाम-पुरस्सर तिरछा तथा चौकोर भद्र-विस्तार तथा कर्ण और तिलक भी शास्त्रानुसार निर्मेय हैं। मध्य में भद्र-क्षेत्र विहित है। विस्तार के प्रमाण से चतुष्किका बनानी चाहिये। अन्य अवयव भी मण्डप में निर्मेय हैं। प्रासाद-जघा और मण्डप-जघा की ऊंचाई बराबर बनाई जाती है। मेखला, अन्तरपत्र आदि भी तथैव विहित है। पहले के समान तीन अंग से उन्नत एक भाग वाला स्तम्भ तथा वेदी और घटा तीन भाग वाले। सिंह-कर्णों से शोभित ये मण्डप निभालनीय हैं। इस प्रकार से विचक्षण लोग इस श्रीकूट के मण्डप को बनवाते है॥ २१¼—२७½॥

श्रीमुख —जब इसी के अलिन्द में भद्र-वेदिका का निर्माण किया जाता है तब सुखावह श्रीमुख-प्रासाद-मण्डप बनता है॥ २७½—२८½॥

श्रीधर —जब इसी के नीचे चौकोर कूर्पर होता है, तब यह श्रीधर नाम का देवालय-प्रासाद-मण्डप बनता है॥ २८½—२९½॥

वरद —इसी को जब अलिन्द भद्र-वर्जित बनाया जाता हैं, तब शुभदायक यह वरदनामक प्रासाद-मण्डप बनता है॥ २९½—३०½॥

प्रियदर्शन —जब इसका एक भद्र विनिर्गत बनाया जाता है, और निर्यूह भी निवेश्य है, तब वह प्रियदर्शन-नामक प्रासाद-मण्डप होता है॥३०½—३१½॥

कुलनन्दन :—जब इसी प्रासाद का नन्द्यावर्त विनिर्गत बनाया जाता है तब यह कुलनन्दननामक शुभकारक प्रासाद-मण्डप होता है॥ ३१½—३२½॥

अन्तरिक्ष पटक :—अब अन्तरिक्ष-पटक प्रासाद मण्डप का वर्णन करता हूं। यह बारह भाग वाला होता है। छत्तीस हस्तों में ज्येष्ठ, दस हस्तों से कनिष्ठ और मध्य मध्य-मान से विहित है। इस प्रकार यह हस्त-सख्या बताई गयी

है। पांच भाग से आयत भद्र तथा दो भाग वाले कर्ण बनाये जाने चाहियें। भद्र, कर्ण इन दोनों के अन्तर से तिलकों का विस्तार होता है। भद्र और तिलक का निर्गम डेढ़ भाग से बनाया जाता है। गर्भ सोलह भाग वाला और दीवाल का विस्तार एक भाग वाला होता है। प्रदक्षिणा दो भागों से तथा बाहर की दीवाल एक पद के प्रमाणों से बनानी चाहिये। इस प्रकार अधश्छद का वर्णन किया गया है। अब ऊर्ध्व-च्छद का वर्णन किया जाता है। जंघा छै भाग की ऊंचाई से तथा एक भाग की ऊंचाई से मेखला होती है। तीन भाग की ऊंचाई से पहिला शिखर ऊपर दूसरा शिखर उसी के समान। तिलक के ऊपर स्थित छाद्यकादि तो एक भाग वाला विहित है। शिखर, गर्भ के विस्तार से छै पद की ऊंचाई से करना चाहिये। गर्भादि-प्रमाण भी तथैव सपाद है। दूसरे शिखर के ऊपर मनोज्ञा मूल-मञ्जरी होती है। इस प्रकार सम्यक्तया अन्तरिक्ष-प्रासाद का वर्णन किया गया। सब वैमानिक देव अन्तरिक्ष-प्रिय होते हैं॥ ३२½-४१½

पुष्पाभास—यहां पर आठ भाग से जब अलिन्द विनिर्मित होता है, तब यह चारु-दर्शन पुष्पाभास-नामक प्रासाद समझना चाहिये॥ ४१½-४२½॥

विशालक—तदनन्तर इसका भद्र अलिन्दादि-संवृत हो, तब विशालक नाम का यह शुभ प्रासाद निर्मित होता है॥ ४२½-४३½॥

सकीर्णक—भद्र-युक्त इस प्रासाद का यथा-शास्त्र वर्जन जो होता है, तब यह सकीर्णक नाम का प्रासाद प्रसिद्ध होता है॥ ४३½-४४½॥

महानन्द—जब सकीर्ण की ही नन्दिका निर्गम से बराबर भाग वाली होती है, तब यह महानन्द-नामक प्रासाद बनता है॥ ४४½-४५½॥

नन्द्यावर्त—जब नन्दिका का निर्गम विस्तार के समान होता है, तब विद्वान् लोग इस प्रासाद को नन्द्यावर्त के नाम से पुकारते हैं॥ ४५½—४६½॥

सौभाग्य-पटक—अब सौभाग्य-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। वह बारह पदों से होता है। उसका उत्तम प्रभेद बीस हाथ वाला, मध्यम पन्द्रह हस्तों से तथा कनिष्ठ दस हाथों के प्रमाण से—इस प्रकार यह सौभाग्य प्रासाद मान के हिसाब से तीन प्रकार का होता है। चार भागों से गर्भ और भद्र उसके विस्तार के बराबर, भद्र के आधे से तिलक और दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें। एक २ का निर्गम दो २ पदों के प्रमाण से बनाना चाहिये, अथवा भद्रों का निर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। गर्भ की भित्ति एक भाग

वाली और दो पद वाली प्रदक्षिणा होती है। बाहर की दीवाल एक भाग वाली तथा जघा की ऊचाई छै पद की ऊचाई होती है। एक भाग वाली मेखला बताई गई है। उसके मध्य मे शिखर होता है और शृग तथा शिखर के बीच मे मल्लच्छाद्य एक भाग की ऊचाई से होता है। मञ्जरी का यहा पर विस्तार गर्भ-भित्ति के समान और ऊचाई सात भाग की बनानी चाहिये। दूसरे शृग के ऊपर मूल-मञ्जरी का न्यास पूर्ववत्। अण्डक आदि जैसा पहले कह चुके है वही विधान है। इस प्रकार यह सौभाग्य-नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है। ॥ ४६½—५३ ॥

विभगक :—जब इसी प्रासाद का अलिन्दक बिना भद्र के बनाया जाता है, तब यह सुशोभन प्रासाद विभगक नाम से पुकारा जाता है ॥ ५४ ॥

विभव :—जब इसके भद्र का निष्कास बनाया जाता है, तब यह परमोत्तम प्रासाद विभव नाम से प्रसिद्ध होता है॥ ५५ ॥

बीभत्स :—यदि दो भागो के विनिष्कान्त नन्दिका निर्मित की जाती है, तब इस उत्तम प्रासाद को बीभत्स नाम से पुकारते हैं ॥ ५६ ॥

श्रीतुंग :– जब निकास और विस्तार मे समान नन्दिका होती है, तब इस प्रासाद-सत्तम को श्रीतुग के नाम से जानना चाहिये ॥ ५७ ॥

मानतु ग :—जब इसका अलिन्दक विनिर्गत नही बनाया जाता तब यह मानतु ग प्रासाद बनता है ॥ ५८ ॥

सर्वतोभद्र-षटक – अब सर्वतोभद्र प्रासाद का वर्णन करता हू। उसे दस भागो मे विभाजित करना चाहिये। इसके प्रभेदो ने ज्येष्ठ छब्बीस हाथो से, कनिष्ठ दस हाथो से और मध्यम अठारह हाथो मे बताया गया है। दो भाग वाले कर्ण तथा छै पद के उन्मान से अलिन्द बनाने चाहिये। चार भाग वाले भद्र और उनका विनिर्गम दो भाग वाला होता है। गर्भ की दीवाल, बाहर की दीवाल अन्धकारिका एक २ पद के प्रमाण से बनाए जाते हे। गर्भ तो सोलह पद वाला होता है। इस प्रकार यह छन्द बताया गया है। विस्तार के आधे से जघा और एक भाग वाली मेखला बनाई जाती है। विस्तार से डेढ भाग उन्नत प्रथम शृग का निर्माण करना चाहिये। फिर वहा पर दूसरा शृग मध्य-देश-वर्ती पूर्व शृग से छोटा बनाना चाहिये। अन्य अवयव भी तथैव निर्मेय हैं। उसी प्रकार दोनो शृगो के ऊपर मूल-शृग का निर्माण करना चाहिये। मजरी का दस भागो मे विस्तार करना चाहिये। स्कन्ध छै भाग के विस्तार से। घनुप, ग्रीवा, अण्डक आदि—इनका श्रीवत्स के समान निर्माण करना चाहिये। एक भाग के

प्रमाण से मजरी होती है और वह पांच सिंहकर्णों की सुषुमा से विभूपित होती है। इस प्रकार से कल्याण-कारक यह सर्वतोभद्र बताया गया है। ॥५६—६७½॥

बाह्योदर—जब इसका ही भद्र अलिन्द-शोभित बनाया जाता है, तब प्रासाद-श्रेष्ठ यह बाह्योदर-नामक प्रासाद बनता है। ॥६७½ ६८½॥

निर्यूहोदर—जब अलिन्द नही होता है और भद्र एक तो निर्गत होता है, तब वह प्रासाद-प्रवर निर्यूहोदर के नाम से प्रसिद्ध होता है॥६८½—६६½॥*

भद्रकोश—जब वहां पर भद्र नही होता है तथा नन्दिका का निर्गम होता है तब भद्र-कोश-नामक उसे छठा उत्तम प्रासाद समझना चाहिये ॥ ६६½—७०½ ॥

चित्रकूट-षटक—अब चित्रकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसे आठ पदो से विभक्त करना चाहिये। आठ हाथो से लगा कर बीस हाथ हो जायें तब यह निर्मेय है। कोने तथा अलिन्द आदि प्रमाणानुकूल है। एक भाग से निर्गत चार पद वाला भद्र समझना चाहिए। एक भाग से निकला हुआ अलिन्द, भित्ति तथा अन्धकारिकायें एक एक पद के प्रमाण से बताई गई हैं। इसका गर्भ दो पद वाला होता है। अण्डक एक भाग वाला बनाना चाहिए तथा क्रमश भ्रम-संवृता मूल-मजरी दूसरे भाग पर बनानी चाहिए। वह मूल-मजरी सात भाग से उन्नत तथा छै भाग से आयत पहले के समान होती हैं। अत इस प्रमाण से इस चित्रकूट-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिए। ॥७०½—७५½

विमल—उसी का जब यहां पर भी अवयव-निर्माण होता है तब विमल नाम का यह प्रासाद उत्पन्न होता है। ॥७५½-७६½

हर्षण—जब इसी का अलिन्द भद्र-हीन बनाया जाता है, तब वह प्रासाद हर्षण नाम से जाना जाता है। ॥७६½—७७½

भद्र-सकीर्ण—जब इसी प्रासाद का कूर्पर (घुटना) एक भाग से निगत बनाया जाता है, तब वह भद्र-सकीर्ण-नामक शुभ प्रासाद बनता है। ॥७७½-७८½॥

भद्र-विशालक—इसी का जब भद्र एक भाग से निर्गत होता है तब भद्र-विशालक नाम से यह प्रासाद पुकारा जाता है। ॥७८½-७६½॥

भद्र-विष्कम्भ—भद्रा के बिना जब यह बनाया जाता तब सुख-प्रद यह भद्र-विष्कम्भ-नामक प्रासाद सम्पन्न होता है। ७६½-८०½॥

उज्जयन्त-षटक—आठ अष्टको (चौसठ) विभागो मे विभक्त बराबर चौकोर क्षेत्र म इस सुशोभन उज्जयन्त नामक प्रासाद की रचना विद्वान् को करनी चाहिए। एक पद क प्रमाण मे वर्ण और तिलक भी उसी प्रकार बनता

---

*टि० समोदर और नन्दि भद्र इन प्रासादों का लक्षण च्युत हैं।

है। विचक्षण लोग भित्ति-सहित गर्भ के मान से भद्र का निर्माण करते हैं। बाहर की दीवाल तथा प्रदक्षिणा एक एक भाग के प्रमाण से बनाये गये हैं। गर्भ की दीवाल एक भाग वाली और गर्भ के मध्य में चार पद होते हैं। पाँच भाग के उन्मान से जंघा तथा वहीं पर एक भाग के प्रमाण से मेखला बनाई जाती है। शृंग का एक भाग से और अण्डक का आधे भाग से निकास करना चाहिए। दूसरा अण्डक-सहित शृंग उसी के समान पद-मध्य-गामी होता है। मल्लच्छाद्य की ऊंचाई आधे भाग से बनानी चाहिए। एक पद का उन्नत शिखर गर्भ की दीवाल के समान होता है। एक भाग वाला कलश तथा प्रासाद-ध्वजा उसी के समान। इसके मूल शिखर का विस्तार छै भाग से करना चाहिए। और ऊंचाई एक भाग से अधिक कल्याणाभिलाषी लोग बनावें। तिलक-शृंग के ऊपर शिखर की ऊंचाई एक पद के प्रमाण से होती है, पांच अंश से विस्तृत वह होता है। शेष निर्माण श्रीवत्स प्रासाद के समान करवाना चाहिये। इस प्रकार से उज्जयन्त-नामक इस प्रासाद का सम्यक् वर्णन किया गया। यह शुभ-लक्षण प्रासाद सब देवों के लिए बनाना चाहिये। ॥८०½—८६½॥

चित्रकूट प्रासाद से जिस प्रकार विमल आदि प्रासाद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इस उज्जयन्त प्रासाद से मेरू-प्रभृति पांच प्रासाद उत्पन्न माने गये हैं—मेरू, मन्दर, कैलाश कुम्भ तथा गृह-राज—ये पांच शुभ लक्षण प्रासाद बताये गये हैं। इस प्रकार यहां पर विद्वानों ने एक सौ आठ प्रासाद बताये हैं। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ तथा साधारण प्रासादों की यह संख्या है। उनमें कुछ तो अलिन्दों से युक्त और कुछ भद्रों से वेष्टित होते हैं और कोई सर्वशोभन वर्णसम प्रासाद बनाने चाहिये। ये सब प्रासाद प्रमाण-भाग-प्रतिष्ठत बनाने चाहियें। इनके कोण विषम नहीं बनाने चाहियें। इन का वर्ग-भेद भी इष्ट नहीं होता। एक-हस्त, द्विहस्त, त्रिहस्तादि, जो बताये गये हैं,, वे यक्ष, नाग, ग्रह आदि तथा राक्षसों के होते हैं। एक भाग से इनके विशेष निर्दिष्ट करना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ अंश प्रमाण से समझना चाहिये। ज्येष्ठ साढे तीन हाथ वाला मध्य तीन हाथ वाला तथा कनिष्ठ ढाई हाथ वाला बताया गया है। दूसरा ज्येष्ठ तीन हाथ वाला मध्य हस्त-समन्वित तथा कनिष्ठ अर्धहस्त भाग के प्रमाण से प्रोकीर्तित किया गया है। ज्येष्ठ भाग दो हाथ वाला मध्यम पाद कम एक हाथ वाला तथा कनिष्ठ मध्य के आधे से इस प्रकार हस्तों के द्वारा भाग-प्रमाण बताया गया है। ८६½—९९½

इस प्रकार श्री कूट आदि इन छत्तीस प्रासादों का यथावत् वर्णन किया गया। इनके छै पट्क-प्रभेदों का भी उल्लेख किया गया॥ १००॥

षष्ठ पटल

द्राविड-प्रासाद

१. पाच पीठ तथा पाच तलच्छन्द प्रासाद

२. एकभौमिक से लगा कर द्वादशभौमिक द्राविड विमान प्रासाद

पीठ-पंचक-लक्षण

अब शुभ-लक्षण द्राविड प्रासादो का वर्णन करता हूं। वे एक-भौम से लेकर द्वादश-भौम तक होते है। उनके पाँच पीठो का लक्षण कहा जाता है और उनके जो शुभ लक्षण पाँच तलच्छन्द हैं, उनका भी वर्णन किया जाता है। ॥ १-२ ॥

प्रथम उत्तम पीठ पाद-बन्धन नाम से पुकारा जाता है। दूसरा श्रीवन्धन, तीसरा वेदि-बन्धन, चौथा उत्तम पीठ प्रतिक्रम नाम से बताया गया है और पाँचवा पीठ क्षुरक-बन्धन के नाम से उद्दिष्ट किया गया है; ये पाँच पीठ सक्षेप से बताये गये है। ३-५½।

पाद-बन्धन —पादबन्धन पीठ में ऊंचाई को बीस भागों मे विभाजित करना चाहिये। उन मे पाच भाग वाला खुरक, दो भागो के प्रमाण से पद्म पत्रिका और एक भाग वाली कणिका होती है। साथ ही साथ कुमुद एक भाग वाला होता है। *कठ तो एक भाग से और कणक दो भाग वाला। पट्टिका एक भाग के प्रमाण से* और पद्म-पत्रिका भी एक भाग वाली होती हैं। नासिका के साथ कपोत का निर्माण तीन भाग से करना चाहिये। पाद-बन्धन-नामक पीठ मे छेद एक भाग से बनाया जाता है। खुरक से दो अगुल प्रमाण मे पद्मपत्री का प्रवेश होता है और उसका ग्रास छै अगुल वाला कुमुद सप्त अगुल निर्गत। प्रवेश का प्रमाण *तब तक होता है जब तक कि छेद-पट्टिका होती है। छेद-पट्ट का प्रवेश छै* अगुल से बनाना चाहिये। छेद और कणिका का प्रमाण समान बनाना चाहिये और फिर निर्गम के द्वारा उससे दो अगुल वाली कठ-पट्टिका बनाई जाती है। उसका पद्म पत्रिका-विनिर्गम तीन अगुल के प्रमाण से होना है। कपोतादि अन्य विच्छित्तियाँ भी तथैव निर्मेय हैं। इस प्रकार से इस पादबन्धन-नामक पीठ का वर्णन *किया गया है ॥ ५½—१३½ ॥*

श्रीबन्धन अब श्रीवन्धन नामक पीठ का वर्णन किया जाना है। पीठ च्छेद के प्रमाणो को २७ भागों मे विभाजित करना चाहिये। प्रथम अवयव चतुर्भाग वाला तथा पद्म-पत्रिका दो भाग वाली, एक भाग वाली कणिका तदनन्तर तीन भाग वाले कुमुद का निर्माण करना चाहिये। छेद एक पद

वाला समझना चाहिये और उसी प्रकार अन्य अवयव निर्मेय है। एक भाग वाला मकर तथा उसी प्रकार से मकर-पट्टिका बनानी चाहियें। एक पद वाला छेद तथा एक पद वाला कठ जानना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से पट्टिका तथा तदनन्तर उसी प्रमाण से वेदी। छेद एक पद वाला करना चाहिये। तदनन्तर दो भाग वाला कठ बनाना चाहिए। पट्टिका एक भाग के प्रमाण से तथा पद्मपत्रिका का प्रमाण भी शास्त्रानुकूल बताया गया है। तीन पद के प्रमाण से नालिकायुक्त कपोत का निर्माण करना चाहिये। इस श्रीवन्धन नामक पीठ मे एक भाग वाला छेद बनाना चाहिये। इस प्रकार से यह श्रीवन्धन नामक पीठ प्रसिद्ध होता है॥ १३$\frac{1}{3}$—१८॥

वेदी-बन्धन—अब वेदी-बन्धन नामक पीठ का वर्णन किया जाता है। पीठ के उच्छ्राय का १६ भागो के प्रमाण से विभाजन करना चाहिए। चार भाग वाली गीडर्वति और पद्म पत्रिका दो भाग वाली बनाई जाती है। एक पद वाली कणिका और तीन पद वाला कुमुद समझना चाहिये। एक पद वाला छेद तथा उसी प्रकार बुध लोग अन्य निर्माण बनाते है। एक भाग से मकर तथा मकरपट्टिका का निर्माण करना चाहिये। एक पद वाला छेद तथा द्विभागिक कठ तथा एक भाग वाली पद्म-पत्रिका होती है। दूसरी विच्छति एक भाग वाली और तीन भाग वाला कुमुद बनाना चाहिये। छेद एक पद वाला समझना चाहिये, तदनन्तर कठ दो भाग वाला। पट्टिका एक भाग वाली तथा पट्टिका भी उसी प्रकार से बनानी चाहिये। इस प्रकार से प्रतिक्रम पीठ का वर्णन किया गया॥ १८—२५$\frac{1}{3}$॥

प्रतिक्रम पीठ का वर्णन नही किया गया परन्तु इति　कहने से अवसान प्रतीत होता है　गलित ?

क्षुर-बन्धन—अब क्षुरबन्धन-नामक पीठ का वर्णन किया गया। पीठ की ऊंचाई विचक्षण लोग २० भागो से विभाजित करते हैं। चार भाग वाली नीडवर्ति तथा पद्म-पत्रिका भी तथैव कल्प्य। एक भाग के प्रमाण से कणिका तदनन्तर दो भाग के प्रमाण से कुमुद। एक भाग वाला मकर माना गया है। तदनन्तर मकर-पट्टिका एक भाग के प्रमाण से बनानी चाहिये। छेद एक पद वाला और फिर कठ भी एक पद वाला बनाना चाहिये। पट्टिका और पद्म-पत्रिका एक २ भाग से समझनी चाहिये। नागिका के साथ तीन पद वाला

कपोत बनाना चाहिये। छेद एक भाग वाला बनाना चाहिये। इस प्रकार से इस क्षुरबन्धन-नामक पीठ का वर्णन किया गया ॥२६—२६॥

इस प्रकार इन पाँच पीठों का वर्णन किया गया। इनका मूनण प्रथम ही प्रतिपादित किया जा चुका है। पीठ के ऊपर तो विद्वानो को खुरवरण्डिका समझनी चाहिये। और भी लक्षण-भेद से अनेक प्रकार के पीठ होते हैं। अत उन मे प्रकृष्टता के कारण इन पाँच पीठों का वर्णन किया गया।
॥ ३०—३१ ॥

पञ्च तलच्छन्द - अब तलच्छन्दों के बाद प्रासादों का वर्णन करूंगा। यहाँ पर पद्म, महापद्म, वर्धमान, स्वस्तिक तथा सर्वतोभद्र—ये पाच तलच्छन्द बनाये गये हैं ॥ ३२—३३½ ॥

चौकोर क्षेत्र में वर्णसूत्र को फैलाना चाहिये। फिर कर्ण को आधा कर व उसको बाहर लाना चाहिये। उन दोनों के अग्र भाग मे सूत्र-पात से दूसरा चौकोर (चतुरश्रद) बनाना चाहिये। विचक्षण मनुष्य के समसूत्र से वहाँ पर दो भाग के प्रमाण से कूट का निर्माण करना चाहिये। सूकरानन के संस्थान मे सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। इसप्रकार से सब कूटो मे सलिलान्तर इष्ट माना गया है। सूत्र के चार भाग से विभाजित क्षेत्र में जितनी लम्बाई हो, उससे दो भाग वाला गर्भ और एक भाग वाली दीवाल बतायी गई है। गर्भवर्ण का आधा ले कर पुन कोणान्त का लाछन करना चाहिये। अन्य कल्पन भी तद्वैव वरणीय हैं। इस प्रकार से पद्मनामक-प्रासाद का तलच्छन्द विचक्षणो को बनाना चाहिये ॥ ३३½—३८ ॥

अब महापद्म-नामक प्रासाद के तलच्छद का वर्णन करता हू। प्रथम जो इस तलच्छद का कीर्तन किया गया है, उन म दिशाओ और विदिशाओं के अन्तर मे अन्य कल्पन विहित है। वहा पर बाहर के भाग से विनिर्गत आधे कर्ण से देना चाहिये। ऐन्द्र और आग्नेय इन दोनो दिशाओं के मध्य मे जो लाछन व्यवस्थित होता है, उसे नैर्ऋत्य और दक्षिण इन दोनो दिशाओ के मध्य मे उस से वहा पर फैलाना चाहिये। नैर्ऋत्य और वारुण के मध्य से वायव्य और वारुण दिशाओं के अन्तर मे तथा वायव्य तथा वारुण दोनो के मध्य से ईशान कोण और चन्द्र दिशा के अन्तर मे यह लाछन फैलाना चाहिये। .. ....दोनो करो के मध्य मे सूकर-मुख-सदृश वह होता है। राजाओ से पूजित यह महापद्म का तलच्छद वर्णित किया गया। ३६-४४½।

अब वर्धमान के तलच्छन्द का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र को आदि से १५ भागों में विभाजित करना चाहिये। दो भाग वाला कूट तथा यथा-प्रमाण सलिलान्तर। पञ्जर यथा-शास्त्र भाग वाला तथैव सलिलान्तर। चार भाग वाली शाला होती है। इन शालाओं में जल-मार्ग का प्रवेश तो आधे भाग से होता है। बाहर से शुभ दर्शन आठ अगुल के प्रमाण में विनिर्मित 'विनिष्क्रान्त' में भाग के एक पाद के प्रमाण से प्रवेश जल-मार्ग से पञ्जरान्त कहा गया है। और आधे भाग के प्रमाण से प्रवेश तो जलमार्गान्वित विहित है। तीसरा सलिलान्तर एक भाग के प्रमाण से बनाया जाता है। तदनन्तर डेढ़ भाग वाला पञ्जर बनाया जाता है। एक भाग के प्रमाण से तलच्छद का यथावत् वर्णन किया जाता है।* चौकोर क्षेत्र का १८ भागों में विभाजन करना चाहिये। चार भाग प्रमाण से कूट तथा तथैव सलिलान्तर बनाना चाहिये। उसी प्रकार ३ भाग वाला पञ्जर और दो भाग वाला सलिलान्तर बनाना चाहिये। दो भाग वाली शाला और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। फिर चन्द्रशाला - विभूषित पंजर ३ भाग के प्रमाण से बनाया जाए। फिर चौथा सलिलान्तर दो भाग वाला बनाना चाहिये और सुशोभन न्यक चार भाग से निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार से सभी दिशाओं में बराबर २ भागों से प्रकल्पन करना चाहिये। तदनन्तर चतुर्थ-भाग क्षेत्र में दो भाग का गर्भ बनाना चाहिये। स्वस्तिक और वर्धमान में दीवालें एक २ भाग वाली बतायी गयीं हैं। इस प्रकार इस अति मनोहर स्वस्तिक-प्रासाद-सम्बन्धी तलच्छद का वर्णन किया गया ॥४८½-५५॥

अब सर्वतोभद्र के तलच्छद का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र में दो भाग का गर्भ बनाना चाहिये। तीन भाग का कूट और दो भाग का जल-मार्ग बनाना चाहिये। तदनन्तर फिर ३ भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। आठ भाग वाली शाला और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाया जाता है। फिर ३ भाग वाला कूट और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में ३ भाग वाली रथिका होती है। चौकोर क्षेत्र २८ भागों में विभाजित कर के ३ भाग वाला कूट बनाना चाहिये। चार भागों में विभाजित उस में एक २ भाग वाली दीवालें बनानी चाहियें और दो भाग वाला गर्भ। इस प्रकार से यह सर्वतोभद्र का तलच्छद बनाया जाता है॥ ५६-६१½ ॥

* यहां पर इस वर्धमान-तलच्छन्द का लक्षण समाप्त अनुमित होता है।

यह तलच्छन्द निरधार (without circum-ambulatory passage) बताये गये हैं। अब सान्धारों का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र को १२ पदों से *विभाजित करना चाहिये।* चार भाग से गर्भ होता है और एक २ भाग की दीवालें बतायी गयी हैं। एक भाग वाली अन्धकारिका और दो भाग वाली बाहर की दीवालें होती हैं। इस प्रकार से यह पद्म-आदि तलच्छन्द बताये गये हैं॥ ६१½-६३॥

इस प्रकार से प्रासादों के इन पाच पीठों का नाम-लक्षण-पूर्वक वर्णन किया गया और पाच जो तलच्छन्दों के भेद बताये गये हैं—उन के जानने से स्थपति इस लोक मे पूजित होता है॥ ६४॥

द्राविड-प्रासाद-लक्षण

एक-भौमिक :—अब ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। सभी का प्रमाण कर्णमान से लेना चाहिये। यहा पर एकभौम प्रासाद पात्र हस्त विस्तृत तथा दो अंगुल और सप्त हस्त उन्नत बनाना चाहिये। ऊंचाई में पाद-सहित दो हस्त सब अलकारों से विभूषित ये अवयव निर्मेय है। माला तो दो स्तर वाली और एक स्तर वाला लशुनक तथा भरण भी एक स्तर वाला होता है। भरण का आधा दो स्तर वाला और इस के बाद कलश आदि भी तथैव विहित हैं—ये सब समझना चाहिये। पद्म-पत्र-समन्वित कुलक का निर्माण दो स्तर से करना चाहिये। उस के ऊपर फिर एक स्तर में मेटक (?) बनाना चाहिये। दो स्तर वाला हीरक उसी प्रकार मकर-पट्टिका भी। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और वसन्त दो स्तर वाला बताया गया है और ऊपर वसन्त-पट्टिका एक स्तर से बनायी जाती है। नासिका-युक्त कपोत तो स्तरों में बनाना चाहिये। उस के बाद उस के समान मकर-पट्टिका। फिर एक स्तर वाला छेद तदनन्तर वेदी-बंध भी उसी प्रमाण से और छेद एक स्तर के प्रमाण से और तदनन्तर कण्ठ दो स्तर वाला। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और उसी प्रकार से पट्टिका। माला आदि पद्म-पत्र के अत तक दो हाथ की ऊंचाई बतायी गई है तथा कूट का समुत्सेध डेढ वाला बताया गया है। उस के उपर नासिका और पद्म से युक्त कलश होता है। एक-भौम प्रासाद का यह प्रमाण बताया गया। १-१२।

द्वि-भौमिक :—द्विभौमिक प्रासाद का लक्षण अब कहा जाता है। इसकी ऊंचाई आदि यथानुकूल विहित है। अब विभाग कहा जाता है। दो भाग मे बीज की रचना करनी चाहिये और ढाई हाथ से जंघा। कूट का यह सन्निवेश सभागिक समझना चाहिये। दूसरी जंघा तो फिर उसकी एक भाग वाली बनानी चाहिये। दूसरे कूट का सन्निवेश आधे भाग से होता है। कण्ठादि सभी सब दिशाओं मे निर्मेय हैं। उसके ऊपर मे डेढ भाग मे उन्नत घंटा बनानी चाहिये। नासिका और पद्म से युक्त घटा विद्वाना

के द्वारा बनानी चाहिये। पूर्वोक्त पाद-बधनादि नाम से पाचो पीठो के अनुसार क्रमश भूमिकाओ का निर्माण करना चाहिये। उनको शोभावह जो कुछ हो सके वह करना चाहिये। उसके ऊपर मालादि-शोभीता जघा होती है और उसी के समान वीरगड से समन्वित कलश और भरण पद्म-पत्र-मुक्त, तदनन्तर उच्छालक पूर्व प्रमाण से होता है। फिर वीरगण्ड का निर्माण करना चाहिये और हीर का भी पूर्व-क्रम से निर्माण होता है। उसके ऊपर से पट्टिका के सहित पट्ट का निर्माण होता है। उसके ऊपर बसत-वेदी और उसके ऊपर पट्टिका भी। तदनन्तर कपोत छेद, तथा मेढादि भी। मकर-पट्टिका और वेदी तथा कठ और पट्टिका, वेदी, छेद, और कठ-पट्टिका और पद्म-पत्रिका भी होते है। उसके ऊपर नासिका-युक्त विचित्र कूट का निर्माण करना चाहिये। छेद तक पूर्व प्रमाण से ही यह सब बनाना चाहिये। सब आभरणो से भूषित उसके ऊपर जघा बनानी चाहिये। तदनन्तर माला फिर लशुन पुन तोरण और कलश। तदनन्तर वीरगड-उच्छालक, पत्रक, वीरगडक, हीरक, पट्टिका, उसी के समान वसन्त-पट्टिका और फिर कपोत, छेद, मेढ और मकर-पट्टिका। छेद, कर-पट्टिका, वेदी छेद और कठक, पद्मपत्रिका, पट्टिका बनानी चाहिये। उसके बाद सब आभरणों से युक्त छेद का निर्माण करना चाहिये। फिर छेद करके सब कार्य यथा शोभा सम्पादन करने चाहिये। तदनन्तर अन्य विच्छित्तिया भी देनी चाहिये और फिर पट्टिका और पद्मपत्रिका। इसके बाद चन्द्रमाला-विभूषित कठ बनाना चाहिये। फिर ऊपर से विचक्षण लोग छेद का निर्माण करते है। उसके ऊपर कठ-पट्टिका से युक्त कठ-पट्टिका होती है। उसके बाद सात अगुलो से घटा विनिर्गम बनाना चाहिये। उसका विस्तार आधे भाग से और विस्तार के आधे से ऊचाई। इस प्रकार से द्विभौम प्रासाद का वर्णन किया गया। ॥१३—३२॥

त्रिभौमिकः—अब तीसरा त्रिभौम प्रासाद का वर्णन किया जाता है। उसका ११ हाथो से विस्तार और १५ हाथो से ऊचाई होती है। और इनकी ऊचाई १४ अगुल अधिक होती है। इन भूमिकाओ मे इसका निश्चित वर्णमान होता है। वहा पर यादि मे पूर्वसूचित दो हस्त के प्रमाण से पीठ का निर्माण करना चाहिये। तीन भाग की ऊचाई से जघा और एक भाग की ऊचाई वाला कूट बनाया जाता है। तदनन्तर ढाई भाग के प्रमाण मे तीसरी जघा बनायी जाती है। और एक भाग के प्रमाण से चन्द्रशाला-विभूषित कूट का प्रसार होता है।

फिर तीसरी जघा दो भाग से उन्नत होती है। तदनन्तर भूषणान्वित कूट का प्रस्तार एक भाग वाला। एक भाग से वेदी-बन्ध चारो दिशाओ मे शोभ्य है। यह चारो दिशाओ मे यथोचित शोभ युक्त बनाना चाहिये। घटा का छेद चार अगुल सहित दो भागो का प्रमाण होना चाहिये। उसके ऊपर ११ स्तर बनाये जाते हैं। अब इसके पीठ के ऊपर निर्मित प्रविभागो का वर्णन किया जाता है। यथानुकूल एक हाथ के प्रमाण से जघा, माला तो दो स्तर वाली बताई गई है और तदनन्तर लशुन एक भाग वाला। भरण एक स्तर वाला और कलश भी उसी के समान। वीरगड-समायुक्त उच्छाल दो स्तर वाला होता है। दो स्तर के प्रमाण से हीरक और एक स्तर के प्रमाण से वामन्त-पट्टिका बनायी जाती है। फिर नासिका-युक्त कपोत तीन स्तर मे बनवाना चाहिये। प्रस्तर प्रमाण से छेद और उसी के समान मेढ होते हैं। मकर एक स्तर के प्रमाण मे और उसके आधे से पट्टिका। उसके बाद उसी तरह एक स्तर से छेद और कठ बनाना चाहिये। अर्धस्तर छेद और सार्धस्तर कठ समझना चाहिये। पट्टिका और पद्म दोनो एक एक स्तर वाले होते है। शेष मे सुन्दर कठ विचक्षण लोग बनाते हैं। इसके बाद दूसरी जघा ९ स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। मध्य मे उसका निर्माण करना चाहिये और उसके ऊपर उसको विभाजित करना चाहिये। उसी प्रकार एक स्तर के प्रमाण से माला होती है और आधे स्तर मे लशुन। पूर्व-निर्दिष्ट लक्षण से भरण समझना चाहिये तथा वीरगड से युक्त कलश होता है। पद्म-पत्रिका से युक्त उच्छालक एक स्तर के प्रमाण से बनाया गया हैं। वीरगड एक स्तर के प्रमाण से और आधे भाग से हीरक समझना चाहिये। उसी प्रकार से पट्ट का भी निर्माण करना चाहिये। आधे स्तर मे पट्टिका बनती है तथा वसन्त और वामन्त-पट्टिका भी आधे स्तर से बनती है। कुछ लोग नासिका सहित कपोल का निर्माण तीन स्तर से करते हैं। आधे स्तर मे छेद और उसी के समान मेढ समझना चाहिये। एक स्तर वाला मकर और आधे भाग के प्रमाण से पट्टिका होती है। एक भाग के प्रमाण से छेद और उसके ऊपर एक स्तर के प्रमाण से कठ बनाया जाता है। पट्टिका और वेदिका दोनो दोनो एक एक स्तर बनायी जाती है। आधे भाग से छेद और डेढ भाग से कठक बनाना चाहिय। तथा पट्टिका और कमल-पत्रिका एक भाग स बनानी चाहिय, तदनन्तर नासिका-सुविभूषित कूट का निर्माण करना चाहिये। उसी प्रकार तीसरी जघा चार स्तरो से कल्पित होती है। माला एक स्तर के प्रमाण से और लशुन भी एक स्तर के प्रमाण से समझना

चाहिये। भरण और कुम्भ एक एक स्तर से बनते है। उसके ऊपर वीरगंड-युक्त उच्छाल होना है। वीरगड की ऊंचाई एक स्तर से बनानी चाहिये। तदनन्तर बुद्धिमान् को एक भाग से हीरक बनाना चाहिये। डेढ भाग से पट्टी और आधे स्तर से पट्टिका बताई गई है। तथा वसन्त और वमन्त पट्टिका एक एक स्तर से होते है। दो स्तर वाला कपोत, आधे स्तर छद और एक स्तर वाला मेटक होते है। एक भाग वाला मकर और आधे भाग वाली पट्टिका होती है। मेट एक भाग का और एक भाग के प्रमाण से कठ बताया गया है। पट्टिका, वेदिका, तीनो ही अलग अलग आधे स्तर के प्रमाण से होते हैं। आधे स्तर वाला कण्ठ और आधे भाग वाली पीठिका बनानी चाहिये। उसके ऊपर पद्मपत्रिका का निर्माण आधे भाग से करना चाहिये, उसके बाद विचित्र लक्षण युक्त कूट का निर्माण करना चाहिये। एक स्तर के प्रमाण से छेद और कठ भी उसी प्रमाण से होते हैं। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और वेदी दो स्तर के प्रमाण से होती हैं। छेद एक स्तर वाला, तदनन्तर कठ दो स्तर के प्रमाण से बनाया जाता है। पट्टिका और पद्मपत्रिका एक एक स्तर के प्रमाण से बनानी चाहिये। तदनन्तर २० स्तर के प्रमाण से घटा बनायी जाती हैं। सब तरफ से सबके कुम्भ ११ स्तर के प्रमाण से होते है। इस प्रकार इस निर्भौम प्रासाद का वर्णन किया गया। ॥३३—६६½॥

चतुर्भौमिक—अब चतुर्भौमि प्रासाद का वर्णन किया जाता है। १५ हस्तो के विस्तार से क्षेत्र का विस्तार करना चाहिये। २०¾ हस्तो से उसकी उचाई करनी चाहिये। दो हाथ से पीठ और तीन हाथ से उन्नत जघा बनानी चाहिये। सब अलकारो से अलकृत कूट का निर्माण डेढ भाग से होता है। एक पाद कम तीन हाथो से दूसरी जघा बनानी चाहिये। उसके ऊपर से दूसरा कूट पाद-सहित एक हस्त के प्रमाण से बनाना चाहिये। फिर ढाई हाथ के प्रमाण से तीसरी जघा बनानी चाहिये। तदनन्तर एक हाथ के प्रमाण से कूट का प्रस्तार होता है। चौथी जघा ढाई हाथ के प्रमाण से बनाया जाता है। फिर उस के बाद कूट का प्रस्तार एक हाथ से होता है। पादसहित दो हाथो के प्रमाण से उन्नत चौथी जघा बनायी जाती है। कूट का प्रस्तार एक हाथ के प्रमाण से और उसी प्रकार वेदी-बन्ध बनाना चाहिये। गर्भ के आधे विस्तार से विस्तृत और तीन हाथ से उन्नत घटा बनाई जाती है। उनके ऊपर स्थित कुम्भ चौदह स्तर के प्रमाण से होता है। इस प्रकार से यह हस्तो की

संख्या बतायी गई। अब विभाग का वर्णन किया जाता है। दो हाथ की ऊंचाई से पीठ और जघा की अलकृति १० भाग वाली कही जाती है। तदनन्तर दो स्तर वाला उच्छालक होता है। वीर-गण्ड एक स्तर वाला, हीरक दो स्तर वाला समझना चाहिये। पट्ट भी तथैव बोधव्य है, तदनन्तर पट्टिका बनायी जाती है। दो स्तर वाला वसन्त विहित है तथा वासत-पट्टिका भी बनायी जाती है। कपोत तीन स्तर वाला और एक भाग के प्रमाण से छेद बनाया जाता है। मेढ एक स्तर वाला और कठ की पट्टिका भी एक स्तर वाली बनायी जाती है। एक भाग की वेदी बनाना चाहिये। और उसके बाद छेद म भी एक भाग का कठ बताया गया है। फिर दो स्तर के प्रमाण से पट्टिका बनानी चाहिये। इसी प्रकार से पद्म पत्रिका होती है और घटा पाँच स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। विचित्र एव लक्षण सहित फिर कुभ का निवेश करना चाहिये। जघा का स्तम्भ आठ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। माला द्विस्तरा बनाना चाहिये। भरण और कलश एक ही प्रमाण के बनते है। वीरगड से युक्त उसी प्रकार का उच्छालक होता है। वह दो स्तर वाला समझना चाहिये। वीरगड एक स्तर के प्रमाण से होता है। हीरक दो स्तर मे समझना चाहिये और उसी प्रकार से पद्म। पट्टिका एक स्तर वाली और वसत दो स्तर वाला। वसतपट्टिका का एक भाग से तथा कपोत तीन स्तर से उन्नत होना है। एक भाग वाला मेढ बनाना चाहिए। तथा मेढर एक स्तर मे भी कल्प्य है मकर तथा मकर पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से। कठ भेद एक स्तर के प्रमाण से और पट्टिका एक भाग के प्रमाण मे बनायी जाती है। वेदिका एक स्तर से और आधे से छेद बनाना चाहिये। डेढ स्तर स कठ और एक स्तर के पट्टिका बनानी चाहिये। अम्भोज पत्रिका को एक भाग से और घटा को चार स्तर से बनाना चाहिये। वह ग्रासाव से अलकृत होती है उसके ऊपर कुम्भ का निर्माण करना चाहिये। तीसरी भूमिका म जघा का स्तम्भ सप्तांश विहित है। तदनन्तर माला, लशुन, भरण, कुम्भक अडक, उच्छाल गडक और हीर प्रत्येक एक स्तर वाले होते है। पद्म को डेढ स्तर का समझना चाहिये और आधे भाग म पट्टिका। एक भाग के प्रमाण से वसत और वासतपट्टिका होते हैं। तीन स्तर वाला कपोत और उस के बाद एक स्तर वाला छेद बनाना चाहिये। तदनन्तर मेढ और मकर एक २ स्तर से बनाने चाहिये। उस की पट्टिका आधे भाग से और उसी प्रमाण से होती है। कठ, वेदी और पट्टिकायें तीनो एक २ स्तर से

बनाये जाते हैं। आधे स्तर से छेद और डेढ स्तर से कठ बनाये जाते हैं। आधे भाग से पट्टिका और उसी प्रमाण से पद्म-पत्रिका बनायी जाती है। गुण-द्वार-समन्विता घटा चार भाग वाली होती है। घटा के ऊपर स्थित कुम्भ का निर्माण दो स्तरो से करना चाहिये। इस प्रकार से द्राविड प्रासाद की तीसरी भूमि का वर्णन किया गया। अब चौथी भूमि का वर्णन किया जाता है। महास्तम्भ-समन्विता जघा बनानी चाहिये। उसी प्रकार से माला, लशुन, भरण और कुम्भ तथा उच्छाल, गडक और हीर अलग २ निर्मेय है। यह डेढ भाग से और पट्टिका आधे स्तर से होते है। वसत और वासत-पट्टिका एक २ स्तर से होते है। दो स्तर से कपोत और आधे स्तर से छेद समझना चाहिये। उसी प्रकार मेठ और मकर का निर्माण विद्वान् लोग करते हैं। मकरपट्टिका मे छेद एक स्तर वाला समझना चाहिये। एक स्तर वाला कठ और आधे स्तर वाली पट्टिका होती है। उसी प्रकार से वेदिका बनायी जानी चाहिये। फिर आधे स्तर से छेद होता है। कठ-देश को विचक्षण लोग डेढ भाग से बनाते हैं। पद्म-पत्रिका तो एक स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। गुण-द्वार-विभूषिता घटा दो स्तरो के प्रमाण से बनानी चाहिये। ऊपर कमलानन कुम्भ का निर्माण दो स्तरो से करना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से छेद तदनन्तर दो स्तरो से कठ बनते है। पट्टिका तो एक स्तर से और वेदिका दो स्तरो से। फिर छेद एक भाग और कठ भागानुसार बनाया जाता है पट्टिका और अम्भोज-पत्रिका एक २ स्तर से होती हैं। गर्भ के आधे भाग मे विस्तृत और बीस स्तरो से घटा होती है। मनोज्ञ चन्द्रशालायें चारो दिशाओ पर बनानी चाहियें। इस प्रकार से पद्म, महा-पद्म, स्वस्तिक, वर्धमान और सर्वतोभद्र प्रासादो मे इसी घटा का निर्माण विद्वानो को करना चाहिये। इस प्रकार से यह चतुर्भौम प्रासाद इच्छानुसार तलच्छन्द होता है ॥ ६६½—१०६½ ॥

पञ्च-भौम —अब राज-पूजित पचभौम प्रसाद का वर्णन करता हूँ। वह २१ हस्त के विस्तार से बनाना चाहिये। फिर उसकी ऊचाई को पाद कम ३००? हस्तो से विभाजित करना चाहिये। ढाई भाग से पीठ साढे तीन वाली जघा बनानी चाहिये। कूट का प्रस्तार बुद्धिमान् को डेढ हाथ मे करना चाहिये। दूसरी जघा तीन हस्तो से समुन्नत बनाना चाहिये। फिर डेढ हाथ से कूट का प्रस्तार करना चाहिये। तीसरी जघा एक पाद कम ३ हाथों में बनाना चाहिये। कूट का प्रस्तार डेढ हाथ का इष्ट होता है। चौथी जघा

ढाई हाथ से उन्नत होती है। कूट प्रमाण से ही बुद्धिमान् कूट का प्रस्तार करते हैं। पाचवी भूमि म दो हस्त के प्रमाण स जघा बनाई जाती है और कूट का प्रस्तार जैसे पहिले बताया गया है वही ठीक है। बुद्धिमान् को दो हाथ की ऊचाई से कपोत का निर्माण करना चाहिय। चार भाग के उत्सेध म महा घटा बनाई जाती है। उसके ऊपर इक्कीस स्तरा से कुम्भ बनाना चाहिय। यह मस्थान मवतो भद्र सनक प्रासाद म फिर स्तर विभाजन म विषय विभाजन करना चाहिये। श्रीवर्धन नामक पाठ ढाई हाथ की ऊचाइ म बनाना चाहिय। चौदह स्तर से स्तम्भ-युक्ता जघा का निर्माण करना चाहिय। दो स्तर वाली माला और एक स्तर के प्रमाण से नगुन बनाना चाहिय। सभा स्तर पद्म-कुम्भ गण्डादि-समन्वित निर्मेय ह। दो स्तर म उच्छान का निमाण किया जाता है। दो स्तर के प्रमाण स हारक और उसी प्रकार पट्ट बनाय जान चाहिये। पट्टिका एक स्तर से वसन्त दो स्तर से वसन्त पट्टिका एक भाग से फिर कपोत तीन स्तर स बनाये जाते हैं। छेद और मेटक एक २ स्तर में। मकर एक भाग से और उसी प्रमाण स मकर पट्टिका। एक भाग का छेद और कठ बनाना चाहिये। विचक्षण लोग वेदी को बनाते है। एक भाग का छेद तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण म कठ बनाया जाता है। पट्टिका और पद्म पत्रिका एक २ स्तर म बनाना चाहिय। कूट प्रस्तार म पाच मकरानन बनाने चाहिये और उनको सब गुणो से युक्त और विचित्ररूपो से चित्रित सब दिशाओ म बनाना चाहिये। पट्टिका के ऊपर पाच स्तर वाली घटा होती है। वे घटायें विचित्र विचित्र एव अति उदार नासिकाओ म युक्त होती है। जिस प्रासाद के कूट कूट म सब तरफ से भद्र दिखाई पडते हैं वह शिल्पियो का श्रेष्ठ सर्वतोभद्र नामक प्रासाद हाता है। अवलम्बन से उसके बाद स्तम्भ का छेद निर्मित करना चाहिय। मठ के निगम म बुध लोग दो अगुल देत ह। तदनन्तर मकर का निगम पाच अगुला मे करना चाहिये। इसके बाद मेटक पट्टिका बराबर सूत्र से भूषित करना चाहिये। बुद्धिमान के द्वारा छेद का तो प्रवेश छै अगुल के प्रमाण स करना चाहिय। जिस प्रकार अन्य निमाण उसी प्रकार छेद का भा हाता है। पट्टिका का विनिगम दो अगुल के प्रमाण से बनाना चाहिय। कठ-पट्टिका दो अगुल के निकास से बनानी चाहिय। पद्म पत्रिका का निगम तदनन्तर ३ अगुल के प्रमाण से करना चाहिय। फिर पाच अगुल के (?) निगम होता है। यहा पर सब अलकारो से विभूषित घटा का

निर्माण करना चाहिये । तदनन्तर अन्य विधान होता है और उसके ऊपर भूमिका । दूसरी भूमिका की जघा आठ स्तरो से बनाई जाती है । माला आदि से लशुन तथा कलश और भरण एक स्तर के प्रमाण से बनाये जाते है और उसी प्रकार माला, उच्छाल और वीरगण्ड । विलक्षण लोग उच्छाल और हीरक-पट्ट के समान ही करते हैं । पट्टिका एक भाग की उचाई से और उसी प्र कार वसन्त और वासन्त-पट्टिका । तीन स्तर के उत्सेध से कपोत, छेद के आधे से मेठ, मकर और पट्टिका होती है । तदनन्तर छेद और कठ तथैव । पट्टिका उसी प्रकार बनाते है । तदनन्तर विद्वान् लोग माला के आधे से छेद का निर्माण करते है । फिर हीरक से सम्बन्धित कठ बनाना चाहिये । कपोतक मे पत्र-पत्रिका तीन भाग से, घटा को चार स्तरो से और उसके ऊपर दो स्तरो से कुम्भ का निर्माण करना चाहिये । फिर छेद एक भाग से और जघा सात स्तरो से बनाना चाहिये । . ? बनाने चाहिये और माला की उचाई दो स्तर वाली होती है । लशुन, भरण, कुम्भ, और गण्ड एक एक स्तर से । गड से दुगना उच्छाल और उसी प्रकार हीरपट्ट बनाया जाता हैं । इसकी पट्टिका और वसन्तपट्टिका एक एक स्तर मे होती है । दशगुना पीठ तथा छेद और मेढ एक एक स्तर से मकर और मकरपट्टिका बनानी चाहिये । छेद, कठ, पट्टिका और वेदिका एक २ स्तर से बनाई जाती है । फिर छेद एक भाग से तदनन्तर कठ उससे दुगुना होता है । पट्टिका और वसन्त-पट्टिका एक २ स्तर से । प्राग्रीव से विभाजित घटा चार स्तर वाली होती है । उसके ऊपर फिर कुम्भ घटा के आधे से ही बनवाना चाहिये । छेद एक भाग का समझना चाहिये और जघा सात अश की मानी गई है । दो भाग की माला और एक भाग वाला लशुन होता है। विद्वानो को लशुन के समान ही भरण, कुम्भक और गड का निर्माण करना चाहिये । उच्छाल, गडक और हीरकान्त एक २ भाग से । डेढ भाग से स्तर होता है । वसन्त-पट्टिका एक भाग के प्रमाण से होती है । नासायुक्त कपोत का निर्माण विचक्षण लोग तीन स्तर से करते है । छेद और मेठ एक २ अश से बनवाना चाहिये । मकर पट्टिका और छेद एक एक स्तर से बनवाना चाहिये । कठ, एक भाग वाली पट्टिका तथा वेदिका भी उसी प्रमाण से बनाई जाती है । फिर एक भाग वाला छेद तथा तदनन्तर दो भाग वाला कठ होता हैं । पट्टिका और पत्र-पत्रिका को एक २ स्तर से बनाना चाहिये । विचक्षणो को ऊपर चार भाग वाली घटा बनानी चाहिये ।

उसके ऊपर उसके आधे मे भाग वाला कुम्भ और छेद बनाया जाता है। छै भाग वाली जघा बनानी चाहिये। लशुन, भरण, कुम्भ, गड, उच्छालक और हीरक एक एक भाग वाले अलग बनाना चाहिए। पट्ट डेढ भाग से और पट्टिका आधे भाग की ऊंचाई वाली होती है। वसन्त और वसन्त-पट्टिका एक एक भाग से, कपोत को ६ स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये और छेद का तथैव निर्माण है। ग्रडक, मकर, पट्टिका, छेद कठ, कण्ठक, कठ, पट्टी, वेदी और छेद एक एक स्तर से होते हैं। दूसरा कठ दो स्तर वाला और पट्टिका एक भाग वाली होती है। उसी प्रकार से पद्मपत्रिका की ऊचाई होती है। घटा चार भाग वाली और उसका कुम्भ आधे से बनाना चाहिये। पुन छेद एक भाग मे तथा जघा ... भाग वाली होती है। माला एक भाग से और लशुन डेढ भाग मे बनाया जाता है। उसी प्रकार भरण, कुम्भ और उच्छाल एक एक स्तर के प्रमाण मे बनाना चाहिय। तदनन्तर हीरक एक भाग से और पट्ट डेढ स्तर मे बनाना चाहिये। तदनन्तर पट्टिका आधे स्तर से और वसन्त एक स्तर मे बनाना चाहिये। कपोत दो स्तर वाला और वेदी आधे स्तर वाली करनी चाहिये। जिस प्रकार छेद उसी प्रकार मेठ और मकर बनाया जाता है। पट्टिका तथा छेद भी आधे २ स्तर से बनाना चाहिये। कठ और पट्टिका एक भाग से तथा वेदी दो भाग मे बनायी जाती है। छेद एक भाग से करना चाहिये और दूसरा कठ तीन भाग वाला होता है। पट्टिका और पद्मपत्री को एक एक स्तर से बनाना चाहिये। उसके बाद दो भाग का तुग का चलन बनाया जाता है। ऊचाई मे ३३ भाग वाली घटा बनानी चाहिय और वह चन्द्रशाला-विभूषित सर्वतोभद्र-युक्त होती है। चित्र-पत्र-समन्वित पद्म तीन स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके ऊपर चौदह भाग वाला कुम्भ बना होता है। ग्रीवा और कर्ण दो २ भाग मे बनाना चाहिये। तदनन्तर आधे से शोभायुक्त बीजपूर का निर्माण करना चाहिए। पद्म-चक्र अथवा त्रिशूल का यथोचित निर्माण करना चाहिये। उत्तुगकूटक म इस प्रकार से दिशाओ विदिशाओ मे बनाना चाहिये। भूमि भूमि पर अनेक शालायें बनानी चाहियें। कोण म मकर और भद्र में शुण्डो को बनाना चाहिये। . तीन कूटो से युक्त और चार सलिलान्तरों से युक्त । इस प्रकार के लक्षण से लक्षित सर्वतोभद्र का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से पद्म, महापद्म, स्वस्तिक, वर्धमानक और सर्वतोभद्र—इन प्रासादो को एक-भौम प्रासाद से लगाकर साधारण क्रिया से पचभौम-पर्यन्त बनाना चाहिये। इन २०

भागो से पूर्वोक्त पाच लक्षणान्वित प्रासाद पीठ से लगाकर पद्या तक बनाये जाते है ॥ १०६½—१७२ ॥

षड्-भौम —अब षड्भौम आदि से ले कर द्वादश-भौमिक प्रासादो का वर्णन करता हू। तीस हस्त वाला षड्भौम एकान्त प्रासाद का वर्णन करता हू। उसकी ऊचाई ४१ हाथो म बनायी जाती है। उसका पीठ ढाई हाथ की ऊचाई बनाना चाहिये। ऊचाई म साढे चार हाथ म ज घा का निर्माण करना चाहिये। विद्वान् लोग इसका कूट-प्रस्तार डढ हाथ से उन्नत बनाते है। इसकी दूसरी ज घा चार हाथ क प्रमाण स बनाई जाती है। दूसरे कूट का उत्सेध डढ हस्त के प्रमाण से प्रकल्पित करना चाहिये फिर तीसरे कूट का प्रस्तार भी पूर्व प्रमाण से करना चाहिये। चौथी ज घा । ऊपर पूर्वोक्त मान से ही कूट का प्रस्तार करना चाहिये। पाचवी ज घा ३ हाथ की ऊचाई स बनानी चाहिये। तदनन्तर कूट का प्रस्तार डेढ हाथ से उन्नत बनाना चाहिये। छठी ज घा पाद कम तीन हाथ से बनायी जाती है और पहिले ही के समान वो कूट का प्रस्तार और तीन हस्त से उन्नत कपोत होता है। उसके ऊपर पाच हाथ उन्नत पद्मा होती है। फिर उसके ऊपर सुविचित्र पद्म छ अगुल का बनाना चाहिये। आभरणो से युक्त कुम्भ का निर्माण २१ भागो से करना चाहिये। इस प्रकार से इस षड्भूमिक प्रासाद का वर्णन किया गया है। ॥ १७३—१८२½ ॥

सप्त भौम —अब सप्त-भौमिक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। यह सप्त भौम प्रासाद ६५ हस्त के विस्तार म कहा गया है। तीन हाथ की ऊचाई से पीठ और पाच हाथ की जघा बनाना चाहिये। इसका कूट प्रस्तार साढे तीन हाथो से उन्नत किया जाता है। वदिका-बन्ध दो हाथ वाला और चार हाथ वाली जघा की ऊचाई मानी गई है। फिर कूट का प्रस्तार डेढ हाथ की ऊचाई स कहा गया है। डेढ हाथ से उन्नत वदी और जघा का निर्माण साढ तीन हाथो से होना चाहिये। फिर कूट का प्रस्तार डेढ हाथ की ऊचाई स बताया गया है। पाद-सहित एक हाथ वाली वदी और जघा । फिर कूट का प्रस्तार - डेढ हाथ उन्नत होना है। वदिका ब ध एक हाथ क प्रमाण म और ज घा का मध्य दो हाथो से। पाद सहित एक हस्त क प्रमाण से कूट का प्रस्तार और वदिका एक हाथ वाली होती है। पाद कम दो हाथ वाली जघा और कूट सवाव हाथ का होता है। हस्त-मात्र उन्नत वदी और डढ हाथ से उन्नत जघा बनायी

जाती है। यहा पर कूट का प्रस्तार एक हाथ के प्रमाण से होता है। कपोत ३ हाथ के प्रमाण से होता है। पद्म-शीर्ष-सहित घटा तो साढे पाच हाथ के प्रमाण से होती है। इस प्रकार से यह सप्त-भौम प्रासाद समुद्दिष्ट किया गया है। ॥ १८२½—१९१½ ॥

अष्ट-भौम—अब शुल-लक्षण अष्ट-भौम प्रासाद का वर्णन करता हू। उसके विस्तार को ४० हाथो से निर्मित करना चाहिये। ऊचाई तीन अश वर्जित, ५७ हाथो से होना चाहिये। पहिली भूमिका तो साढे नौ (९) हाथो से बनाना चाहिये। दूसरी भूमिका. ... आठ हाथो से और तीसरी भी आठ हाथों के प्रमाण से। चौथी सात हाथ वाली, पाचवी छै हाथ वाली, छठी पाच हाथ वाली और सातवी चार हाथ वाली। तदनन्तर आठवी तीन हाथ वाली होती है। वेदी-बन्ध दो हाथो के प्रमाण से होता है। चार हाथ वाली घ'ग बनानी चाहिय। इस प्रकार से यह अष्ट-भौम प्रासाद निर्मित होता है ॥ १९१½—१९८।

नव-भौमिक.—नवभौम प्रासाद का हस्तो के प्रमाण से वर्णन किया जाता है। ५० हाथ से विस्तृत और ७२ हाथ से वह उन्नत होता है। कर्ण का प्रमाण . — .. . पाच हाथ वाली घटा और उसके आर्ध मे वेदी-बन्ध होता है। इसकी नवी भूमिका को साढे तीन हाथ स बनाना चाहिये। आठवी को साढे चार, सातवी सवा पाच, छठा पाद-हीन छै हाथो से और पाचवी तथा चौथी पाद कम आठ हाथो से और तीसरी नौ हाथो से। इस प्रकार विलोम से यह नवभौम प्रासाद बताया गया है ॥ १९९—२००½ ॥

दश-भौमिक —अब दश-भौमिक प्रासाद का वर्णन करूगा। इसकी ऊचाई उन्नासी (७९) हाथ की और फिर पाद-सहित छप्पन्न हाथ से विस्तार माना गया है। इसके बाद कर्णमान से भागश वर्णन करता हू। पहिली भूमिका ग्यारह हाथ की ऊचाई से, दूसरी साढे दश, तीसरी दश, चौथी साढे आठ, पाचवी साढे सात, छठी सात, सातवी छै आठवी पाच, नवी चार, दसवी तीन हाथो के प्रमाण से समझनी चाहिये। वेदी अग्र-सहित दो हाथो के प्रमाण से बनानी चाहिये। साढे चार हस्त के प्रमाण से इस प्रकार से इस दशभौमिक प्रासाद म विन्यास का वर्णन किया गया है ॥ २००½—२०५ ॥

एकादश-भौमिक :—अब सक्षेप से एकादश-भौमिक प्रासाद का वर्णन करता हू। पैंसठ हाथो के प्रमाण से विस्तृत और बानवे हाथो के प्रमाण से उन्नत वह होता है। इस प्रकार से कर्ण-मान के द्वारा शास्त्रियो को यह प्रासाद समझना

चाहिए। उसकी पहिली भूमिका चौदह हाथो के प्रमाण मे उन्नत होती है, दूसरी साढे बारह, तीसरी ग्यारह, चौथी साढे नौ, पाचवी सवा आठ, छठी सात, सातवी छै, आठवी पाच, नवी साढे चार, दसवी चार और ग्यारहवी साढे तीन हाथो के प्रमाण म उन्नत बनायी जाती है। सवा दो हाथ से वेदी और साढे चार हाथ से घटा बनायी जाती है। इस प्रकार से यह एकादश-भौम प्रासाद ठीक तरह मे बता दिया गया ॥ २०६ – २११½ ॥

द्वादश-भौमिक – अब कर्ण-मान मे पञ्चानवे हाथ से उन्नत तथा सरसठ हाथ से आयत द्वादश-भौम प्रासाद का वर्णन करता हू। इसकी पहली भूमिका चौदह हाथ वाली बनायी जाती है। दूसरी ग्यारह, तीसरी साढे दस, चौथी दस, पाचवी साढे आठ, छठी साढे सात, सातवी सात, आठवी छै, नवी पाच, दसवी चार, ग्यारहवी तीन, और बारहवी ढाई हाथो के प्रमाण से बनायी जाती है। दो हाथ के प्रमाण मे वेदी-बन्ध बनाया जाता है। सब अलकारो मे अलकृत घटा चार हाथ से बनायी जाती है। स्तम्भ-वर्ण के प्रमाण मे विचक्षण लोग कुम्भ का निर्माण करते हैं। स्तम्भ से दुगुना उच्छाल और डेढ गुना हीर होता है। इस प्रकार से ये बारह द्राविड प्रासाद ठीक तरह से बताये गये। इनके पद्म, महापद्म, स्वस्तिक, वर्धमान सर्वतोभद्र—एतन्नामक तलच्छदो का निवेश करना चाहिये। एक भूमि से लेकर १२ भूमि तक यह निवेश समझना चाहिये। और ऊर्ध्व-मान उन पाचो मे सामान्य करना चाहिये। २११½—२१६ ॥

पाठ-तलच्छद तथा भूमिकाओ से विनिर्मित इन द्राविड नामक मुख्य प्रासादो का वर्णन किया गया। इनका यथा-शास्त्र-विधान भी प्रतिपादित किया गया। २२०।

सप्तम पटल

वावाट [वैराट] प्रासाद

द्वादश-वावाट-प्रासाद

टि० ये वावाट-प्रासाद वैराटी शैली से सम्बन्धित हैं।

अथ दिग्भद्रादि–प्रासाद–लक्षण

अब नाम और लक्षणो से वावाट - वैराट प्रासादो का लक्षण कहूगा। उनमे दिग्भद्र, श्रीवत्स, वर्धमानक, नद्यावर्त, नन्दि-वर्धन, विमान, पद्म, महाभद्र, श्रीवर्धमान, महापद्म, पचशाल तथा पृथिवीजय—इन बारह वावाट प्रासादो का लक्षण कहना है ।। १—३ ।।

दिग्भद्र :—दिग्भद्र-नामक प्रासाद का पहिले लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। नौ भागो से विभाजित चौकोर क्षेत्र मे कोण दो भाग के विस्तार से और दोनो प्रत्यग दो भागो स बताये गये हैं। तीन नासिकाओ से शोभित शाला का निर्माण तीन भाग से करना चाहिए। उनका परस्पर निकास आधे भाग से बनवाना चाहिए। कोण के दोनों प्रत्यगो तथा शाला के दोनो प्रत्यगो क अन्तरावकाश म सोलह अश से यथानुरुप सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिए। दस भागो से विभाजित कर इसकी सीमा बनाई जाती है। गर्भ पादो से दीवालो की निर्मिति विहित है, जो दो भाग वाली बनाई जाती है। अन्य कल्पन वह विस्तार से दुगुना होता है। वेदिका-बन्ध दो भागो मे और जघा चार पद वाली समझना चाहिए। शतपत्रा कपोताली डेढ भाग के प्रमाण से उन्नत होती है। प्रथम भूमिका डेढ भाग मे उन्नत बनाना चाहिए। दूसरी भूमिका साढ तीन भाग से उन्नत समझना चाहिए और तीसरी भूमिका ढाई भाग उन्नत समझना चाहिए। उच्छालक और जघा भूमिका के आधे से बनाई जाती है। कर्म शोभा समन्वित कूट आधे मे दिया जाता है। बहुत से कोणो से युक्त घण्टा तीन भाग की ऊचाई से होती है। ऊपर दो भाग से समुन्नत कलश की स्थापना करनी चाहिए, वह बीज-पूरक से सयुक्त वर्तुल तथा पल्लवावृत होता है। शिखर के आधे का पाद सहित उदय बनाना चाहिये। जो मनुष्य इस दिग्भद्र नामक प्रासाद को बनवाता है, वह सौ यज्ञो के फल को प्राप्त करता है—इसमे सशय नही ।। ४ — १५½ ।।

श्रीवत्स—श्रीवत्स-सज्ञक प्रासाद का अब लक्षण कहा जाता है। पन्द्रह अशो मे विभाजित क्षेत्र म आवश्यक अङ्ग कल्प्य हैं। वर्ण-शाला के अन्तर मे दो अशो से दो प्रतिरथ बनाने चाहिये। अन्य अवयव भी तथैव निर्मेय हैं। प्रवेश मे एक भाग का प्रमाण तथा तीन भाग वाली शाला होती है।

पद के आधे से निर्गम होता है और गर्भ तो नौ भाग वाला होता है। इस की दीवाल तीन पद वाली होती है। इस प्रकार इस श्रीवत्स प्रासाद का वर्णन किया गया है॥१५½-१६½॥

वर्धमानक :— अब वर्धमानक का लक्षण कहा जाता है। चौकोर क्षेत्र मे छेद से लगा कह गिरिपत्री तक पूर्व क्रम से भाग देने चाहिये। वेदिका दो स्तर अथवा तीन स्तर वाली बताई गई है। छेद एक स्तर प्रमाण से तथा कठ दुगुना होता है। पट्टिका और गिरिपत्री तो उसके आधे से बनवाना चाहिए। दस स्तर के प्रमाण से तदनन्तर घण्टा अथवा आमलसारक का निर्माण बताया गया है। दो स्तर वाला पद्म तथा फिर दुगुना कलश निर्मित होता है। उसके ऊपर पीठ-सहित लक्षण-युक्त भूमिका बनानी चाहिए। पीठ पन्द्रह स्तरो से और जघा भी उसी प्रमाण से समझना चाहिए। चार स्तर वाली माला और दो स्तर के प्रमाण से लशुन होता है। उसके आधे से भरण और कुम्भ को उसके समान बनाना चाहिये। उसका दुगुना उच्छाल और एक स्तर वाला गण्ड होता है। इससे दुगुना पट्ट और आधे से पट्टिका बनानी चाहिये। पट्टिका के प्रमाण से गिरिपत्रिका बनानी चाहिये। शूरसेनो से अलकृत वरण्डी तीन स्तर के प्रमाण से करनी चाहिये। तदनन्तर छेद एक स्तर से फिर कण्ठ तो दुगुना होता है। पट्टिका और गिरिपत्री एक स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये। खिरिहिर दो स्तरा के और छेद एक स्तर से कहे गये है। उसी प्रकार कण्ठ और फिर उसी के समान पट्टिका और गिरपत्रिका। दो स्तर वाली वरण्डिका होती है तथा शेष पूर्ववत् आचरण करना चाहिये। दो स्तरो से खिरि-हिर और एक भाग से छेद बनाना चाहिये। कण्ठ, पत्रिका और गिरिपत्री पूर्ववत्। दो स्तर वाली वेदिका ढाई पाद से युक्त बताई जाती है। एक स्तर से छेद तदनन्तर दुगुना कण्ठ बनाया जाता है। पत्रिका और गिरिपत्री उसके आधे से बनवाने चाहिये। आठ स्तरों से घण्टा तथा आमलसारक होता है। तदनन्तर कलश दुगुना होता है। एक स्तर के प्रमाण से ग्रीवा होती है और उसी के समान कर्ण बनाना चाहिये। दुगुना बीजपूर पहिले के समान यहा पर बनाना चाहिये। दो भाग वाला प्रतिरथ और पाच भाग वाली शाला होती है। शाला के दोनो प्रत्यन्तो के अवकाश मे आधे भाग मे सलिलान्तर बनाया जाता है। उनका परस्पर निकास पाद कम एक पद मे होता है। गर्भ दस भागो से और साढे तीन पद से दीवाल बनाई जाती है। चार पदो से वेदिका-बन्ध और आठ पदो से जघा होती है। कपोतालियो से युक्त पहिली भूमिका साढे पाच पदो से, दूसरी पाच पदो से, तीसरी साढे चार पदो से, और चौथी चार पदो के भागो मे

कीर्तित की गई है। घण्टा तीन पद वाली बनानी चाहिये। कूट-विभाग-आदि का पूर्व के समान, उसी प्रकार शुकनासादि और कुम्भादि पहिले की तरह बताये गय है। इस प्रकार से शुभ लक्षण यह वर्धमान नामक प्रासाद बताया गया है। ११½—४०।

नन्द्यावर्त्त—अब नन्द्यावर्त नामक प्रासाद का सत्रह अश वाले क्षेत्र मे वणन करता हू। चार पद वाले कोने तथा डेढ भाग वाला पजर, छै भागो से शाला और गर्भ तो दश भाग वाला साढे तीन भाग वाली दीवाल और ऊर्ध्वमान तदनुकूल है। चार पद की उचाई से वेदी, चार भागो मे उन्नत जघा, छै पद वाली भूमिका, अन्य अवयव पाच पद आयत वाल। सम्पद म अन्य तीसरी एक पद से उन्नत चार भाग वाली होती है। अन्य कलश आदिक पहले के समान होते है। इस प्रकार से सर्वकामद यह नन्द्यावर्त प्रासाद प्रसिद्ध होता है। ४१—४५½।

नदिवर्धन:—अब नदिवर्धन प्रासाद का वर्णन करता हू। अठारह पदो से अकित चौकोर क्षेत्र म तीन पद के विस्तार मे कोण और दो पद से प्रत्यग बनता है। चित्र-कर्म-सुशोभित शाला चार पद वाली बताई गई है। परस्पर निर्गम पादकम एक भाग के प्रमाण म होता है। एक भाग से विस्तृत सर्वत्र सलिलान्तर बनाना चाहिये। दश भागो से गर्भ और चार भागो से दीवाल बनाई जाती है। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हू—वह दुगुना बताया गया है। पाच अशो क प्रमाण से वेदी बन्ध और आठ भाग वाली जघा होती है। पहिली भूमिका कपोताली से समन्विता होती है। उसी प्रकार दूसरी भूमिका सवा पाच भागा से। इसकी तीसरी भूमिका तो पाच भाग वाली होती है। चौथी भूमिका साढे चार भागो से समझना चाहिये। उसक ऊपर तीन पद स उन्नत घटा का निर्माण करना चाहिये और इसमे शुकनासा शूरसन, स्तम्भिका तथा कूटविभाग और कलश की उचाई य सब पहिले क समान बनाने चाहियें। जो लोग इस नदिवधन प्रासाद को बनवात है वे नदिगणो (भगवान् शिव क प्रमथ गणो) म स्थान पाते है और उन म स एक हो जाते हैं—इसम सशय नही। ४५½—५८।

विमान—इसक बाद अब शुभ-लक्षण विमान प्रासाद का वर्णन करूगा। बीस पदो से विभाजित चौकोर क्षेत्र म पाच पद वाल कोण और मध्य म सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। डेढ भाग मे कणिका और आधे भाग से सलिलान्तर बनाया जाता है डेढ भाग से निगत एव छै भाग से विस्तृत

शाला होती है। कोण के आधे भाग से कर्णिका का निर्गम बताया गया है और गर्भ बारह पद से विस्तृत बनाना चाहिये। चारों सभी दिशाओं में स्थित दीवाल चार पदों से बनानी चाहिये। अब इसका ऊर्ध्व-मान कहता हूं, वह दुगुना होता है। वेदी-बन्ध पांच अंशों के प्रमाण से और नौ पदों से उन्नत जंघा बनायी जाती है। पहिली भूमिका छै भागों से समुन्नत बनानी चाहिये और उसके मध्य में शतपत्रा कपोताली का प्रकल्पन करना चाहिये। इसकी दूसरी भूमिका पांच पदों से बनानी चाहिये। इसके आधे स्तम्भ का उच्छ्राय तथा अर्ध-व्यवस्थित कूट बनता है। अन्य तीनों भूमिकायें परस्पर आधे २ भाग से हीन बनायी जाती हैं। स्तम्भिका, कूट, भरण, शूरसेन और घटा तथा कलश की ऊंचाई विद्वानों को पहिले के समान बनवानी चाहियें। जो नरपुंगव भक्तिपूर्वक इस विमान-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह इस संसार में भोगों को प्राप्त करता है।

॥ ५५—६४½ ॥

पद्म :—अब भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने वाले पद्म-प्रासाद का वर्णन किया जाता है। सोलह पदों में विभक्त चौकोर क्षेत्र में सलिलान्तरभूषित कोणों का चार पदों से निर्माण करना चाहिये। दो पद वाला पञ्जर तथा गर्भ में चार पद वाले कोण समझने चाहियें। भाग के सोलह अंश से उसके अन्त में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। नौ भागों से गर्भ और साढ़े तीन पद से भित्ति। ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। वह इससे दुगुना होता है। दूसरी भूमिका पांच भागों से उन्नत समझनी चाहिये। परस्पर आधे पद से हीन दोनों भूमिकायें होती हैं। इसकी स्तम्भिका, कूट, भरण, शुकनासा, शूरसेन, घटा और कलश के विस्तार पहिले के समान होते हैं। जो व्यक्ति इस पद्म-नामक प्रासाद को भक्ति-पूर्वक बनवाता है, वह श्रीपति भगवान् विष्णु के समान लक्ष्मीवान् तथा भूमि-भूषण होता है ॥६४¾—७० ॥

महा-भद्र :—अब महा-भद्र-नामक अति सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हूं। इक्कीस पदों से अंकित चौकोर क्षेत्र में चार अंश वाले कोण और ढाई अंश वाले प्रत्यंगक बताये गये हैं। सब दिशाओं में स्थित शालायें पांच पद से बनानी चाहियें। पाद कम एक भाग के विस्तार से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। १३ पदों से गर्भ और चार पद से दीवालें होती हैं। अब इसके ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं, वह दुगुना होता है। वेदी चार पदों की ऊंचाई से

और जघा आठ भाग वाली होती है। पहिली भूमिका मान भाग की ऊचाई से बनाई जाती है। इसके मध्य मे अन्तरपत्र-युक्ता-कपोताली तीन पद के प्रमाण से बनाई जाती है। इसकी दूसरी भूमिका साढे छै पदो से बनाई जाती है। तदनन्तर इसके ऊपर अन्य तीनो भूमिकायें एक २ भाग विहित होता है। पद्म-पत्रिका के साथ तीन भागो की ऊचाई मे घटा बनाई जाती है। स्तम्भिका कूट भरण, शुकनासा, शूरसेनक, कलश एव कुम्भ आदि उस के ये सब पूर्ववत् होते है। जो मनुष्य भक्ति पूर्वक इस महाभद्र प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह स्वर्ग मे कामदेव की आज्ञा से सुरनारियो के द्वारा सेवित किया जाता है ॥ ७१-७६½ ॥

श्री-वर्धमान—अब इस समय श्री-वर्धमान का लक्षण कहा जाता है। चौबीस पद विभाजित चौकोर क्षेत्र मे छै भाग वाले कोण और नौ भाग वाली शालायें बनानी चाहियें। और यहा पर शालाओ का निर्गम ढाई पद से बनाना चाहिये। वहा पर सलिलान्तर का निर्माण कोण और शाला के मध्य से करना चाहिये। डेढ भाग मे विस्तृत और एक भाग मे प्रविष्ट वह होता है। कोण के मध्य मे सलिलान्तर को एक एक भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। नव-भाग से निर्मित शाला के एक भाग से निर्गत और दो भाग से विस्तृत दो प्रत्यग बताये गये है। चौदह पद वाला गर्भ और पाच पद वाली दीवाल बतायी गई है। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हू। वह दुगुना होता है। छै पद की ऊचाई से वेदिका और ग्यारह पदो मे जघा बनाई जाती है। इस की पहिली भूमिका सात अश मे उन्नत बनानी चाहिये। दूसरी भूमिका पादकम सात भागो से इष्ट होती है। तीसरी भूमिका पाद सहित छै पद से बनती है, और पाद कम छै भाग से चौथी भूमिका बतायी गई है। प्रत्येक भूमिका मे एक एक भाग से प्रवेश बनाना चाहिये। घटा की ऊचाई सपाद पाच भागो से बनाई जानी चाहिये। तीन भागो की ऊचाई मे उस के ऊपर कलश होता है ॥ ७६½-८८ ॥*

पृथिवीजयः—*बाल-पजरो का निर्माण दो भागो के विस्तार से करना चाहिये।* तीन भाग से उन्नत और छै भाग मे विस्तृत शाला बनाई जानी चाहिये।

***टि० आगे का लगभग १ पन्ना गलित है अत इस प्रासाद का पूर्ण लक्षण अप्राप्त है, साथ ही साथ महापद्म तथा पञ्चशाल—इन दोनो के आगे के भी लक्षण गलित हैं।**

कोण के दोनों प्रत्यगो और शाला के दोनों प्रत्यगो के वक्षान्तर में एक भाग के प्रमाण में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। इस का गर्भ और भित्ति क्रमश दस भागों में और छै पदों में बनाना चाहिये। घण्टा, कलश, शुकनासा आदि अन्य अवयव तथैव निर्मेय हैं। कूटों में अलंकृत भूमिकायें बनानी चाहियें और शुकनासा आदि पहले के समान। अन्य शेष प्रासाद के आधे से बनाना चाहिये। घटा को तो सहत एव श्लक्ष्ण कक्षनो से शोभित निर्माण उचित है। कूटों में यही निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण प्रासाद की सिद्धि के लिये भद्रों में भी वैसी ही रचना करनी चाहिये। जो राजा इस पृथ्वी-जय नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सात समुद्रों से शोभित इस निखिल पृथिवी का भोग करता है ॥ *११९-१२६½ ॥

इस प्रकार से शुभ लक्षणों से युक्त इन बारह मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया। अतः इन वावाट-संज्ञक प्रासादों का ज्ञान सम्पादन करके स्थपति राजाओं से पूजा प्राप्त करता है। १२७

---

*टि० ८८ के उपरान्त ११८ तक यतः श्लोक अप्राप्य थे, अतः तदनुसार यह क्रम किया गया है।

अष्टम पटल

भूमिज-प्रासाद

टि० भूमिज का अपभ्रंश भूमिहार संगत है, अतः ये प्रासाद बंगाल बिहार-मण्डलीय हैं।

अथ भूमिज-प्रासाद-लक्षण

चतुरश्र-भूमिज प्रासादः—अब क्रम-प्राप्त विमानों का लक्षण कहता हूं। इन गोल, चौकोर प्रासादों का किन्ही का अनुपूर्वश वहा पर एक भाग से निर्गम बनाया जाता है। फिर इनमे यह निर्गम वृत्त के मध्य मे अधिष्ठित बनाया जाता है। दश भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र म चार भूमिकाओ से युक्त इस के छद का लक्षण कहा जाता है। निषध, मलयाचल, माल्यवान् और नवमाली—ये चार चौकोर प्रासाद होते है॥ १-४॥

निषध :—उन मे निषध का वर्णन किया जाता है। प्रथम अवयव शास्त्रानुकूल तो हैं ही—ये सब विस्तार और आयाम मे बताये गये हैं। भद्र पाँच अश से विस्तृत बताया गया है। इस के भद्र के निर्गम पादक्रम एक भाग से बनाने चाहिए। उसकी पल्लविका पाद के एक भाग मे विस्तृत करनी चाहिये। एक भाग के विस्तार और निर्गम मे कर्णिका का निर्माण करना चाहिये। वहा पर प्रत्येक भद्र अ.े भाग मे निर्गत बनाना चाहिये। प्रत्येक भद्र का विस्तार पादक्रम दो भाग मे होता है। छै भागो से गर्भ और उसकी दीवाल दो भाग वाली होनी है। तल-च्छन्द का लक्षण वर्णित किया गया। अब ऊर्ध्व-मान बताया जाता है। वह विस्तार से चार भाग अधिक दुगुना होता है। इसका वेदी-बन्ध ढाई भाग से उन्नत होता है। पाचवें आधे भाग के साथ दोनो भागो का विभाजन करना चाहिये। दो भाग से कुम्भ और एक भाग से कलश बताया गया है। आधे भाग से अन्तरपत्र और कपोताली तो एक भाग वाली। इस प्रकार से अर्ध-पचम भागो से वेदिका-बध बताया गया। इसी प्रमाण से उच्छालक युक्त जघा होती है। पहिली भूमिका की ऊचाई वरडिका के सहित विनिर्मेय है। इसकी दूसरी भूमिका अर्धपचम-भागिका बतायी गयी है। कुम्भ-उच्छालक-सहित जो पहले विहित है, वह भी उसी प्रमाण म कूट की भी ऊचाई होनी है। प्रासाद की तीसरी भूमि चतुरगिका बनानी चाहिय। चौथी भूमि भी ग्रन्थानुकूल हो। उच्छालकसहित कुम्भ कूट की ऊचाई भी पहले के समान हो। ए ा अ ा मे वेदी और साढ़े पाच से स्कन्ध का विस्तृति बनायी गयी है। अन्य अवयव भी

तथैव कल्प्य हैं। पाच भाग से विस्तृत तल मे जो शाला बतायी गयी है, उसके स्कन्धादि स्थान भी करणीय है। भूमिकाओं के प्रवेश क्रमश रेखा-वश से करने चाहियें। मूल से लगा कर स्कन्ध-पर्यन्त घटा-निर्माण अपेक्ष्य है। इस प्रकार का सुन्दर प्रासाद-विस्तार होता है। अन्य जो होता है वह शाला के प्रमाण से बनाया जाता है। अन्य जो विस्तार है, उसको छै भागो मे विभाजित करना चाहिये। कंठ प्रवेश चारो तरफ से एक भाग से होता है। कंठ-वृत्त-रचना चार भाग के विस्तार से होती है। वहा पर घण्टा की ऊंचाई तीन भागो से विभाजित करना चाहिये। फिर उस घण्टा की ऊंचाई से विद्वानो को पद्मशीर्ष बनाना चाहिये। ऊंचाई से डेढ भाग से विस्तृत कलश होता है। शिखर से तीन अंश-हीन सर्वत्र शुकनासिका बनायी जाती है। इस प्रकार तीन अंश वाला, एव चार भूमि वाला, यह निषध-नामक प्रासाद माना गया है। यह सभी देवताओं की विभूति के लिये बनाना चाहिये ॥ ५—२८½ ॥

मलयाद्रि —अब मलयाद्रि-प्रासाद का लक्षण कहूगा। द्वादश अंश विभाजित चौकोर क्षेत्र मे जलमार्गों के साथ दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहिये। पाच भागो से शाला और डेढ अंश वाला प्रतिरथ होता है। उसे शाला और कर्ण इन दोनो के मध्य मे सलिलान्तर सहित बनाना चाहिये। प्रतिरथ के निर्गम भी कल्प्य हैं, तथा आधे भाग के प्रमाण से विनिर्गम बनाना चाहिये। अन्य सब पूर्ववत्। पूर्ववत् वे जो बारह भाग है, उनको दश भागो से विभाजित करना चाहिये। पहिली भूमिका की गर्भ-भित्ति तथा जघा की ऊंचाई और वेदी-बन्ध की ऊंचाई पूर्व-प्रमाण से बनाना चाहिये। दोनो शालाओं की मध्य-स्थिता पल्लविका का अन्त तो दश भागो से विभाजित करना चाहिये। पहिली भूमि से लेकर स्कन्ध-पर्यन्त जितनी ऊंचाई होती है वह प्रथम प्रतिपादित बारह भागो से बनानी चाहिये। फिर उसको साढे उन्नीस भागो से विभाजित करना चाहिये। तदनन्तर दूसरी भूमिका की ऊंचाई उनके द्वारा एक भाग वाली होती है। तीन अन्य भूमिकायें पद के एक पाद से हीन क्रमश बनानी चाहियें। एक भाग से वेदिका की ऊंचाई तथा शाला नागरी शैली मे बनानी चाहिये। प्रथम भूमिका के ऊपर शाला के शूर-सेनक तथा कोण और प्रतिरथ जो होते है, वे सब पाच भाग ऊपर बताये गये हैं। स्तम्भ और उच्छालक के मध्य से उन मे उसी प्रकार कूट की ऊंचाई आधे से बनानी चाहिये। इसी प्रकार अन्य भूमियों मे विधान है। स्कन्ध के विस्तार की रेखा से घटा के साथ भू-प्रवेश बताया गया है। कलश और शुकनासा की

ऊचाई पूर्ववत् होती है। इस प्रकार से यह मलयाद्रि-नामक यह शुभ-लक्षण प्रासाद बताया गया है। जो इसको बनवाता है, उससे सब देवता तुष्ट होते हैं, और वह वर्ष-कोटि-सहस्र स्वर्गलोक में भोग करता है ॥ २८½—३०½ ॥

माल्यवान्— अब माल्यवान् नामक प्रासाद का यथावत् लक्षण कहा जाता है। साढे पन्द्रह अशो से चार कर्ण विभाज्य है। दो भाग वाले कर्ण और पाच अश से विस्तृत शाला बनानी चाहिये। कर्ण के निकट पादक्रम दो अश से प्रतिरथ होते हैं। शाला के दोनो पार्श्वों पर डेट भाग वाले दो पञ्जर बनाने चाहिये। पञ्जर शाला से अलग अन्य निर्माण विहित है। जो भाग के प्रमाण से होती है और जो शाला की पल्लवी होती है, उसका निर्गम आधे भाग से बताया जाता है। जो साढे पन्द्रह भाग बताये गये है, वे सब यथावत् कल्प्य हैं। तदनन्तर गर्भ-भित्ति-विस्तार तथा खुरवरण्डिका, जघा का अर्धप्रदेश, पहिली भूमिका और रेखा की ऊचाई पहिले के समान होती हैं। अब जो ऊपर का विभागीकरण है, वह पाच भाग की ऊचाई मे दूसरी भूमिका होती है। अन्य तीनो भूमिकाये क्रमश पद के एक पाद मे विहीन बतायी गयी है। वास्तुज्ञानियो को डेढ अश से वेदिका की ऊचाई करनी चाहिय। स्कन्ध का विस्तार रेखा, घटा और कलश, शाला मे शूरसेन, स्तम्भ, कूट आदि की रचना तथा शुकनासा की ऊचाई ये सब पहिले के समान बनाये जाते है। इस प्रकार से यह माल्यवान् नाम का प्रासाद बताया गया है। जो इस प्रासाद का कारक होता है उस की सब सिद्धिया होती है, उसका निवास शिव-लोक म होता है और वह कल्पायु होता है ॥ ३०½-४७½ ॥

नवमालिक—नवमालिक-सज्ञक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है। अठारह पदो से विभक्त चौकोर क्षेत्र मे जलमार्गों के साथ कर्ण दो भाग वाले बनाने चाहियें। पाच भागो से शाला होती है और पार्श्वों पर सलिलान्तर-युक्त दो बाल-पजर पाद-सहित दो भाग वाले बनाने चाहियें। कर्ण के निकट दो प्रतिरथ पादक्रम दो अशो के प्रमाण से बनाने चाहियें। वे दोनो सलिलान्तर सहित बनाये जाते है। बाल-पञ्जर और प्रतिरथ के मध्य म डेढ भाग वाले दो पञ्जर बताये गये हैं। प्रतिरथ, पञ्जर अथवा बाल-पञ्जर शाला पल्लविका से लगाकर, ये जो सब होते है, उनके अलग अलग आधे भाग के प्रमाण से निर्गम होते हैं। जो अठारह भाग बताये गये है उसको वास्तु-तत्वज्ञ स्थपति दस भागो से विभाजित करे। गर्भ, भित्ति और वेदिका और जघा की ऊचाई

आदि भूमि की ऊचाई उसी के समान शिखर की ऊचाई आदि इस प्रासाद मे विद्वानो ने पहले के समान बताया है। पादक्रम पैंतीस भागो से शिखर बनता है। तदनन्तर दूसरी भूमिका पाच पदो से उन्नत बनानी चाहिये। शेष अन्य सब भूमिकाये पद के एक पाद से विहीन होती हैं। वेदिका की ऊचाई पाद-कम दो भागो से बताई गयी है। तदनन्तर स्कन्ध का विस्तार, रेखा, घटा और कलश, शाला मे शूरसेन तथा स्तम्भ और कूट आदि की रचना, शुकनासा की ऊचाई और भूमिकाओ का प्रवेश यहा पर पहिले के समान बताया गया है। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस नव-मालिक प्रासाद को बनवाता है, उससे देवता परितुष्ट होते हैं और उसकी समृद्धिया होती है ॥ ४७½—५६½ ॥

कुमुदादि-सप्त-वृक्ष-जाति-प्रासाद —अब वृक्ष-जाति-प्रासादो का वर्णन किया जाता है। यह वृक्ष-प्रासाद सब देवो के प्रिय, पुर के भूषण, कल्याणो का एक ही आश्रय और यशो की भी राशिया तथा मनुष्यो को मुक्ति देने वाले बताये गये हैं—उनमे कुमुद, कमल कमलोद्भव, किरण, शत-शृंग, निरवद्य, सर्वांग-सुन्दर—ये सात वृक्ष-जाति प्रासाद होते हे ॥ ५६½—६२ ॥

कुमुद —अब न अधिक विस्तार से, न सक्षेप से, इनका लक्षण बताया जाता है। वहा पर पहला कुमुद-नामक प्रासाद सर्वानन्द कृत बताया जाता है। विस्तार और आयाम से समान दश भागो मे विभक्त चौकोर क्षेत्र मे ६ पदो से गर्भ होता है। वहा पर शेष से अन्य अवयव विहित हैं। तदनन्तर कर्ण-सूत्र से वहा पर वृत्त का समालेखन करना चाहिये। दिशाओ और विदिशाओं मे मलिकान्तर-भूषित आठ कर्ण होते हैं। चारो तरफ भूमि पर्यन्त यह दश पदो से होता है। वेदी-बन्ध का निर्माण ढाई पद से करना चाहिये। अन्य निर्माण भी पदो स विभाजन करना चाहिये। कुम्भक भी तथैव कल्प्य है। आधे भाग मे अन्तःपत्र और एक भाग वाली कपोताली बनानी चाहिये। इस प्रकार यह वेदी-बन्ध बताया गया है। जघा की ऊचाई भी तथैव विहित है। उच्छ्राय-सहित नव कुम्भ की रचना साढे पाच भागो मे बनाई जाती है। तीन भागो से लक्षित कूट का निर्माण प्रथम भूमिका मे होता है। प्रासाद मे ऊचाई को पन्द्रह भागो से विभाजित करना चाहिये। वहाँ दूसरी भूमिका पाच भग की ऊचाई मे करनी चाहिये तथा ऊपर मे आधे मे उच्छ्रायक एव स्तम्भो के द्वारा कूट की ऊचाई होती है। पाद कम पाच भागो से तीसरी भूमिका की रचना होती है। चौथी भूमिका को साढे पाच भागो से। यहा पर कूट और स्तम्भ-

आदि की रचना दूसरी भूमिका के समान होती है। वेदी एक भाग से उन्नत बनानी चाहिये और छै पद से स्कन्ध का विस्तार होता है। षड्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का समालेखन होता है। प्रासाद के पाच अंश से घटा की ऊचाई करनी चाहिये। तदनन्तर घटा की ऊचाई उसके तीन भागो से विभाजित करनी चाहिये। इसमें कण्ठ, ग्रीवा, अण्डक एक भाग से बनाने चाहियें। चारो तरफ से एक भाग से निर्गत छै भागो मे विभक्त घटा के चार भागो म विस्तृत कण्ठ की दो पदायें बनानी चाहियें। घटा की ऊचाई के आधे भाग म पद्म-शीर्षक का सन्निवेश करना चाहिये। घटा की ऊचाई के समान कुम्भ म बीज पूरक की ऊचाई होती है। कलश आदि का निर्माण भी वैसा ही है। जो व्यक्ति प्रेम-पूर्वक इस कुमुद-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह जगत्पति भगवान् शिव के शुभ भवन मे आनन्द करता है॥ ६३-७६½ ॥

कमल—अब कमल-नामक प्रासाद का वर्णन करूगा। दस भागो म विभाजित चौकोर क्षेत्र म तदनन्तर कर्ण के आधे सूत्र से वहाँ पर वृत्त का समालेखन करना चाहिये। पाच भागो से विस्तीर्ण चार भद्र बनाने चाहियें और उनका न्यास सुरेन्द्र, यम, वरुण और कुबेर की दिशाओ (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर) म क्रमश होता है। पल्लविका का तो विस्तार भाग के एक पद से होता है। वृत्त के बाहर से भद्रो के निर्गम एक भाग से बनाने चाहियें। शाला के प्रत्येक भद्र की कर्णिका के आधे से निर्गत बनाना चाहिये। पादक्रम तीन भाग से वृत्त का विस्तार किया जाता है। दो भाग के विस्तार और आयाम वाले मध्यम स्थित दो रथक होते है तथा परिवर्तना से सनिलान्तर सहित दो कोण बनाने चाहिये। पूर्वप्रासाद के समान ही गर्भ और दीवालें बनानी चाहिये। वेदी-बंध से लगाकर कुम्भ तक इस के सब भाग,कूट समान बनाने चाहियें। प्रथम भूमि से लगाकर दूसरी भूमि तक ऊपर शालाओं मे श्लिष्ट एव उत्तम शूरसेन का विधान करना चाहिये। कोण और प्रतिरथादिकों म कूट और स्तम्भ आदि के न्यास विहित हैं। शिखर के तीन भाग कम शुकनासा की ऊचाई बताई गई है। जो राजा इस कमल-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह राजा त्रैलोक्य मे कमलाधीश भगवान् विष्णु के समान विजयी होता है॥ ७६½—८६½ ॥

कमलोद्भव—अब इस के बाद कमलोद्भव प्रासाद का ठीक तरह से वर्णन किया जाता है। इस कमलोद्भव प्रासाद मे सदा लक्ष्मी-पति भगवान्

विष्णु सदा विश्राम करते हैं। चौदह अंशों से चौकोर क्षेत्र में यथाशास्त्र भद्र पाँच पद वाला होता है। दो भाग के आयाम और विस्तार वाले प्रतिरथ बनाने चाहियें। कोणादि-विनिवेश यथा-शास्त्र हैं। वृत्त के मध्य में पल्लविका का निर्गम बनाना चाहिये। शाला का विभाग आदि करके सलिलान्तर होता है। उसे विद्वानों को दो अंगुल वाला अथवा तीन अंगुल वाला बनाना चाहिये। इस प्रासाद का दस पदों से विभाजन करना चाहिये। गर्भ पहिले के समान और पहिले के ही समान दीवालें भी बनानी चाहियें। पहिले के समान ही खुर तथा वरण्डी होती है और पूर्ववत् जघा, कूट, प्रथम भूमिका और शिखर की ऊँचाई के बीस अंश कल्प्य हैं। तदनन्तर दूसरी भूमि पाच अंश के प्रमाण में बनानी चाहिये शेष अन्य तीन भूमिकायें पाद पाद से हीन बनानी चाहियें। एक भाग के प्रमाण में वेदी और रेखावश से यहाँ पर भू-प्रवेश तथा घटा और कलश आदि का विस्तार पहले के समान माना गया है। साथ ही साथ कूट, स्तम्भ आदि तथा शुकनासा की ऊँचाई भी पहिले के समान। जो मनुष्य इस कान्त (मनोज्ञ) कमलोद्भव-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह प्रत्येक जन्म में समस्त जग का अधिपति होता है॥ ८६½—१००½॥

किरण—अब क्रमागत किरण नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। यथाशास्त्र विभक्त चौकोर क्षेत्र में कल्पन विहित है। उनको फिर दस भागों से विभाजित करना चाहिये। यहाँ पर गर्भ और दीवालें पहिले के समान निर्माण करनी चाहियें और पहिले के ही समान खुरवरण्डी और जघा और कूट की ऊचाई होती है। शिखर की ऊचाई भी पूर्व के समान कही गई है। उस को पादक्रम चौबीस भागों से विभाजित करना चाहिये। यहां पर दूसरी भूमिका पाच भागों के प्रमाण से बनानी चाहिये। इस की अन्य चार भूमिकायें तो फिर क्रमश पाद कम एक पद हीन होती हैं। पाद सहित एक अंश से समुन्नत इस की वेदिका बनानी चाहिये। शुकनासा की ऊचाई शाला, स्तम्भ, कूट के विभाग, रेखा, स्तम्भ-विस्तार तथा घटा और कुम्भ आदि भी पहिले ही के समान बनाने चाहियें। प्रत्येक भूमिका में द्राविड कूट बनाने चाहियें। भगवान् शिव, हरि भगवान् विष्णु तथा हिरण्यगर्भ भूतभावन ब्रह्मा तथा सूर्य—इन्ही चार देवताओं के लिये यह किरण नामक प्रासाद बनाना चाहिये और अन्य के लिये यह कभी भी नही बनाना चाहिये। जो राजा इस किरण-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह सूर्य के समान दुस्सह-प्रताप वाला संसार मे तेजस्वी होता है॥ १००½—१०८॥

शत-शृंग.—अब शतशृंग नामक शुभ-लक्षण प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद सब देवों का और विशेष कर शिव का प्रिय माना गया है। उन्हीं अंशों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में *कर्ण के आधे सूत्र से वृत्त की रचना* करनी चाहिये। दो भाग वाले कर्ण और पांच भाग वाली शाला बनानी चाहिये। इस की शाला और पल्लविका वृत्त के मध्य भाग से निकली हुई होनी चाहियें। दो भाग आयाम और विस्तार वाले दो दो प्रतिरथ बनाने चाहियें। कोण और शाला के वृत्त-मध्य से अन्य निर्मिति अपक्ष्य है। शाला, कोण और प्रतिरथों के अन्तर्भागों में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। उन्नीस भागों को फिर दस भागों से विभाजित करना चाहिये। गर्भ, भित्ति, खुर-वरण्डिका, जघा की उचाई भूमिका की ऊंचाई और शिखर की ऊंचाई में सब पहिले के समान बनानी चाहिये। तदनन्तर प्रथम भूमिका से लगा कर *पट्टी-पर्यन्त शिखर की ऊंचाई पाद कम अट्ठाईस भागों से विभाजित करनी* चाहिये उस की दूसरी भूमिका पांच पदों की ऊंचाई से बनानी चाहिये। भूमि की पांच रेखायें तो पद के एक पाद से उन्नत करनी चाहियें। विशेषज्ञ लोग इस की वेदी डेढ भाग ऊंची बनाते हैं। इस की शाला तथा स्तम्भ, कूट आदि *के विभाग शुकनासिका आदि की रचना, ये सब पहिले के समान करने* चाहियें। जो व्यक्ति शतशृंग-नामक इस मनोरम प्रासाद को बनाता है, इस के बनाने वाला और बनवाने वाला अर्थात् कर्ता एवं कारक—ये दोनों ही जगत्-प्रभु त्रिपुर-द्वेषी भगवान् शिव के निश्चय ही गणनायक होते हैं॥

॥१०९—१२०½॥

निरवद्य —*अब निरवद्य-नामक प्रासाद का लक्षण कहूंगा।* वह ज्येष्ठ मध्य और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है। चालीस हाथ वाला ज्येष्ठ, तीस हाथ वाला मध्य और बीस हाथ वाला कनिष्ठ प्रासाद बतलाया गया है। बीस पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में *कर्ण के आधे सूत्र से* वृत्त की रचना करनी चाहिये। वृत्त के मध्य से पांच पदों से शाला-पल्लवी का निर्माण करना चाहिये। शाला का विभाग पूर्ववत् होता है। इन दोनों शालाओं के कोण कोण पर फिर यथा भाग के आयाम (लम्बाई) और विस्तार से छैः कर्ण होते हैं। वृत्त *के अन्दर सलिलान्तरों का निवेश बनाना* चाहिये। फिर *तदनन्तर* दस भागों में विभाजित करना चाहिये। भूमिका के भागों को छोड कर शेष से गर्भ-गृह आदि और उसी के समान शिखर की ऊंचाई पूर्ववत् बनानी चाहिये। उस को साढे इक्तीस *भागों से फिर विभाजित करना चाहिये।* दूसरी

भूमिका को पाच पदो से उन्नत करना चाहिये। उस की अन्य छँ भूमिकायें पद के एक पाद भाग से ही हीन होती हैं। पादकम तीन पद के प्रमाण से वेदी का निर्माण शिल्पी करता है। स्तम्भ, कूट आदि, शालाओ के विन्यास, शूरसेनक शुकनासा की ऊचाई और घंटा और कलश आदि ये सब पूर्ववत बनाने चाहियें। जो बुद्धिमान् इस निरवद्य नामक प्रासाद को बनवाता है, वह ब्रह्मादिको के लिये भी सुदुर्लभ परम स्थान को प्राप्त करता है॥ १२०½—१३०॥

सर्वाङ्ग-सुन्दर :—अब सर्वांग-सुन्दर नामक सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हू। इसे भुक्ति और मुक्ति का देने वाला तथा भुवन-मडन बताया जाता है। चौबीस भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे दो भाग के विस्तार वाले कर्ण तथा पाच भाग वाली एक शाला होती है। वृत्त के अन्त प्रदेश मे पल्लवी का निर्माण करना चाहिये। शेष शालाओ मे पूर्ववत्। कर्ण और शाला इन दोनो के मध्य में तीन २ प्रतिरथ होते हैं। वृत्त के मध्य म दो भाग की लम्बाई और विस्तार की परिवृत्ति से वे पुन. निवेश्य हैं। शाला, वर्ण और प्रतिरथ के प्रान्तो म सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। फिर सत्ताईस भाग शिल्पियो के द्वारा विभाजित किये जाते हैं। गर्भ-भित्ति आदि, वरण्डिका और जघा आदि तथा भूमिका की ऊचाई पूर्ववत् बनानी चाहिये और शिखर की ऊचाई भी पहिले के समान। तदनन्तर शिखर की ऊचाई को पैंतीस भागो से विभाजित करनी चाहिये। इसकी दूसरी भूमिका पाच पद की ऊचाई वाली बनाई जाती है। इसकी शेष सात भूमिकायें पद के एक पाद से विहीन होती हैं। वेदिका की ऊचाई दो भाग के प्रमाण से बनवानी चाहिये। भूमिकाओ का प्रवेश रेखा-वश से करना चाहिये। इसका शेष निर्माण-कार्य पूर्ववत् बनाना चाहिये और इसी प्रकार स्तम्भ, कूट आदि का भी विधान है। जो व्यक्ति इस सर्वांग-सुन्दर नामक प्रासाद को बनवाता है, वह स्वर्ग मे स्वर्ग की सुन्दरियो के विपुल भागो को प्राप्त होता है॥ १३१—१४०½॥

भूमि-जातिक-अष्ट-शाल-शालीक-प्रासाद —अब भूमिजातिक अष्ट शाला-प्रासादो का वर्णन करता हू। उनमे स्वस्तिक, वज्र-स्वस्तिक हर्म्यतल, उदयाचल, गधमादन—ये पाच प्रासाद बताये गये हैं। अब उनमे पहिले शुभ लक्षण स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। विस्तार और आयाम से बराबर चौकोर क्षेत्र मे कर्ण के आधे सूत्रपात से इसका समवृत्त लिखना चाहिये। वर्तुल क्षेत्र का विभाजन अडतालीस पदो से करना चाहिये।

चार पद के विस्तार से आठ शालायें बनानी चाहियें। वृत्त-सूत्रानुकूला पल्लवी, पुनः बाहर से भद्र तथा कर्णिका समभनी चाहियें। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूँ। दो भागो से ऊचा वेदी-बन्ध बनाना चाहिये। उसको पाच भागो से विभाजित करना चाहिये। वहा पर कुम्भक होता है। पाद सहित एक भाग से तो मसूरक बनाना चाहिये। आधे अंश से अन्तर पत्र फिर तदनन्तर कपोताली पाद सहित एक भाग से होती है। चार भाग से जघा होती है, वह तलकुम्भ और उच्छालक इन दोनो से संयुक्त एव शुभ लक्षण होती है। वरडिका सहित प्रथम भूमि दो भागो के प्रमाण से बनानी चाहिये। व्यास का निर्माण दस पदो से सम्पादन कर फिर बारह पदो से ऊचाई बनानी चाहिये। वहा पर छै पद के प्रमाण से विशेषज्ञ लोग स्कन्ध बनाते है। षड्गुण सूत्र से ही वेणुकोष का समालेखन करना चाहिये। बारह अंश से जो ऊचाई होती है, उसको पाच भागो मे बाट कर उनसे दूसरी भूमि बनाई जाती है। दूसरी अन्य तीन भूमिकायें पद के एक पाद से उन्नत बनानी चाहियें। गर्भ भी बनाना चाहिये और भूमिकाओ का प्रवेश भी तदनन्तर डेढ भाग की ऊचाई वाली वेदिका बनानी चाहिये। घटा पाद कम दो पद वाली होती है। उसको तीन पदो से विभाजित करना चाहिये। एक पद से कठ की ऊचाई होती है और एक भाग की ऊचाई वाली ग्रीवा होती है। उसमें सुमनोरम अडक एक भाग के निर्माण से बनाना चाहिये। अमलसारक सहित कर्पूर का निर्माण डेढ भाग से किया जाता हैं। साढे चार भाग से घटा का विस्तार करना चाहिये। उसको फिर छै अंशो से विभाजित करना चाहिये। कन्द-विस्तारानुरूप अन्य कल्पन हैं। कलश की ऊचाई डेढ भाग की होती है और उसके आधे से शिखर की। तीन भाग से शुकनासा का विधान होता है। अथवा विस्तार से गर्भ के प्रमाण मे वह आठ अंश से हीन होती है। उसके ऊपर शूरसेन का सन्निवेश होता है। पहिली भूमिका से दूसरी भूमिका के समान वह ऊपर से शाला विस्तार के समान ये तीनो शूरसेन बताये गये हैं। ग्राह-ग्रास-सुशोभित आठ नागरिक शालायें होती हैं। जो धन्य व्यक्ति इस शुभ स्वस्तिक नामक प्रासाद को बनवाता है, वह प्रत्येक जन्म मे शुभ और ऐश्वर्य का भाजन होता है। १४०½—१६१½।

वज्र-स्वस्तिक.—अब इसके बाद वज्र-स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह प्रासाद लक्षण युक्त इन्द्र आदि देवो का प्रिय माना गया है। पूर्वोक्त स्वस्तिकादि लक्षण यहाँ भी अनुकरणीय है। भद्र म तीक्ष्णाग्र

सुमनोरम श्रृंग देना चाहिये । सर्वलक्षण-युक्त मंडप का निर्माण सम्मुख करना चाहिये। इस प्रकार से इस वज्र-स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन किया गया है। जो धन्य व्यक्ति इस सर्वमनोरथ-पूरक इस प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सुरांगनाओं का भोग्य बनाता है और वह ऐन्द्र पद (इन्द्रासन) का भोग करता है। १६१½—१६५½।

हर्म्य तलः—अब इस के बाद भू-मंडन हर्म्यतल-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू। विस्तार और लम्बाई मे समान चौकोर क्षेत्र मे कर्ण के आधे सूत्र से उस मे वृत्त का समालेखन करना चाहिये। फिर उस वृत्त को चौसठ पदो से विभाजित करना चाहिये। फिर वहां पर चार पद के विस्तार से आठ शालाओं का निर्माण करना चाहिये। वृत्त सूत्र से पल्लवी, भद्र और कर्णिका बनाना चाहियें। दोनों शालाओं के मध्य से दो दो वर्ण बनाने चाहियें और वे सलिलान्तर-भूपित दो भाग के आयाम और विस्तार से होते हैं। परस्पर परिवर्तन से सोलह कोणों की रचना करनी चाहिये। स्वस्तिक प्रासाद मे प्रतिपादित पूर्व प्रमाण से गर्भ, दीवाल और वेदी तथा जंघा और प्रथम भूमिका बनानी चाहियें। वहा पर बारह अंश की जो ऊंचाई बीस भागो से विभाजित होती है, वहा पर अट्ठाईस भागो मे विभाजित कर वहाँ पर प्रथम भूमिका बनानी चाहिये। दूसरी भूमिका पाच भागो से बनाई जाती है। अन्य पाच भूमिया अलग अलग पद के एक पाद से हीन होती है। वेदी दो भाग वाली बताई गई है। नागर-कर्मों से युक्त चार मञ्जरिया बनानी चाहियें। उसी तरह फिर अन्य चार मञ्जरिया द्राविड-कर्मों से युक्त बनानी चाहियें। इस प्रासाद की घटा, स्कन्ध का विस्तार तथा स्तम्भिका और कूट के विभाग साथ ही साथ रेखायें पूर्ववत् बनानी चाहियें। जो व्यक्ति इस प्रासाद को बनाता है अथवा बनवाता है, वे दोनों ही निरन्तर आनन्द एवं सुख दायक शिवलोक को प्राप्त करते हैं॥ १६५½—१७६॥

उदयाचल—अब इसके बाद उदयाचल नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। भुज-कर्ण सम शुभ चौकोर क्षेत्र मे फिर कर्ण के अर्धे सूत्र से उसमे वृत्त का आलेखन करना चाहिये। अस्सी पदो मे विभाजित क्षेत्र को मंडलाकार बनवाना चाहिये। पूर्व दिशाओं मे चार पद के प्रमाण से आठ शालाओं का विधान करना चाहिये। वृत्त सूत्र से पल्लवी और बाहर से भद्र तथा कर्णिका दोनों शालाओं के अन्य प्रदेश में तीन तीन कोणों की रचना करनी चाहिये। दो भागों के आयाम और विस्तार वाले सलिलान्तर से विभूषित चौबीस कोण

बनाने चाहियें। इनका परस्पर परिवर्तन क्रमश करना चाहिये। इसीके बराबर प्रमाण मे गर्भ और भित्ति, वेदिका और जघा तथा भूमि एव शिखर का निर्माण पूर्ववत् प्रकल्पन करना चाहिये। यहा पर नागर कर्म से युक्त आठ मञ्जरिया होती है। वे रुद्र, ईश्वर से युक्त तथा जलधाराओ से सुशोभित होती है। घटा, कूट, रेखा, स्तम्भिकायें, शूरसेनक, स्कन्धविस्तार, शुकनासा, कलश आदि स्वस्तिक प्रासाद मे प्रतिपादित विधान से इस उदयाचल नामक प्रासाद को बनाना चाहिये। जो बारह अश वाली ऊचाई है, वहा पर बीस भागो से विभाजित होती है। प्रथम भूमिका पैंतीस भागो से विभाजित करनी चाहिय। वहा पर पहिली भूमिका पाच भाग की ऊचाई से बनानी चाहिये। तदनन्तर अन्य सात भूमिकायें विहित है। पुन: वेदिकादि अन्य कल्पन यथा प्रमाण निर्मेय हैं। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस प्रासाद को बनवाता है, वह सुरो के द्वारा भी दुष्प्राप्य शाश्वत पद को प्राप्त करता है ॥ १७७—१८८ ॥

गन्धमादन—अब प्रकमप्राप्त गन्धमादन प्रसाद का वर्णन किया जाता है। अपने लक्षण और प्रमाण से युक्त उत्तम भूमि द्राविड-कर्मों से युक्त आठ मजरिया बनानी चाहियें। नाना प्रकार के कर्मों से युक्त मणिमय कूट बनाने चाहिये। स्थान स्थान पर शूरसेन आदि तथा सम्मुखीन तीन रेखायें होती है। शुकनासा और घटा, स्कन्ध तथा शिखर, कूट तथा स्तम्भिका और कुम्भ पूर्ववत् परिकल्पित करने चाहिये। जो धन्य व्यक्ति इस पृथ्वी के अलकार गन्धमादन नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह विद्याधरो का अधिप श्रीमान् हो जाता है-इस म सशय नही। वह विविध भोगों का भोग करता है औ देवङ्गाओ से सेवित होता है ॥ १८९-१९३ ॥

लाट-भूमिज-नागर पञ्च-विंशति रेखायें—ऊचाई के विभेद से जो पच्चीस रेखायें बताई गई हैं वे यथा-शास्त्र ललित और नागर तथा भूमिज प्रासादो के अनुरूप अब यहा कही जाती हैं। ललिना अर्थात लाट तथा नागर शैली के तो कूटक तथैक कल्प्य है। भूमि र सम्मुख भूमिज प्रासादो की भूमिकायें तथैव बनानी चाहियें। व्यास और रण इन दोना क समान अधम और उत्तम शिखर का निर्माण करना चाहिय। उनकी सज्ञायें है-शोभना भद्रा सुरूपा, सुमनोरमा, शुभा, शान्ता, कावेरी, सरस्वती, लोला, करवीरा, कुमुदा पद्मिनी, कनका, विरटा, देवरम्या, रमणी, वसुन्धरा, हसी विशाखा, नन्दिनी, जया

विजया, सुसुखा, प्रियानता (२५ वी गलित)—ये पच्चीस रेखायें बताई गई हैं। ॥ १९४-२०० ॥

ये रेखायें बनाने वाले और बनवाने वाले दोनों के लिये शुभ फल देने वाली होती हैं। इस प्रकार चार चौकोर प्रासाद, सात वृक्षजातिक (गोल) प्रासाद और सात भूमिज प्रासाद यहां पर बताये गये हैं ॥ २०१ ॥

नवम पटल

मण्डप-विधान

१. द्विविध सामान्य मण्डप—
   (अ) संवृत तथा (ब) विवृत

२ भद्र-आदि-अष्ट-मण्डप

मण्डप-लक्षण

प्रासाद-न्यस्त-द्विविध-मण्डप—सवृत एव विवृत :—अब प्रासाद मे स्थित आठ मडपो का वर्णन करता हू । शुद्ध भाग वाला एक सुलक्षण प्रासाद-मण्डप-प्रकल्पन प्रथम विधान विहित है--सम्वृत (attached) हो या विवृत—व्यतिरिक्त (detached)हो । सम्वृत उसे कहते हैं जो चौकोर हो और विभागो से सघटित हो । व्यतिरिक्त (विवृत) उसे कहते हैं जो अपने विन्यास भागो से विघटित हो । गर्भ, प्रासाद गर्भ के समान, प्रशस्त माना गया है । इस प्रकार से प्रासाद मे मडपो का सन्निवेश करना चाहिये । ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भेद शतपद-वास्तु मे मडपो का विभाजन करें । उनमे भद्र, नन्दन, महेन्द्र, वर्धमान, स्वस्तिक, सर्वभद्रक, महापद्म और गृहराज—ये आठ यथार्थ-नाम मडप बताये गये हैं । अब इनका लक्षण कहता हू ।। १—६ ।।

भद्र -प्रासाद(main shrine)से दुगुने अथवा पौन दो गुने से मडप का विन्यास करना चाहिये । अथवा प्रासाद की ऊ चाई के समान मडप का विस्तार करना चाहिये । और मडपो को शुकनासा से अन्वित और अलिन्दो से समन्वित बनाना चाहिये । अलिन्द भी दो सब तरफ से एक भाग से निकले हुए तथा मानानुकूल विस्तृत हो अथवा डेढ भाग से निकले हुए और एक भाग से विस्तृत हो । बुद्धिमान् को यथा-शास्त्र भागो से चारो तरफ से विभाजन करना चाहिये । वहा पर सलिलान्तरो से युक्त अगो का दो भाग के प्रमाण से निष्क्रान्त प्रमाणानुकूल विस्तृत मध्य भद्र का विधान चारो दिशाओ मे करना चाहिये । प्रासाद के पीठ के समान मडप-पीठ,यहा नही बनाना चाहिये । मडप की भूमिका के नीचे मडप का तल-पद निवेशित करना चाहिये ।,इसी प्रकार तदनन्तर आगे २ निम्न निम्नतर निर्माण करना चाहिये । अथवा शास्त्रज्ञ स्थपति उसी के समान चार भाग से आयत द्वार पट्‌दारुक-समन्वित करना चाहिय । अग्र भद्र को चार स्तम्भो से विभूषित बनाना चाहिये । और पीछे मे, इस मडप मे इसी प्रकार से समृति का सन्निवेश किया जाता है । समृति से शुकनासा होनी है तथा पृष्ठ-भद्रक सर्वत्र विहित है । और मडप का शेष विधान फिर उसी समान करना चहिये । वह दोनो पार्श्वो पर दीवालो से प्रक्षिप्त (projected) करना चाहिये । तथा

गवाक्षों से सुशोभित भित्ति-रचना एक भाग से करनी चाहिये और वातायन चन्द्रावलोकन के साथ बनाना चाहिये। प्रासाद-द्वार के समान मडप में द्वार का विस्तार होता है। सपाद, सत्रिभाग अथवा सार्ध प्रमाण होता है। इस प्रकार ऊपर की द्वार-विधि का विधान मूल-द्वार के अनतिक्रमण से करना चाहिये। गवाक्षक, जाल, व्याल, कपोताली तथा मत्तवारणको से युक्त तथा भ्रम-निर्मापित स्तम्भो से युक्त—ये सब बनाने चाहियें। उसके आधे से वातायन और पादकम चन्द्रावलोकन होता है। क्षण के मध्य में शुभ तथा विधान-पूर्वक चौकी बनानी चाहिये। शोभा के लिये बाहर रेखा-क्रम विहित है। मध्य में दारू-कर्म का विधान, बराबर क्षण, बराबर स्तम्भ, और बराबर अलिन्दों से युक्त और बराबर कर्णों से परिक्षिप्त—ये सब विधान है। तिरछे पट्ट-दारुको से अथवा किन्ही सुखायतो से करना चाहिये। समतला तुला अथवा मध्य-देश से वह प्रोक्षिप्ता होती है। तुला पट्टदारुक के अधीन होती है अथवा पडदारूक तुला के अधीन अथवा मध्य से स्तम्भो और अलिदों से घिरी हुई बनानी चाहिये। दोनो ओर से बराबर चतुष्की महाधरों से युक्त बनानी चाहिये। उत्तरोत्तर द्रव्यो से गज-तालु-लुमा-कर्म—ये नानाविध-कार्य अविकल-द्रव्यों से सम्पादित करने चाहियें। बुद्धिमान् को जो भी क्रिया अच्छी लगे वह एक क्रिया करवानी चाहिये। क्षणो के अन्तरावकाशो को ईलीतोरणो से अलकृत करना चाहिये। वज्रबंध से युक्त, घटिका और पल्लवों से युक्त, हारो और पद्म-दलो से आकीर्ण, शाल-भञ्जिकाओ से सुशोभित तथा पत्राभरणो से भूषित स्तम्भको का निर्माण करना चाहिये। रथको और तोरणो के साथ अति-विचित्र कठको से युक्त तथा रूपकर्मोपशोभित विविध प्रकार के विधानो से सीमा-तुल्य तुलोदयों का विधान करना चाहियें। प्राग्रीवकों में, अलिन्दों में तथा पार्श्वों के मध्य भाग में तलों का विधान नहीं किया जाता है तथा फिर यथेच्छ क्रिया होती है। जिस प्रकार से सीमा के द्वार पर वायु के प्रवेश को नही पीडित करना चाहिये, उसी प्रकार यहा मडपो में पट्ट के ऊपर भी तथैव विहित है। वेदिका व्याल आदि के भी विधान हैं। भद्र में वहा पर बुद्धिमान् लोग पट्टदारुक का निवेश कर बाहर से मडप में भी इसी प्रकार मान से और भ्रम से भी सम्पादन करते हैं। कपोताली तथा वरण्डिका से और अन्तर-पत्रको से साथ ही साथ कर्णप्रासादको और निम्नों से भद्र मण्डप में यह सब कर्म किया जाता है। ऊचाई आदि भी विधाना-नुकूल विहित है। अथवा शिखर के पादक्रम तीन भाग से अथवा पौने

तीन भाग ऊंचाई करनी चाहिये । और वहा पर सुन्दर कर्ण से सुशोभित हर्म्य का निर्माण करना चाहिये ॥ ७—३६½ ॥

नन्दन —चौकोर क्षेत्र मे नन्दन का प्रविभाजन करना चाहिये । वहा पर छै भाग के आयाम से भद्र और चार भाग स अन्य विधान होता है। भाग भाग से निष्क्रान्त का विधान है। प्राग्रीव-कल्पित स्तम्भो से सुषुमा विहित है। कण म दूसरे भद्र की स्थिति पाच भाग की लबाई से समझना चाहिये । सलिलान्तर से युक्त भित्ति एक भाग के विस्तार से होती है। इस प्रकार से चारो दि ाओ मे इस नन्दन-नामक प्रासाद-मण्डप का निर्माण करना चाहिये ॥ ॥ ३६½ ४२½ ॥

महेन्द्र—महेन्द्र-नामक मडप का तलच्छद लागनो से युक्त दो वर्णो से सुशोभित चार भाग से आयत तथा दिशाओं म दारुकर्म-विभूषित होता है। सलिलान्तरो से शोभित दो भाग के प्रमाण से शृगो का निर्माण करना चाहिय । चार भाग स आयत तथा एक से नि सृत पुन एक तरफ से दारु-कर्म-परिच्युत मुख का व्यास करना चाहिये ॥ ४२½—४४ ॥

वर्धमान — यदि बाहर के भद्रो से और जलमार्गो से नन्दन-मण्डप वर्जित हो तो दो भागो के विस्तार और एक भाग क निकास मे यह विधान है। अन्य अवयव एव प्रमाण भी कल्प्य हैं—तब यह मण्डप वर्धमान कहलाता है ॥ ४५—४६ ॥

स्वस्तिक नन्दन के पक्षद्वय वाले दो भद्र यदि दीवाल से घिरे हुये हैं तो उन्हे गवाक्षो से अलकृत करना चाहिये और वहा सलिलान्तर नही बनाना चाहिये। यह सर्व लक्षण-लक्षित स्वस्तिक-मडप नाम से प्रख्यात होता है ॥ ४७—४८½ ॥

सर्वतोभद्र—अब इसक बाद सर्वतोभद्र नामक मण्डप का लक्षण कहा जाता है। प्रत्येक कण पर दो भाग लम्बा लागल विहित है । उनमे परस्पर दारुकर्म-रचना करनी चाहिय । एक भाग से निकला हुआ छै भाग से आयत अर्थात लगा दो पड्दारुको के सन्निवेश से बाह्य स्थित भद्र का सन्निवेश कराना चाहिये । ॥ ४८½—५० ॥

महापद्म —चौकोर क्षेत्र म पूर्व भागों से विभाजित करना चाहिये । ऊंचाई को छोड कर कर्णो मे लागनो का आदधान करना चाहिये और वे चार भाग क अन्तरावकाश पर स्थित एव पड्दारुको से युक्त होते है । सभी दिशाओ म चार भद्र एक भाग से निष्क्रान्त बनाने चाहियें । उस की लंबाई से चार पद वाला बाहर से सब तरफ अलिन्दक का निर्माण करना चाहिये । चार भाग मे आयत, निर्गत और दिशाओं में स्तम्भो से युक्त प्रतिभद्र बनाने चाहिये। इन लक्षणो से युक्त यह महापद्म-नामक मण्डप बताया गया है ॥ ५१—५४ ॥

गृहराज—चतुष्कोण-विभूषित नौकोर क्षेत्र मे मुख सश्रित प्राग्रीव को अलिन्दावेष्टित करना चाहिये और गवाक्ष बनाने चाहियें तथा चन्द्रावलोकन भी बनाने चाहियें। साथ ही साथ चारो तरफ से रूप शोभा से शोभित प्रकाशयुक्त वातायन बनान चाहिये। उस प्रकार से सवशोभा समन्वित गृहराज-नामक मडप की यह क्रिया होती है। इसी प्रकार लक्षण से युक्त देवियो, माताओं—सप्त मातृकाओ का भी नदिर होता है॥ ५५—५७॥

मण्डप निर्माण विशेष—शुकनासा के मूल से कनिष्ठ मडप का विधान बनान वाले की इच्छावश होता है। दोनो पार्श्वों तुल्य उसे टेढे आयत वाला बनाना चाहिये। अन्य विशेष जो विहित है, वे बाहर मडप के विधान म करना चाहिये। द्वार के विस्तार से विस्तीण उनम गवाक्षको का निर्माण करना चाहिये। समान, सपाद अथवा पादोन सार्ध ऊचाई और लम्बाई वाले मे मण्डप विहित हैं। मण्डप, स्तम्भ, द्वार की ऊचाई के समान ऊचाई का विस्तार तथा मण्डप का गर्भन्यास क्रमश आठ अश वाला और एक अश वाला होना है।
॥ ५८—६३½॥

जो स्थपति इस प्रकार के मडपों का शिल्प रचना-पुरस्सर निर्माण करता है अथवा जो व्यक्ति करवाते है—वे दोनो देवसभा मे अप्सराओ के गणो से आवृत हो सौ वर्ष तक आनन्द लेते है॥ ६४॥

अथ सप्तविंशति-मण्डप-लक्षण

सामान्य विधान :—अब सत्ताईस मडपो का वर्णन किया जाता है। वहा पर कनिष्ठ मडप, प्रासाद से दुगना, बनाया जाता है। पाद कम दुगुन प्रमाण से मध्यम मडप का निवेश तो करना चाहिये। कनिष्ठ प्रासाद मे तो कनिष्ठ मडप का विधान डेढ प्रमाण से करना चाहिये। पाद कम दुगुना अथवा डेढ अथवा सवाये प्रमाण से मध्यम मे सन्निवेश कहा गया है। डेढ अथवा सवाय अथवा बराबर उत्तम आदि उत्तम मे। पाद सहित दुगुना अथवा ढाई गुना सान्तरोर्द्ध्व अन्य बहुत से मडप क्षुद्र प्रासादो मे बनाने चाहियें। क्षेत्र के लाभ न होने पर फिर इन सब को सब मे योजित करना चाहिये। दैर्ध्य म दैर्ध्य को और विस्तार से विस्तार का ग्रहण करना चाहिये। यह प्रमाण वलभि नामक प्रासाद मे और गरुड म भी तथा मण्डम मे बताया गया है। १—६½।

पुष्पक —दश भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे चार भागो से भद्र और दो भागो से, प्रतिभद्रक का निर्माण करना चाहिये। आगे से और पीछे से भी निर्गम (एक भाग वाला होता है। अथवा एक भाग से या डेढ भाग म भद्रों का निर्गम बताया गया है। अथवा प्रासाद के तीन भाग से अथवा चार भाग से होता है अथवा आधे से या फिर छै अश से वह निर्गम बनाया जाता है। तीन भाग से हीन मडप समक्षणो से बनाने चाहियें। अपन विस्तार के समान भद्र मे और मुख मे यह विधि बनाई गई है। इन के चारो कोणो पर दो भाग वाले कर्ण समझने चाहियें। बायें और दक्षिण भागो न साथ छै अश वाला भद्र होता है। आगे और पीछे के प्रतिभद्र मे यह नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार से ६४ चौसठ खभो वाला यह पुष्पक-नामक मडप बनता है ॥६½—१२॥

पुष्पभद्र एव सुप्रभ —तीनो दिशाओ मे प्रतिभद्रो का और मुख म प्राग्रीव का सन्निवेश होता है। इस प्रकार पुष्पभद्र तथा सुप्रभ होते हैं। इस प्रकार से दो २ खम्भो के त्याग से बीस मडपो का वर्णन करता हू। ये हैं—पुष्पभद्र, सुप्रभ, अमृत-नदन, कौशल्य, ?, सकीर्ण, गजभद्र, जयावह, श्रीवत्स, विजय, वस्तु-कीर्ण, श्रुतिजय, यज्ञ-भद्र, विशाल, सुश्लिष्ट, शत्रुमर्दन, ?, दम, मानव, मान-भद्रक—ये बीस मडप बताये गये है ॥ १३—१६ ॥

अन्य सप्त मडप—सुग्रीव —सुग्रीव नाम का मडप चार पद वाले भद्रो से युक्त बताया गया है। तीन पद वाले चार कर्णो से तथा पूर्व-प्रतिपादि

निर्गमों से तथा चौबीस खभो से यह युक्त होता है। पुन हर्ष, गर्णिकार, पदाधिक सिंह, साभद्र तथा ? . ?—ये सात ग्रन्य मण्डप बताये गये है। इस प्रकार से ये सत्ताईस मण्डप सक्षेप से बताये गये हैं ॥ १७—२०½ ॥

इस प्रकार के प्रासादाकृति-धारी, विचित्र रूप वाले इन मडपो के मिश्रक-भेद दो तीन ग्रथवा एक हस्तों के प्रमाण से जानना चाहिये। ग्रथवा मूल प्रासादो के तुल्य तीन ग्रश से या आधे मे ग्रजित विहित हैं। दो स्तम्भों को शुकनासा के ग्रग्र भाग मे पाद-मडप समझना चाहिये। प्रासाद की भित्ति के प्रमाण से मडप मे भित्तिया बताई गई हैं ॥ २०½—२२ ॥

ग्राकाश-मण्डप —ग्रौर वही पर भित्तियों से रहित ग्राकाश-मण्डपों का निर्माण करना चाहिये। नाट-प्रासाद विशेषों तथा सान्धारक-प्रासाद-विशेषों मे यह विधि बताई गई है। सांधारों मे ग्रपने प्रमाण से जैसा प्रासाद हो, वैसा ही उस के ग्रागे से मण्डप का निर्माण करना चाहिये। जो प्रासाद के नाम होते है, वे ही नाम मण्डपो मे भी होते हैं। मण्डपों का यह भेद वास्तु-भेद से विहित होता है ॥२३—२५ ॥

प्रयोग-मण्डप-मिश्रक-मण्डप – भोजन, यज्ञ, विहार, नृप-विश्राम, यति-मुख्य-निवास आदि प्रायोजनो के लिये भोजन-मण्डप, यज्ञ-मण्डप ग्रादि सज्ञाओं से ये उपश्लोकित होते हैं। ग्रावश्यक्तानुसार ग्रपनी बुद्धि से परिकल्पित ग्रायत ग्रथवा चतुरश्र नाट्य-मण्डप बनाना चाहिये। जेष्ठ मण्डप एक सौ ग्राठ हस्तो से मध्यम चौसठ हस्तों से ग्रौर कनिष्ठ ३२ करो से बनाया जाता है। नेपथ्य-मण्डप (नाट्य-मण्डप) भी निर्मेय हैं। परिच्छेद के ग्रनुसार ग्रपनी बुद्धि से कल्पना लेना चाहिये ग्रौर दो द्वार उसके प्रमाण के ग्रनुसार बनाने चाहियें ग्रौर नेपथ्य-गृह (नाट्य-मण्डप) मे तीसरा रग सम्मुख मण्डप रग-मडप होता है। समक्षणो से, सम-स्तम्भों से ग्रौर सम-ग्रलिन्दो से युक्त सम-कर्ण ग्रौर सम-द्रव्य-मिश्रित मण्डप शुभ होते हैं ॥२६—३२ ॥

ग्रब मिश्रकादि मण्डप-विधान प्रतिपाद्य है। इन्हे निर्गम सहित बनाना चाहिये। स्तम्भ-कोण मे समाश्रित प्रमाण से बाहर की तरफ दीवाल होती है। मध्य मे ग्रथवा बाहर मे भी मण्डप की भूषा आदि से वेदी का न्यास करना चाहिये। क्षेत्र-क्षोभ (सकोच) मे तो उसी भित्ति के प्रमाण के मध्य से बनाना चाहिये। ज्येष्ठ मे चौसठ पद वाला वास्तु ग्रौर बार पद वाला भद्र होता है। मध्य मे इक्यासी पद वाला ग्रौर पञ्च-भागिक भद्र होता है। प्रतिपादित विभाजन से कनिष्ठ प्रभेद मे तो खडश होता है। दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें ग्रौर भित्ति से

युक्त मडप होता है। भद्र और प्रासाद इन दोना क सदृश कण भद्र का विभाजन करना चाहिये। बाहर से क्षोभण की रक्षा करनी चाहिय अन्यथा विपयय म पीडन होना है। खुरक कुम्भ कपोत और जघा प्रासाद क अनुरूप विहित है। रुचक चौकोर होता है, वज्र अठ कोण कहा जाता है, द्विवज्र षोडश कोण (षोडशाश्रि) तथा तदनन्तर दुगुना प्रतीत है। मध्य प्रदेश म यह वृत्त स्तम्भ वृत्त बताया गया है। इसक बाद अन्य (दूसरे) प्रकार से मण्डपो को सोहल तरह से बनाना चाहिये। पुन अन्य प्रमाण शास्त्रानुकूल विनिर्मेय हैं। इसी प्रकार षट प्रकारक मडप म करना चाहिये। प्रासाद गभ क अन्त से भित्ति प्रकल्पन विहित है। मण्डप मध्यस्थित क्षण म स्तम्भ सूत्र के भाग से अथवा मूल प्रासाद क गभ से भद्र का विस्तार करना चाहिये। शेष क्षण सम सख्या वाले अक्षत खभों स बनाना चाहिय। प्रासाद मण्डप के अन्य विधान तथैव विहित है। *मण्डप म ऊचाइ का वणन प्रकारान्तर से अब कहता हू। तल क आधे भाग स विधान शुभ बताया गया है। नौ हाथ* वाले प्रासाद म समान दो भागो म उसे विभक्त कर मण्डप क उत्तर *दो पदो का विधान है। पुन यहा जो अन्य नाना प्रमाण है व दस स लगाकर बास तक क प्रतिपादित है। सवृत अथवा व्यतिरिक्त अर्थात विवृत मण्डप विधाओं मे य विन्यास प्रकल्पित होन चाहिय। शुकनासा का जो स्तम्भ होता है और जो स्तम्भ मण्डप का होता है व दोनो परस्पर सुश्लिष्ट होने पर भी जहा पर व दोनो का विन्यास होता है वह ठीक है।

चार भद्रा से विभूषित व *निगत और व्यतिरिक्त होत हैं। तलपट्ट आदि* विधानों म अगिका भूमि होती है। उस के नीच मण्डपो का तलन्याद नियोजित करना चाहिये। इस प्रकार विद्वान को आगे आगे निम्न निम्नतर बनाना चाहिय अथवा प्रासाद तल के प्रमाण से बराबर बनाना चाहिये। उसी प्रकार स ध्रुव आदि नाम से प्रवृत्त मण्डपो क श्वाकूट आदि नाम तथा रुचक आदि प्रासादों क *जो नाम और विभाग बताये गये है व ही नाम और विभाग* तत्सम्बन्धित मडपा म भी जानने चाहियें। देवालय क उत्सवो क लिय जो अलग अलग विमान मण्डप बताय गय है व सत्ताइस स ऊपर हो जात हैं। उसी प्रकार देव यात्रा के निमित्त मडपो का परिकल्पन करना चाहिय। पद की *संख्या म चौसठ स भी अधिक स्तम्भ होते हैं। प्रासाद क अंग आदि* जो होते हैं तथा उस क क्षण स और मण्डप म समवास्तु पद अपनी बुद्धि स विषम क्षण स बनाना चाहिय। वहा पर कोइ दोष नही होता है ॥ ३३ ५८½ ॥

मण्डप-दारू-कला—अब इस के बाद मण्डपावलम्बित दारु-कला का वर्णन करता हूं। जैसा समतल होता है, उसी प्रकार से वहा पर विभाग बताया जाता है। प्रासाद के विभाग मे राजसेन तो एक भाग वाला होता है। दो भाग से वेदी समझनी चाहिये और उसी प्रमाण से मत्तवारण और चन्द्रावलोकन बनाना चाहिये। पट्ट और आसन आधे आधे भाग से बनाया जाता है। सपाद एक भाग से कूट स्तम्भ प्रकल्पित किया जाता है और शीर्षक तथा भरण भी पाद-सहित एक भाग से इष्ट होता है। यह समतल मे करना चाहिये और कही पर विषम भी होता है। अब दूसरे प्रकार से एक भाग वाली पट्टों का विधान किया जाता है। ऊर्ध्व पट्ट के नीचे और तल-पट्ट के ऊपर अथवा त्रिभाग मध्य पद मे वह बनाई जानी चाहिये। उस के नीचे चन्द्रावलोकन मे पाच पदों से विभाग करना चाहिये। एक भाग से राजसेन, दो भाग की वेदिका और उसी प्रमाण से मत्तवारणक बनाना चाहिये। दश भागो मे विभक्त क्षेत्र मे अथवा चार से चन्द्रावलोकन बनाने चाहिये। दो भागो से वेदी और उसी के समान मत्तवारण बनाना चाहिये। रुमहार तो एक भाग से और उसी प्रमाण मे कठिका बनानी चाहिये और मत्तवारण पात तीन अंश हीन एक पाद के प्रमाण मे बनाया जाता है अथवा भाग के आधे मे उन दोनों के मध्य मे मध्यम पात होता है। कूटागारो मे यही मान और वही मान आसन-पट्टक मे बताया गया है। आसन का परिकल्पन दो भाग के विस्तार मे बताया गया है। उसका पिंड दो भाग वाला और तीन अंश कम मत्तवारण। वेदी मे पिण्ड-पट्ट के सहित होता है और उसी प्रकार से कूटागर मे होता है और राजसेन का भी पिण्ड तो कूटागर के ही समान होना है। कुम्भिका और उस का पिण्ड भी मानानुसार परिकल्पन विहित है। राजसेन के समान कुम्भी और वेदी के समान जंघा होती है। इस प्रकार से यह तीन प्रकार का बताया गया है। अब सूर्य-च्छाद्य का वर्णन किया जाता है। नीचे के पट्ट से लगाकर ऊपर के पट्ट तक पाच विभाग करने चाहियें। दो के अथवा तीन से भी पट्टो-विधान है। यह सब पट्ट के समान होता है। इस के बाद तेरह भागो से विभाजित क्षेत्र मे ऊपर सूर्प का भाग छोडदेना चाहिये। इस प्रकार से घटना बारह अंश वाली होती है। सूर्प का निपात पाच भाग के प्रमाण से करना चाहिये। मध्यम को छोड कर सूर्प को दण्डो मे विभूषित करना चाहिये। वेदी और मत्तवारणक के मध्य मे स्तम्भिका का न्यास करना चाहिये। पट्ट का पिण्ड तो एक भाग से अथवा पाद सहित एक भाग से करना चाहिये। पट्टक मे मोटाई छै भाग

के पिण्ड-तुल्य होना चाहिये। पट्ट के समान स्तम्भ बनाना बनाना चाहिये। तदनन्तर तिगुना शीर्षक बनाना चाहिये। स्तम्भ से भी अधिक कूटो, हीरक से भी अधिक पट्टक तथा उसमे शुकनासा की ऊचाई बाह्य-पट्ट के समान होती है। पट्ट-पिण्ड की ऊचाई से अथवा पट्ट से अधिक वेदी होती है। मण्डप मे तुला की ऊचाई आठ विभागो के प्रमाणो से होती है। स्थल-प्रासाद के तुल्य अथवा पातानुकूल नीचा ऊचा स्थल छेदिका के योग से विद्वान् लोगो के द्वारा छादित किया जावे और कठक को यथा-प्रमाण विशेषज्ञो के द्वारा बनाया जावे। छेदिका के योग से मध्य मे बाहर से अधिक स्तम्भ बनाने चाहियें— केश के अन्त से शालभञ्जिकाओं का निर्माण पाच अश से अथवा आठ अथवा छैं अश से निर्माण करना चाहिये। पट्टिका के ऊपर रथिकाओं और शाल-भञ्जिकाओ के द्वारा मध्य मे बाराटक अथवा मनोज्ञ कमल का निर्माण करना चाहिये। पुन यहा छादन भी विमान-बहुल विहित है। क्षणो के अन्तरावकाशो मे श्रीम्पिका-तोरण की रचना करनी चाहिये। अन्यथा वह गोल अथवा कहीं चौकोर होता है। गजतालु स युक्त पट्ट के ऊर्ध्व भाग मे आठ कोण होते हैं और मध्य मे और बाहर से अठ-कोण पक्तिया बनानी चाहियें। स्तम्भिका सूत्रा-नुसार नाना-प्रमाण छादन मे विहित हैं। पट्ट और घटा के अन्तरावकाश का विभाजन तेईस भागो मे विभाजित करना चाहिये। घटा के ऊपर डेढ भाग समुन्नत पद्म-पत्रिका-सन्निवेश करना चाहिये और उस के ऊपर अन्य विच्छित्ति डेढ भाग से होती है। ग्रास-सयुक्त कपोत डेढ भाग मे उन्नत होते हैं। कठक तो और अमर भी तो दो दो भाग वाले होते हैं। तीन भाग वाले गजतालुक म दो भाग का निकास बनाना चाहिये। अन्य अलङ्करण कोई दो भाग वाला होता है। एक एक का निर्गम सूत्र-मार्ग से अपने प्रमाणानुसार बनाना चाहिये अथवा सूत्रधार को विचार करके स्वय निर्गम का प्रकल्पन करें और समान भागो से और पत्रो से तथा विकटो और पद्म-पत्रको से, हस्ति तुडो और वरालो से, शालभञ्जिकाओ से, पट्टको से और भल्लिका-तोरणो से चतुष्किका को अलकृत करना चाहिये। आकाशचारियो से, माल्य-बन्धो से नाना प्रकार के कर्म-वितानो से, कल्पवृक्षो से अथवा शुक्तियो से, पद्मो और नाग-पाशो से बुद्धिमान् को मडप का छादन करना चाहिये। अब बाहर से मण्डप का वर्णन किया जाता है। मौलिक द्वार से पादकम दुगुना नही पर ड्योढ़ा अथवा कहीं पर सवाया अथवा कही पर तीन अशो से अधिक प्रमाण से मण्डप म चतुर्द्वार का सन्निवेश करना चाहिये। दरवाजे पर दो प्रतीहार तथा भल्लिकान्तोरण, दोनो स्तम्भो के शाल-भञ्जिका के साथ दो दो वराल बनाने चाहियें। भद्र भद्र

पर प्राग्रीव और बाहर रथिका और वेदिका न्यास करना चाहिये। मण्डप के ऊपर और शिखर के नीचे आधे भाग से छेद पट्ट और शेष से संवृति बनाना चाहिये। अन्य विधान भी विहित हैं। प्रासाद में शुकनासा का सन्निवेश तो विहित है। मण्डप की ऊंचाई अपनी निचाई से करणीय है—वामन आदि से लगाकर अनन्त तक जो पहिले दस ऊंचाईयां बताई गई हैं, उनके मध्य से मण्डप मे कोई ऊंचाई करनी चाहिये। इसके बाद उदय के तीन भाग करके एक भाग से घंटा बनवाना चाहिये और उस के तीन भाग से तिलक और तिलक के आधे से फासना तीन क्रियाओ से अथवा पांच शूर्पों से निर्माण इष्ट होता है। स्कन्ध-छाया के बाद अन्य कल्पनों तथा भद्रों और कर्णों म यथोचित शोभा प्रकल्पित करनी चाहिये। वीथियों से, चन्द्रशालाओं से, सुन्दर सिंह-कर्णों से, रथिकाओं से और वरालों से तथा मनोज्ञ तिलकों से इसी प्रकार शुकनासा, राज-सिंह आदि आदि कर्म-प्रभेदों से मण्डप मे भूषण क्रिया का सम्पादन करना चाहिये। अथवा तीन प्रकार के कूट, मघट, कक्ष-कूटक तिलक अथवा उस के अग्र, खुर, छाद्य (पट्ट-सहित) तथा शृङ्ग आदि कर्म-प्रभेदों से मण्डप की सम्वृति करनी चाहिये। शुकनासा की ऊंचाई के ऊपर मण्डप की ऊंचाई नहीं करनी चाहिये। नीचे जहां पर जो बताई गई है, उस को तो बिना शंका के बनाना चाहिये। वलभी प्रासाद मे शुकनासा तक मंडप की ऊंचाई करनी चाहिये। मण्डप मे तथैव विधान है, और न उस को पुर-मध्य म, जहां पर उस प्रकार के मण्डप की ऊंचाई होती है, वह नहीं करनी चाहिये। हीन अथवा अधिक प्रमाणों मे, दुष्ट वास्तु-सन्निवेशों म अथवा द्रव्यों के हीन अधिक प्रमाणों म पद पद पर अनर्थ उपस्थित होते है और इस प्रकार पुर की ऋद्धि नहीं होती और पुर के मालिक को भय रहता है ॥ ५६½—११४½ ॥

इस प्रकार सुन्दर प्रमाणों से लक्षणों से और सद्-विधान से मण्डपों के निर्माण से बनाने वाला ऋद्धि और सिद्धि को प्राप्त करता है। साथ ही साथ बनवाने वाले को भी इस लोक मे ऋद्धि, सिद्धि के साथ कल्याण होता है और जय प्राप्त होती है ॥ ११५ ॥

दशम पटल

जगती-प्रासाद
जगती-वास्तु

१. जगत्यन्न-समुदायाधिकार
२ उनतालीस जगतिया

टि० वैसे तो जगती का सामान्य अर्थ पीठ है, परन्तु जगती प्रासाद भी हैं, जो ग्रामो, पुरो, पत्तनो, खेटों की शोभा एव पूजार्थ, उत्सवार्थ आदि के लिये ये स्थान हैं।

अथ जगत्यङ्ग-समुदायाधिकार

देव-मन्दिरों की भूति-सम्पादनार्थ तथा पुर की शोभा-हेतु मनुष्यों की भुक्ति और मुक्ति के लिये और सर्वकाल-शान्ति के लिये, देवों के निवास के लिये, धर्मार्थ-काम-मोक्ष-रूपी-चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिये, मनस्वियों की कीर्ति, आयु और यश की प्राप्ति के लिये जगतियों का (भूमिकाओं का) अब सविस्तर वर्णन करता हूं ॥ १—२½ ॥

यतः प्रासाद ही तीनों जगतों का नयन है, अतः भगवान् भर्ग के समान प्रासाद को लिंग बताया गया है। अतः उसी के आधारवश जगती को पीठिका माना गया है। जैसे लिंग तथा पीठिका वैसे ही प्रासाद तथा जगती। आकार, विस्तार और ऊंचाई निल-कादों का विभाग, भद्रों का विस्तार और निर्गम, जलाधार-प्रवेश, निर्गमोद्गम-प्रवेश, नालाओं की मान-सख्या तथा उनके सस्थान और मान, लक्षण, परिक्रम आदि नाना अङ्गों, तीन प्रकार की सज्ञाओं को भी इनकी षड्प्रकारता और उत्पत्ति का कारण मूलशाला की परिच्छित्ति, उसका परिक्रम तथा विनिर्गम, सचय, द्वार, सोपान, मुडिका तथा अडोत्पत्ति आदि से युक्त सब लक्षणों से अब यथावत् वर्णन करता हूं ॥ २½—६ ॥

चौकोर, बराबर, प्रशस्त, मनोज्ञ, सर्वत-प्लवा, चतुरश्रायता अथवा वृत्ता या वृत्तायता अथवा अठकोण वह जगती सशोधन करके बनाना चाहिये। सस्थान अथवा उन्मान के लक्षणों से देवागार का निरूपण करके पास में उसी आकार वाली जगती का न्यास करना चाहिये। वह जगती कनिष्ठा, मध्यमा और ज्येष्ठा इन भेदों से तीन प्रकार की होती हैं। कनिष्ठ-प्रभृति-प्रासादों में इन जगतियों का नियोग कहा गया है। भ्रमणियों के साथ साथ क्रमिक अन्य विस्तार प्रासाद के अनुरूप सागोपाग आदि सख्या से उनकी मनोरम शालाओं का सन्निवेश बताया गया है। अब सामुदायिक कर्म-वर्णन किया जाता है। यहा पर शास्त्रानुसार सब आयाम एव विस्तार विहित है। आसन के आधे से तो पञ्चाश शाला प्रासाद से होती है। प्रासाद के अनुसार जो शालायें बहु-देव-कुला होती हैं, उन शालाओं के यहा पर अब प्रकारों का वर्णन करता हूं। उनके छै भेद होते है—कर्णोद्भवा, भ्रमोत्था, भद्रजा, गर्भ-सम्भवा, मध्यजा और पार्श्वजा। कर्णजा-शाला का प्रमाणानुकूल विधान

होता है। भ्रमजा शाला तो उस प्रमाण से भी घिरी हुई होता है। भद्रजा शाला कर्ण-जाति वाली कही गयी है। वह प्रमाण-पुरस्सरा बताई गई है। भ्रमजा और मध्यजा ये दोनों शालायें कर्णजा शाला के आयत प्रमाण से बताई गई हैं। पार्श्वजा शाला भ्रमजा के आयाम तुल्य होती है। अब उनका स्थान कहा जाता है। कर्णों में कर्णजा शाला प्रसिद्ध है। परिभ्रम में भ्रमजा शाला बताई गई है, भद्रों में भद्रजा शाला समझनी चाहिये और तीनों के मध्य में गर्भजा शाला प्रकीर्तित की गई है। पाचों के मध्य में जो शाला व्यवस्थापित की जाती है, उस को मध्यजा कहते हैं। पार्श्व स्थान में जो चार शालायें होती है, उनका भी यथा-विधान प्रकल्पन विहित है। प्रासाद के आधे से भ्रमन्ति का निर्माण करना चाहिये। अन्य विस्तार तथैव विहित है। देवालय के अनुसार ये आठ विचक्षणों के द्वारा बनाये जाते है। भद्र-मालाओं के अनुरूप उनका विभाजन बताया गया। उनके चतुर्वर्ग विभाजित शाला-कद बताये गये हैं। वहा पर चार पद वाली अन्य निर्मिति होती है और द्वादश पद से भ्रम का निर्माण किया जाता है। उसी क्रम से शाला-कद का निवेशन करना चाहिये। उसके ऊपर तो शाला-समूह के विभाजन मे भ्रम नही होता है। भद्र से यह भ्रम होता है और कर्ण निर्गम धारण करने वालो का विधान नही। रूचक के ही समान कर्ण-देश से परिक्रम करना चाहिये। शाला के अनुसार कदक बाहर भद्र मे चार पदो के विस्तारो से निर्गम का निर्माण करना चहिये। सलिलान्तर का विस्तार एक भाग से अथवा वही पर आधे भाग से करना चाहिये। क्षोभण दो पद के प्रमाण से बनवाना चाहिये। और प्रासाद का विस्तार दे कर आगे सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। भ्रम से दो पद निगत उसी के मानानुसार दो मडा का निर्माण करना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ, प्रासादो के विस्तार-प्रभेद से तो ग्र य विधानों का कर्ण मे विनिर्गत बनाने चाहियें और वे माला एव सोपान से युक्त, प्रतीहार-समा-कुल होने चाहियें। आगे प्रतोली का निर्माण करना चाहिये। यह प्रतोली (फाटक) दृढ अर्गला से सपन्न बनानी चाहिये ॥ १०—३५½ ॥

जगती-पीठ अब जगती-पीठ का वर्णन करता हू। वह एक हस्त वाले विस्तार के समान ऊचाई वाले प्रासाद मे विचक्षण लोग बनाते हैं। दो हस्त वाले मे तो पादकम और तीन हाथ वाले मे तीन अग कम। चार हाथ वाले मे दो ढाई हाथ से उन्नत तथा अन्य प्रमाण भी। कनिष्ठ मध्यम और ज्येष्ठ इन ऊचाइयों को क्रमश कल्पित करें। कर्ण-शाला के आधे से, अथवा

पादकम अथवा उसी के समान इस प्रकार से ज्येष्ठ और मध्यम प्रासादो की जगती वर्ण-प्रासाद के प्रमाण से ऊची होती है। जगती-पीठ की जो ऊचाई होती है उसको प्रमाण के भागो से विभाजित करना चाहिये। एक भाग से खुरक तथा एक भाग से अन्य कल्पन बनाना चाहिये। कुम्भ का खुरक एक भाग वाला और दो भाग वाला कुम्भक होता हे। कलश एक भाग की ऊंचाई से और उसी प्रमाण से अन्तक्पत्रक। एक भाग वाली वरडी और उसी प्रकार एक भाग से पट्टक का निर्माण करना चाहिये। जगती का खुरक तथा अन्य भागो का निर्माण विहित है और उसी प्रकार से कपोताली और पट्टिकाओ का प्रवेश और नासिकाओ की वर्तना तथा मनोहर निम्ब एवं उन्नत प्रवेश उसी प्रकार बनाने चाहियें। चित्र-विचित्र मनोज्ञ, अनेक शिखर-युक्त कूट, नीचे सुविभक्त शालाओ के कन्दक बनाने चाहियें। स्थान स्थान पर उचित सुन्दर सुन्दर कर्म-शोभा के लिये प्रासादो के पीठो पर ये सम्पादन करने चाहिये। जिस प्रकार से राजाओ का सिंहासन मणि-प्रकाशों से दीप्त होता हैं, उसी प्रकार से प्रासाद-राज का यह पीठ उत्तम कर्मो से दीप्त होता है। पट्ट के ऊपर उत्कृष्ट राजसेनक का निर्माण करना चाहिये और वह भार-पुत्रको से शोभित और पुष्पित कमलो मे युक्त होना चाहिये। उस के आधे से नानापत्र-समाकुला वेदिकायें देना चाहियें। पुन रूप-सघटनादि-विच्छित्तियो से उसे निर्माण करना चाहिये। उसके ऊपर उत्तम अथवा अन्य विधान बनाने चाहियें। दर्ण-शालाओ के तथा तल-पाद के दोनो अर्ध-पट्टो के अन्तरावकाश पर राजसेन-युक्त वेदी का तीन भाग से निर्माण करना चाहये। तल पर राजसेनक वेदिका के आधे से अथवा तीन भाग से बनाना चाहिये। वेदी के ऊपर मनोहर कूटागार तीन भाग से बनाना चाहिये और मत्तवारण हस्तमात्र ऊचाई वाला बनाना चाहिये। सुख-लीला के लिये भोजनादि के लिये प्रवेश-सहित तथा निर्गम-सहित बनाना चाहिये और उसी प्रकार से प्रतोली के आगे विधान है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम प्रभेद से तीन प्रकार का तोरण समझना चाहिये ॥ ३५½ ५५½ ॥

इस प्रकार से जगती के आयतन का और प्रासाद के पीठ का यह विधान वर्णित किया गया। साथ ही साथ अब आगे अन्य विवरण बताये जाते हैं ॥५६॥

जगती—लक्षण

वसुधा, वसुधारा, वहन्ती, .. ?, श्रीधरा, भद्रिका, एकभद्रा, द्विभद्रिका, त्रिभद्रिका, भद्रमाला, वैमानी, भ्रमरावली, स्वस्तिका, हर-माला, कुन्द-शीला, मद्दीधरी, मन्दारमालिका, अनग-लेखा, उत्सव-मालिका, नागारामा, मारभव्या, मकरध्वजा, नद्यावर्ता, भूपाला, पारिजातकमजरी, चूड़ामणिप्रभा, श्रवण-मजरी, विश्वरूपा, आदिकमला, त्रैलोक्य-सुन्दरी, गन्धर्व-बालिका, धिष्यावरकुमारिका, सुभद्रा, सिहपञ्जरा, गन्धर्व-नगरी, अमरावती, रत्नधूमा, त्रिदशेन्द्र-सभा और देवयन्त्रिका—ये उनतालीस सख्या जगतियो की कही गयी हैं। छै और—यमला, अम्बुधरा, नेत्रा, दोर्दण्डा, खडला और सिता ॥ १—८ ॥

वसुधा '— अब इन जगतियो का क्रमश और शालाओ का यथोक्त ठीक ठीक प्रविभाग बताया जाता है। प्रमाणानुरूप विभाजित चोकोर क्षेत्र मे अन्य विधानपुरस्सर मडप को छोडकर क्षेत्रानुसार जगती का न्यास करना चाहिये। मध्य देश मे दो भागो के प्रमाण से प्रासाद और एक भाग से भ्रम। सामने के दोनो पार्श्वों पर शास्त्रानुकूल श्रीखडिकायें बनानी चाहियें। इस प्रकार मत्तावारण से युक्त प्रतोली आदि से विभूषित वसुधा नाम की पहिली जगती बनायी गयी है ॥ ९—१३ ॥

वसुधारा—वसुधा वसुधारा हो जाती, जब आगे की शाला से युक्त होती है और जब उसमे प्रासाद के प्रमाण मे सामने निर्गम बनाया जाता है। उसका विस्तार उसी प्रकार से करना चाहिये फिर उसको चार भागो मे विभाजित करना चाहिये। एक भाग वाली भ्रमणी और शेष शाला दो भागवाली और गुण्डिका भी पर्वोक्त प्रमाण से आयत होती है ॥१४—१६½॥

श्रीधरी—और फिर वसुधा जब कर्ण और शाला इन दोनो से राजसिहवा होती है, तथा प्रासाद के आधे से दोनो कर्णों पर उसका न्यास करना चाहिये। अपने प्रमाण के आधे से उन दोनो पर भ्रमणी का प्रकल्पन करना चाहिये। मूल प्रासाद के विस्तार से सामने शुण्डिका बनानी चाहिये। वसुधा-शाला के सामने राजहसपुरस्सरा यदि है, तो वह श्रीवरी बनती है ॥ १६½—१८½ ॥

भद्रिका—जब हसिका के स्थान पर दो अपर कर्णो पर दो शालायें होती हैं, तो उसी के रुप से और प्रमाण से भद्रिका बनती है ॥१८½—२०½॥

एक-भद्रिकादि-चतुष्टय-जगती—सोलह अंश से विभाजित चौकोर क्षेत्र में पूर्वोक्त क्रमानुसार इच्छानुसार मुखायत मण्डप के आयाम-संयोग से यथा-भाग-विभाजित क्षेत्र मे, मध्य मे चतुर्वर्ग-पदाङ्कित दीवालें बनाना चाहियें। बाहर चारो तरफ उस के भ्रम का निर्माण दो पद के विस्तार से करना चाहिये। भ्रमण से युक्त दो पद के आयाम और विस्तार के प्रमाण से कर्ण-शाला का सन्निवेश चारो दिशाओं मे कर्ण कर्ण पर करना चाहिये। दो पद के विस्तार और तीन पद की लंबाई से पदिका और भ्रमणी बनानी चाहियें और सुन्दर सुन्दर भद्र-शालायें बनानी चाहियें। दोनो शालाओं के मध्य मे चारों तरफ से सलिलान्तरो का सन्निवेश करना चाहिये। वे एक पद से प्रवेश वाले और उस के आधे से विस्तार वाले होते हैं। शाला के पृष्ठ-भद्र पर इस प्रकार से चारो जगतिया – एक-भद्रा, द्विभद्रिका, त्रिभद्रिका तथा भद्रमाला निर्मेय है।

॥२०½—२७½॥

वैमानी—बीस भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे षड्वर्ग-लक्षण वाला मध्य मे देवालय का निर्माण करना चाहिये। देवालय के चारो तरफ तीन पद वाला परिक्षय होता है। तदनन्तर शाला-विभाग पूर्वोक्त लक्षण से करना चाहिये। पाच भाग की लम्बाई तथा अन्य विस्तार आदि मध्य मे भद्र-शालाओ का निर्माण करना चाहिये और उन के मध्य मे एक भाग के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भद्र के दोनो पार्श्वों पर दो पद के आयाम और विस्तार से दो और शालायें होनी चाहियें एव अन्य कल्पन भी। उन दोनो का एक भाग के प्रमाण से प्रवेश होता है। इस प्रकार तीनो दिशाओं पर तीन तीन शालायें होती हैं। एक भाग से निस्सृत छै जल-मार्ग बनाने चाहिये और वे तीनो दिशाओं मे एक भाग के प्रमाण से प्रवेश वाले हो। दो भाग के प्रमाण से सामने दो कर्ण बनाने चाहियें। इस प्रकार यह विमान (वैमानी) सुर, असुर, नर से पूजित होती है॥ २७½—३४½॥

भ्रमरावली—शुण्डिका के अग्र-भाग पर यदि इस (वैमानी) मे शाला प्रासाद की मुख-शाला का सन्निवेश हो, तो सम्मुख किन्नरो, सिद्धो से संस्तुत भ्रमरावली नामक जगती शाला प्रसिद्ध होती है॥ ३४½—३५½॥

स्वस्तिका—मुख-शाला-विहीन और पास की दो शालाओं से युक्त उसी रूप वाली और उसी प्रमाण वाली स्वस्तिका नाम की जगती होती है॥

३५½—३६½॥

हर-माला—प्रासादाभिमुख-शाला यदि स्वस्तिका हो, तो वह हरमाला नाम की जगती ससार मे विख्यात होती है॥ ३६½—३७½

कुलशीला—मुख के दोनो पार्श्वों पर एक भाग के प्रमाण से जो सलिलान्तर का निवेश होता है तथा भद्र के प्रमाण से निर्गम बनाकर प्रासाद-सम्मित सूत्र गलभूषित शालाये और तदवस्थित मुख मे शाला के बिना यदि शुण्डिका होती है, तो उसे हस-मालागमाश्रया कुलशीला नाम की जगती समभनी चाहिये। वह जगती महेश्वर की सदैव और विशेषकर स्कन्द की प्रिय मानी गयी है ॥ ३७½ ४०½ ॥

महीधरी:—इसी जगती के सम्मुख मुखभद्र मे जब शाला बनायी जाती है, तो महीधर-मनः-प्रिया महीधरी-नामक जगती विख्यात होती है ॥४०½-४१½॥

मन्दार-मालिका—अट्ठाईस भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र में चौसठ पद वाला (वास्तु-भेद) देवालय बुध लोग बनाते है और देवालय के चारो तरफ चार पद के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भ्रम-सूत्र के दो पद के आयत और विस्तार वाले कर्ण-स्थान बनाने चाहियें। एक भाग के भ्रम से वेष्टित चार शालायें बनानी चाहियें, उनके पार्श्वो पर भ्रम से चार भागो को छोडकर यथानुकूल भागो से आयत और विस्तृत शाला-कन्द का निर्माण करना चाहिये। पार्श्व की दोनो शालाओ पर एक भाग के विस्तार से कर्ण-न्यास कहा गया है। मध्य भाग मे जलमार्ग का विधान दो दो भाग से विस्तृत उसकी तीन भागो से आयत बनाना चाहिये। भद्र और पार्श्व-स्थित जल-शाला इन दोनो के अन्तर से जलमार्ग होता है। और वह भाग के आधे से लम्बाई वाला और उतने ही प्रमाण से प्रवेश वाला होता है। इसी प्रकार से तीनो दिशाओ मे सम्पादन कर शुण्डिका-कन्द के मध्य से प्रासाद के आधे आयाम वाले दो तुण्डो का निवेश करना चाहिये और उन दोनो मे भ्रम-क्रम से विभूषित दो शालाओ का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार से हरमनः-प्रिया मन्दार-माला-नामक जगती विख्यात होती है ॥ ४१½—४६½ ॥

अनङ्ग-लेखा—शुण्डिका मे ही जब शाला सम्पन्न होती है तो इस को अनङ्ग-लेखा के नाम से प्रकीर्तित किया जाता है ॥ ४६½-५०½ ॥

उत्सव-मेखला:—इसी मे ही जहा पर मुख-शाला के बिना विन्यास करने पर शुण्डिका और गण्ड आदि का न्यास करने पर वह उत्सव-मालिका नाम की जगती होती है ॥ ५०½—५१½ ॥

नागारामा:—वही जगती (उत्सवमालिका) जब मुखशाला से प्रसयुत होती है, तो नागारामा-नामक जगती के नाम से विख्यात होती है ॥ ५१॥

मारमध्या.—बत्तीस भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे चौसठ पद के वास्तु-प्रमाण से मध्य मे देव-मन्दिर का निर्माण करना चाहिये। इस के चारो

तरफ चार पद वाला ठीक तरह से भ्रम की रचना करनी चाहिए। दो पद के आयाम वाले भ्रम-संयुक्त शाला में भद्र और कर्ण इन दोनों के मध्य में दो भ्रमन्तियों का निर्माण करना चाहिये। उनमें सोलह पद वाले कद और चार पद वाली शालायें बनानी चाहियें। चारों ही कर्णों में भ्रम से उत्पन्न प्रवेश होते हैं। दो पद के आयाम से दो भद्र शालाओं में बनाने चाहियें और वे विस्तार से परस्पराभिमुख होते हैं। लम्बाई से दो अंश के विस्तार वाली तथा एक पद से घिरी हुई और साथ ही साथ साढ़े तीन पद से निकली हुई भद्रशाला का विधान करना चाहिये। सौम्य, अनिल तथा वरुण सम्बन्धी दिशाओं में और नैर्ऋतीय तथा याम्य इन दोनों दिशाओं में भी तीन तीन शालायें प्रत्येक दिशा में विहित है तो ऐसी जगती मारभव्या कहलाती है॥ ५२--५८½॥

मकरध्वजा—इसी के ही मुख में यदि शाला का सन्निवेश किया जाता है तो उस जगती को मकर-ध्वजा के नाम से पुकारा जाता है। यह देवताओं को आनन्द देने वाली कही गई है और इस के बनाने से मोक्ष प्राप्त होता है॥ ॥५८½—५६½॥

नन्द्यावर्ता—मुख-शाला को छोड़ कर जब सम्मुख दोनों कर्णों में एक शाला का सन्निवेश किया जाता है, तब उस जगती को नन्द्यावर्ता नाम से पुकारा जाता है॥ ५६½—६२½॥

भूपाला—जब इस के पृष्ठ वंश पर विकर्ण कन्दादि दो भाग के आयाम और विस्तार वाली सुन्दर शाला बनाई जाती है, तब उस को ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रिया भूपाला नाम से जाननी समझनी चाहिये॥ ६०½—६२½॥

पारिजातक मञ्जरी—जब इसके पृष्ठ वंश पर स्थित शालाओं का त्याग हो, तब उस को पारिजातक मञ्जरी-नामक जगती कहते हैं॥ ६२½-६३½॥

चूडामणि-प्रभा—जब शाला से निर्गम सम्मुखीन होता है और वलगा शालायें भी हों, तो तो वह चूडामणि-प्रभा नामक सर्वदेव-प्रिया जगती विख्यात होती है॥ ६३½—६४॥

श्रवण-मञ्जरी—चौकोर क्षेत्र में चारों तरफ चौकोर दस अंश के प्रमाण से मध्य में प्रासाद नायक का निवेश करना चाहिये। दोनों पार्श्वों में इसी प्रकार विधान है। उस के भ्रम पांच पदों से बनाने चाहियें। भ्रममुख से बाहर स्थित कर्णभद्रों का निर्माण करना चाहिये। दो भाग के आयाम विस्तार वाले षट् शालोपशोभित भद्र-कदों का एक पद के अधिक प्रमाण से इसी क्रम से निर्माण करना चाहिये। मानानुरूप कर्ण कर्ण पर दो अंश के आयाम और

विस्तार वाली शालायें होनी हैं। दो भाग के प्रमाण से जलाधार होते हैं और एक भाग से परिभ्रम होते हैं। भ्रम-पद्धति से युक्त एक पद के प्रमाण से प्रवेश वाले जलपद होते है वे चारो कर्णो और तीनो भद्रो पर तुल्य होते हैं। दो भाग से विस्तीर्ण और तीन भाग से आयत मानानुकूल भ्रम बनाने चाहियें और शेष शुण्डिका और गड-मडन पहिले के समान बनाना चाहिये। इस प्रकार की यह तीनो लोकों को आनन्द देने वाली श्रवण-मञ्जरी-नामक जगती प्रसिद्ध होती है॥ ६५—७२॥

विश्वरूपा तथा त्रैलोक्य-सुन्दरी—दस पदो से श्रवण-मञ्जरी के विभक्त होने पर दो भाग के आयाम और विस्तार वाली चौथी शाला का निवेश करना चाहिये। जल और क्षण-पुरस्सर उनके मुखो की रचना करनी चाहिये। सब शालाओ का तो परिक्रम सब तरफ से एक भाग के प्रमाण से होता है। भद्र और कर्ण से दो भाग के प्रमाण से अन्य निर्माण है। दो भागो के विस्तार से भद्र मे दूसरी कर्णिका होती है। सोलह पदो से युक्त चित्र-विचित्र भ्रमो से विभ्रमा इसकी भद्रा होती है और सामने से सम्वृतान्तरा चतुष्की होती है। प्रभूत स्तम्भो से मडित श्रीमडप का निर्माण करना चाहिये। यह मडप वितानो से छादित एव शोभित करना चाहिये। इस प्रकार तीन चतुष्किकाओ से युक्त यह त्रैलोक्य-सुन्दरी-नामक जगती सम्पदित होती है॥ ७३—७८॥

गन्धर्व-बालिका—बारह पदो से विभाजित चौकोर क्षेत्र मे तीन भाग के आयाम और विस्तार मे मध्य मे चतुर्मुखी शाला का न्यास करना चाहिये। सब तरफ से डेढ भाग के प्रमाण से पद पद्धति का निवेश करना चाहिये। उसके पूर्व दिशा मे पुन चारो शालाओ का निवेश करना चाहिये। और वे दो भागो के आयाम और विस्तार से सुन्दर बनवानी चाहिये और वे एक भाग के अलिन्दक से घिरी हुई होनी चाहिये। कक्षा मे स्थित दो भाग वाली कर्णिकाओ से अलकृत होनी चाहियें। इस प्रकार से भगवान् शिव की इष्ट यह गन्धर्व-बालिका-नामक जगती निष्पन्न होती है॥ ७९—८३½॥

विद्याधर-कुमारिका—यही गन्धर्व-बालिका जगती, जब [illegible] चौथी शाला से युक्त है, तो उसे विद्याधर-कुमारिका-नामक [illegible] चाहिये॥८३½—८४½॥

सुभद्रा—जब अपर दिशा मे चौथी शाला को छोड कर न्यास हो तो वह देवप्रिया सुभद्रा जगती सन्निविष्ट होती है॥८४½—८५½॥

सिंह-पञ्जरा—चारो भद्रो मे जो विधान हो तब उसे सिंह-पञ्जरा-नामिका जगती कहते हैं॥८५½—८६½॥

? तथा गन्धर्व-नगरी —चौदह भागों मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे तीन भागों के आयाम और विस्तार के प्रमाण मे मध्य म देव-मन्दिर का निवेश करना चाहिये। तदनन्तर तीनो दिशाओं म एक भाग से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। प्रासाद के आयाम और विस्तार वाले उस के अग्र भाग म प्रधान मडप का सन्निवेश होता है। भद्र के दोनों पार्श्वों मे भी विधान विहित है। तीन पद के आयाम और और विस्तार वाली दो शालायें बनानी चाहिये। दो भाग के आयाम विस्तार वाली तथा एक भाग के प्रमाण मे निर्मित भ्रमण से युक्त दो शालायें सामने परस्पर सम्मुख से बनानी चाहिये। उस प्रकार म जब शुभ पृष्ठ भद्र निर्मित होता है तो दक्षिणोत्तर दो चतुश्शालायें सम्पन्न हो जाती हैं तो यह . ? जगती होती है। जब इस का पृष्ठ-भद्र मध्य शाला से समन्वित हो तब उस जगती को गन्धर्व-नगरी नाम से पुकारते हैं॥ ८६½-९२॥

अमरावती '— पञ्च-शालाओं मे यम जहा पर आठ भद्रों का सन्निवेश देखा जाता है, तब वह छत्तीसवी जगती अमरावती के नाम से विख्यात होती है॥९३॥

रत्न-धूमा— शुण्डिका के अग्र भाग म जब उसकी शाला कही सम्पादित होती है तब जगत्प्रिया वह जगती रत्न-धूमा नाम से पुकारी जाती है॥९४॥

त्रिदशेन्द्र-सभा तथा देव मन्त्रिका—जब शुण्डिका शाला दो गड शालाओं से युक्त होती है तब इसे त्रिदशेन्द्र सभा-नामक जगती समझना चाहिये और शुडो सहित वही जगती देव-मन्त्रिका नाम से पुकारी जाती है। ९५॥*

` यमला —सात भाग मे आयत और पाच भाग मे विस्तृत क्षेत्र म बायीं और दायीं दो भाग के आयाम और विस्तार वाली दो शालायें होती है तथा उन के आगे एक भाग से चतुष्किका की रचना की जाती है और मध्य मे चारो तरफ एक भाग से भ्रम का विधान किया जाता है। इस प्रकार मे प्रतोली म भूषित खड-शुडिकाओं स अलकृत और मत्तवारणों की शोभा से प्रशस्त यह यमला नाम की जगती निष्पन्न होती है॥ ९६½ ९६½॥

अम्बुधरा (पयोधरा) तथा नेत्रा —जब पीछे मे तीन भाग के विस्तार मे विस्तृत और तीन ही भाग से निष्क्रान्त पुन चार भागों मे, विभाजित कर का निवेश किया जाता है और दो भाग के आयाम और विस्तार वाली शाला और दो भागों के प्रमाण से भ्रम बनाये जाते हैं, तब पयोधरा नामक जगती

*टि०—इस प्रकार से चौकोर जगतियों का विवरण बताया गया है अब चतुरायत जगतियों का लक्षण कहा जाता है॥ ९६½॥

सम्पन्न होती है और नेत्रा जगती आगे और पीछे की दोनों शालाओं से होती है ॥ ९९½—१०१ ॥

दोर्दण्डा—पूर्व एवं पश्चिम दिङ्मुखीन विस्तारों से गर्भ और प्रवेश एक भाग के प्रमाण से पहिले के समान विभाजित करना चाहिये। अन्य विकल्पन, पूर्ववत् होते हैं। इस प्रकार यह दोर्दण्डा प्रथित होती है ॥ १०२—१०४½ ॥

आखण्डला—दोर्दण्डा नामिका जगती के पार्श्व में भी यथाशास्त्र दिशाओं में जब दो शालायें होती हैं, तब उसे आखण्डला नामक जगती कहते है ॥ १०४½—१०५½ ॥

सिता—जब आखण्डला जगती के पीछे शाला बनाई जाती है, तो वह सिता नामक जगती बनती है ॥ १०५½—१०६½ ॥

माहेन्द्री—याम्यी एवं वारुणी दिशायें जब तीन शालायें कल्पित होती हैं, तो उसे माहेन्द्री जगती कहते हैं ॥ १०६½ १०७½

पल्लविका—यथाशास्त्र-सिद्धान्त प्रकल्पन से यह पल्लविका जगती बनती है ॥ १०७½—११३

विद्याधरी—गण्ड-तिलक-परस्पर दो शालाओं के विन्यास से वह विद्याधरी होती हैं ॥ ११४ ॥

यक्ष-कुमारिका—तीन भागों से विस्तृत और दो भागों से विनिष्क्रान्त यदि विद्याधरी का पृष्ठ शाला का तल हो, तो उसके पृष्ठ भद्र में यक्ष-कुमारिका नामक जगती का विनिर्देश होता है ॥ ११५ ॥

त्रिकूटा—दश भागों से आयत, छै भागों से विस्तृत क्षेत्र में दो भाग के आयाम और विस्तार वाली तीन शालायें बनानी चाहियें। उस के आगे उन्हीं के समान यथा प्रमाण मण्डपों का निवेश कर्म शोभा की विभूति के लिये यथेच्छ निर्माण करना चाहिये। उनके चारो पार्श्वों पर यथा विधान भाग से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। पुनः मत्तवारणों से युक्त और शुण्डिका-गण्डों से मण्डित वह होती है। इस प्रकार यह त्रिकूटा नामक जगती प्रसिद्ध होती है ॥ ११६—११९ ॥

चित्रकूटा—पहले ही के समान वशस्य तीन भाग के आयाम से विस्तृत हो तो वह चित्रकूटिका-नामक जगती होती है ॥ १२० ॥

सरनिकूटी—जिस प्रकार पृष्ठ पर उसी प्रकार आगे भी शाला बनाई जाती है, तब उसे सरनिकूटी नाम की जगती समझनी चाहिये ॥ १२१ ॥

.. ?—यथा-शास्त्र प्रकल्पित .. ? नामक जगती संसार में प्रसिद्ध होती है ॥ १२२ ॥

शैवी—सभी दिशाओं एवं उप-दिशाओं मे स्थित कर्ण-प्रासादों से युक्त ये सब विच्छित्तिया विहित हैं। कर्ण कर्ण पर निर्मित कन्द के चार भाग करना चाहिये। दो भागो से शाला और एक भाग से भ्रमण का निर्माण करना चाहिये। शेष तो भ्रमण वहा पर मध्य पार्श्वों से बनवाना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी द्वार के दोनो पार्श्वों पर एक भाग से निष्क्रान्त और उसी प्रकार से आयत और विस्तृत दो शालायें बनानी चाहिये। ढाई अंश से विस्तृत पृष्ठ भद्र का निर्माण करना चाहिये। डेढ भाग वाली शाला से युक्त दो भाग वाला निर्गम बनाना चाहिये। तदनन्तर इस के दक्षिणोत्तर दिशा पर दो शालायें बनानी चाहिये। शेष भ्रम तदनन्तर सातों शालाओं के मध्य से होना चाहिये। इस प्रकार अखिल अमर-वृन्द की प्रिया यह शैवी जगती प्रसिद्ध होती है॥ १२३—१३१ ॥

त्रिविक्रमा.—जब इसके मुख मे शाला का सन्निवेश होता है, तब त्रिविक्रमा नामक शुभ जगती विख्यात होती है॥ १३२ ॥

त्रिपथाः—जब डेढ भाग मे विनिष्क्रान्त और ढाई अंश से विस्तृत दो पार्श्व भद्र और दो शालायें एक भाग से विस्तृत होवें पुन शाला की शुडिका के अग्र मे वही फिर त्रिपथा नामक जगती होती है॥ १३३—१३५½॥*

वलयाः—चतुर्भाग विभाजित चौकोर क्षेत्र के मध्य भाग मे डेढ अंश के आयाम और विस्तार से एक गोल देव-मदिर बनाना चाहिये। और तदनन्तर एक भाग से जगती का वृत्त भ्रमित करना चाहिये। पूर्वोक्त विधि से पार्श्व मे मत्तवारण बनाना चाहिये। गोपुर-द्वार की शोभा से प्रशस्त जगती वलया होती है॥ १३६ १३८½॥

कलशा—और वलया के पृष्ठ भाग पर मूल-शाला की बराबर लम्बाई वाला कद निर्मित होता है और पहिली बताई गई विधि से विभक्त शाला का निर्माण उसके आधे से करना चाहिये। इस प्रकार कलश की आकृति वाली यह कलशा नामक जगती विख्यात होती है॥ १३८½—१३९ ॥

कर्णा —कर्णा मे दो पद के आयाम से कर्ण की चार शालायें स्थित होनी चाहियें और वे चारो चौकोर होती हैं, उसे कर्णा कहते हैं॥ १४० ॥

*टि० इस प्रकार यमसादि-त्रिपथान्त चतुरश्रायत जगतियों का वर्णन किया गया, अब वर्तुल—वृत्त-जातिक जगतियों का वर्णन किया जाता है॥१३५॥

करवीरा — सात भाग के आयत चौकोर क्षेत्र में आगे तीन भागों को छोड़ दें, साथ ही साथ पार्श्व के साढ़े तीन भागों को छोड़ कर तदनन्तर गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दो भाग के आयाम और विस्तार वाला गोला देव मन्दिर होता है। इस का भ्रम एक भाग से चारों तरफ बनाना चाहिये। भ्रमणी के पीछे एक भाग से भूषित कद का सन्निवेश करना चाहिये। उस के आधे से शाला और उस के आधे परिभ्रम होता है। गर्भ से दो भाग के अन्तरावकाश में पूर्व और पश्चिम दिशाओं मे दो भाग के प्रमाण से दो कद होते हैं और वे आधे भाग से प्रवेश वाले होते हैं। पृष्ठ शाला के ऊपर स्थित टेढ़े सूत्र प्रदत्त भ्रम के समीप यम और वायु इन दोनों की दिशाओं में दो कर्णिकायें बनानी चाहियें। तदनन्तर पृष्ठ-शाला के समान अन्य शालाओं का निर्माण करना चाहिये। पूर्व और पश्चिम कन्द-गर्भ के दो सूत्रों के योग से दोनों पार्श्वों पर तीक्ष्ण कर्णिका का सन्निवेश करना चाहिये। शेष शुण्डिका आदि की क्रिया सब पहले के समान होनी चाहिये। इस प्रकार से ईश आदि देवों की प्रिया यह जगती करवीरा नाम से प्रसिद्ध होती है॥ १४१—१४८॥

नलिनी — इसी के पृष्ठ भाग पर जब आठ कर्णिकायें होती हैं और बायें भाग पर दो शालायें बनाई जाती हैं, तब वह नलिनी नामक जगती बनती है। ॥१४६॥

पुण्डरीका —प्रथम विन्यास यथा-शास्त्र। तदनन्तर दिशाओं और विदिशाओं में उस के सूत्र का सम्पात करना चाहिये। प्रासाद भवन के अन्त में दो पद के आयाम और विस्तार वाले आठ कन्द उन आठों सम्पातों में चारों तरफ बनाने चाहियें। उन को चार भागों में विभाजित कर दिशाओं पर भ्रमों का सन्निवेश करना चाहिये और फिर कदों के अन्तर से आठ कर्णिकायें बनानी चाहियें। अन्य विधान भी कल्प्य है। कर्णिकाओं के दोनों पार्श्वों से उसी प्रकार का सस्थान होता है। इस प्रकार से सब भद्रों को विभक्त करके अन्दर तीन पद वाला देव-मन्दिर बनाया जाता है। पार्श्व-भद्र को दस भागों में विभाजित करने पर यह होता है। बाहर दिशाओं और विदिशाओं में दो पद वाले कन्दों का सन्निवेश करना चाहिये। वे पराङ्मुख हों और उनमें यथोक्त शालायें बनानी चाहियें। अद्वितीय सामर्थ्य वाले भगवान् विष्णु की यह पुण्ड-रीकाभिधाना जगती होती है॥ १५०—१५६॥

आतपत्रा: इसके कर्णिका-स्थान मे जब वृत्त प्रकल्पित होता है, तब आतपत्रा-नामक जगती होती है और वह ब्रह्मा के लिये बनायी जाती है ॥१५७॥

चक्रवाला —वृत्त को आयत बना कर फिर उसे दश पदों से विभाजित करना चाहिये। उसके मध्य मे तीन पदो से देवागार का निर्माण करना चाहिये। उसके पार्श्वों मे ढाई भाग के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। बाहर का वृत्त दो भागो के प्रमाण से बनाकर फिर वहा पर यही क्रिया करनी चाहिये। फिर उसको तुल्य प्रमाणो से बारह भागो से विभाजित करना चाहिये। फिर एक २ भाग को चार भागो से विभाजित करना चाहिये। मध्य मे दो भाग के आयाम विस्तार वाली शाला बनायी जाती है और एक भाग के प्रमाण से चौकोर भ्रम बनाना चाहिये। बायें और दायें भाग पर जो दो शालायें होती हैं, वे दोनो परस्पराभिमुख और वृत्त बनाना चाहिये। अन्य विस्तार भी अपेक्षित हैं। इस प्रकार से यह जगती चक्रवाला नाम से विख्यात होती है। यह जगती दिवाकर भगवान् सूर्य के लिये बनाना चाहिये अथवा ग्रह-सहित चन्द्रमा के लिये बनाना चाहिये ॥ १५८—१६५½ ॥

प्राच्या :—दश भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे गर्भ से कोण-गामी सूत्र से सब तरफ वृत्त का आलेखन करना चाहिये और वह वृत्त बाहर से तीन पद के प्रमाण से होता है। कन्द चार पद वाला होता है। दो पद के आयाम से और डेढ़ भाग के विस्तार से शाला का निर्माण करना चाहिये। शेष तो भद्र-शाला का चारो तरफ भ्रमण होता है और भद्र के दोनो तरफ से भाग के विस्तार से ही वृत्त होते हैं। वृत्तो के अन्तर से एक भाग के आयाम और विस्तार वाली दो शालायें होती हैं। दक्षिण, पूर्व और उत्तर—इन तीनो दिशाओ मे तीन भद्र होते हैं और वे विस्तार मे डेढ़ भाग के होते हैं। उनके आधे से भ्रमण युक्त सुन्दर शालायें चारो विदिशाओ पर होती है। भद्र के मध्य मे स्थित शाला को छोड कर यह प्राच्या नाम से जगती होती है ॥ १६५½—१७० ॥

चन्द्र-मण्डला :—डेढ़ आयाम के विस्तार से और उसके आधे भ्रमण से युक्त वह जगती पुष्टि के लिये, नक्षत्र सहित चन्द्रमा के लिये बनानी चाहिये। दश भागो मे विभाजित चौकोर क्षेत्र मे पाच भाग मे आयत मध्य मे वृत्त शाला प्रकल्पित करनी चाहिये। फिर देव-मंदिर के बाहर डेढ़ भाग के प्रमाण से भ्रमण और कर्णगामी कर्ण-शालायें बनानी चाहियें। कर्ण के प्रमाण से बाहर का वृत्त चारो तरफ से घुमा कर भद्र, उप-भद्र और कर्णों मे वृत्त

शालाग्रो का प्रकल्पन करना चाहिये। दो पद के समान लम्बाई वाली और तीन पद से विस्तृत और एक भाग के भ्रमण से युक्त भद्रजा शालाग्रो का सन्निवेश करना चाहिये। भद्र के दोनो पार्श्वों पर तथा प्रतिरथो पर दो २ शालाये होनी चाहिये। एक भाग के ग्रायाम और विस्तार वाले आधे परिभ्रम विहित है। बाहल्य और ग्रायाम से डेढ भाग वाले शाला के अर्ध कर्ण-गामी इनके आधे मान से परिभ्रम का विधान करना चाहिये। आधे पद से प्रविष्ट भद्रो पर दो प्रतिरथ बनाने चाहियें। इस प्रकार के प्रमाण से चन्द्र-मण्डला नामक जगती बतायी गयी है ॥ १७१—१७८ ॥*

मातुलिङ्गी.—अब वृत्तायत छै जगतियो का वर्णन करता हू। पाच भाग के आयत क्षेत्र वाले, विस्तार से चार पद वाले आयत वृत का विधान करना चाहिये और मध्य मे तीन पद से आयता और ढाई पद से विस्तृता, मत्तवारण सयुक्ता, प्रतोली-अलकृता, सोपन आदि से भूपिता यह शुभा अमर-वल्लभा मातुलिगी नामक जगती बतायी गयी है ॥ १७९—१८२½ ॥

घटी—इसके जब पृष्ठ पर दो भाग के ग्रायाम एव विस्तार से शाला सम्पन्न होती है तब उसको घटी नामक जगती समझना चाहिये ॥१८२½-१८३½ ॥

श्रायमती—उन्ही रूपो मे वाम एव दक्षिण जब दो शालायें हो तो उसे ग्रायमती जगती कहते है ॥१८३½—१८४½ ॥

कालिङ्गी.—घटी के सब कर्णों म यदि दो भाग के ग्रायाम विस्तार से पूर्व क्रम से विभाजित भ्रम-सयुक्त शालाये हो, तो इस जगती को कालिङ्गी नाम से पुकारा जाता है ॥१८४½—१८६½ ॥ **

मातृका—अब ग्रठकोण (अष्टाश्रि) सस्थान वाली शुभ-लक्षण जगतिया का वर्णन करता हू। चौकोर क्षेत्र का सपाद दश भागो से विभाजित कर तदनन्तर कर्ण २ पर तीन पद के प्रमाण से सूत्र को छोड देना चाहिये। सवा चार भागो को मध्य देश मे बचावे। इस तरह ग्रठकोण सुरालय उसके आधे म बनता है। ग्रष्टाश्रि के मध्य भाग म स्थित दाप स भ्रमण होता है और प्रासाद चार दरवाजे वाला और चार मडपो से युक्त होता है। मूत-

---

*(१) टि० शेष वो गलित होती प्रतीत हैं।

*(२) टि० वृत्ता जगतियों के लक्षणों के उपरान्त अब वृत्तायत जगतियो—मातुलुङ्गी से लगा कर कालिङ्गी तक के लक्षण कहे जाते हैं।

**टि० अब अष्टाश्रि जगतियों का वर्णन किया जाता है।

कन्दानुरूप मुख्य-लिंग का निवेश करना चाहिये। मूलकंद के आधे से दिशाओं और विदिशाओं में कंदों का सन्निवेश करना चाहिये। ये एक समान प्रमाण वाले होते हैं तथा चतुर्भाग-विभाजित संख्या में आठ होते हैं। और भ्रम-शालाओं का पूर्वोक्त क्रम से परिकल्पन करना चाहिये। सोपान, शुण्डिका और गडों तथा गोपुरों आदि से अलंकृत होना चाहिये। पुन: पहिले के समान अठकोण बना कर फिर भद्र को दो भागों में विभाजित करें। भद्र के दोनों पक्षों में आधे भाग से निकास बनाना चाहिये। उसके विस्तार को छ: भागों में विभाजित करके उनमें से तीन पदों से निकास होता है। दोनों पार्श्वों में पीछे और आगे परिगम होता है। बाकी दो शालायें दो भाग के आयत से बनवाना चाहिये और वे डेढ भाग के विस्तार से होती हैं। इसी प्रकार से भद्र, भद्र पर विन्यास होता है। तीन पद के आयाम और विस्तार से कर्ण-भद्र का विधान करना चाहिये। उसके चार भाग करके एक भाग से भ्रमण बनाना चाहिये और शेष से तो दो पद के आयाम और विस्तार से तो शाला समझनी चाहिये। सभी विदिशाओं में यह बड़ा ही सुन्दर न्यास होता है। मूल शाला तो कन्द के आधे में और तदनन्तर अर्ध भ्रम का न्यास होता है। इस विधान से यह मातृका-जगती होती है ॥ १८६½—२००½ ॥

शेखरा :—तीन भागों से निर्गत भद्र एवं कन्द ११ पदों से होता है। चार भाग के विस्तार से और तीन पद के आयाम से कन्दक होता है। तब तीन भद्रों से विभूषित शेखरा नाम की जगती सम्पन्न होती है। इस जगती में नित्य प्रति आनन्द और प्रमोद होते हैं और अनेक देव-वृन्दों के स्थान से सुशोभित रहती है ॥२००½—२०२½ ॥

पद्म-गर्भा —पहिले के समान चार भागों में विभाजित अठकोण क्षेत्र में दो भाग के आयाम और विस्तार से निर्मित प्रासाद में तथा दसवें भ्रम में कोनों में सम विस्तार वाले आठ कंदों का निवेश करना चाहिये और एक भाग में विस्तृत उन सब का पृथक् पृथक् न्यास करना चाहिये और वे चार भाग के निर्गम में एक भाग के भ्रमण से युक्त होते हैं। दो भाग के आयाम और विस्तार से मध्य में दो शालायें होती हैं। इस प्रकार से प्रजापति के मन को प्रिय लगने वाली पद्मगर्भानामा यह जगती प्रसिद्ध होती है। और यह जगती धात्री आदि देवियों के चित्त को सदैव प्रसन्न करने वाली होती है ॥२०२½—२०६½ ॥

अंशुमतीः—अठकोण बना कर उसके आधे आयाम और विस्तार से मध्य मे देव मन्दिर बनवाना चाहिये और उसके आधे प्रमाण से बाहर भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भद्र बाहर से और चार से विनिर्गम होता। उसके भद्रो का निर्गम भी चार पद वाला होता है और उनका विस्तार छै पद वाला होता है। फिर उसको चार भागो से विभाजित करना चाहिये। आधे भाग से शाला और वह तीन भाग से आयत होती है। अन्य विधान भी हैं। पद के दो भाग के आयाम और विस्तार वाली भ्रम की दो शालायें होती है। इस प्रकार यह अंशुमती—नामक शुभ-लक्षण जगती बताई गई है ॥२०६½—२१०॥

कमलाः—अठकोण क्षेत्र बना कर और उसके आधे के प्रमाण से मध्य मे देव-मन्दिर बनाना चाहिये और उसके आधे से बाहर भ्रम का निर्माण करना चाहिये। प्रासाद के समान प्रमाण से भद्र का निर्माण करा कर तदनन्तर उसके चौदह भाग करने चहिये। इस का निर्गम दस भागो से होता है। मौलिक भ्रमण के अन्त मे तीन पद के आयाम और विस्तार से अति सुन्दर शाला बनवानी चाहिये और वह डेढ भाग के भ्रम से युक्त होना चाहिये। उसके दोनो पार्श्वों पर दो पद के आयाम विस्तार वाली एक भाग के भ्रमण से युक्त दो मनोज्ञ शालायें बनानी चाहियें। पाच भाग से विस्तृत प्रति-भद्र का विधान कहा गया है और तीन भाग से प्रविष्ट का विधान कहा गया है और वही तीन भाग वाली शाला होती है और उस शाला का विस्तार दो भागो से होता है और एक भाग वाले भ्रमण से वह युक्त होती है। प्रति-भद्र के दोनो पार्श्वों पर एक भाग के प्रमाण से निर्गत दो कर्णिकायें होती है और उन का आयत डेढ भाग का होता है। दो शालाओ से युक्त कर्ण होते हैं। शुडिका आदि पहिले के समान होते है। इस प्रकार से कमला नाम की यह जगती बताई गई है ॥ २११—२१७ ॥

वज्र-धाराः—चौदह भाग मे विभक्त सात २ मे विधान हो, पुन उन मे पाच शालायें बनानी चाहियें। मुख-भद्र मे तो तीन उत्तम शालायें बनानी चाहियें। इस प्रकार से विशेषज्ञो ने इसे वज्रधर-प्रिया नामक जगती बतायी है ॥ २१८—२१९ ॥

इस प्रकार चतुरश्र, चतुरश्रायत, वृत्त, वृत्तायत एवं अष्टाश्रि—इन सभी आकार वाली प्रासाद-जगतियो के लक्षण बताये गये हैं। अतः शिल्पियो को सदैव सावधान हो कर इन का निर्माण करना चाहिये ॥ २२० ॥

एकादशम पटल

प्रासाद-लिंग-पीठ

१. प्रासाद-गर्भ मे स्थाप्या प्रधाना प्रतिमा लिंग है
२. लिंग-प्रकार-भेद-प्रभेद-ग्रादि
३. लिंग-पीठ प्रकल्पन तथा उसकी विधायें,
४. मेखला-प्रणाल-ब्रह्म-शिलादि-कल्पन-विधान
५. ग्रावश्यक एव ग्रनिवार्य ग्रन्य विधान

अथ प्रासाद-लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

लौह-लिंग —अब लिंगो का प्रमाण और लक्षण बताया जाता है। लौह-लिंग (कनिष्ठ-प्रभेद) तीन हाथ के प्रमाण से बताया जाता है। दो अंश से वृद्ध इस प्रकार से तीन हस्त के प्रमाण नौ हस्त तक प्रमाण होते हैं। वे ही ह्रस्व, मध्य और उत्तम सञक तीन २ अअल्पक आदि लिंग-भागो से प्रासाद के अनुसार बनाये जाते हैं ॥ १-३½ ॥

काष्ठ-पाषाण-मृन्मयादि-लिंग :—इससे दुगुने प्रमाण से लकडी से निष्पन्न लिंग होते हैं और पत्थर और मिट्टी के बने हुये तिगुने प्रमाण से परिकल्प्य होते हैं। अपने २ कनिष्ठ-भेद एक पद के द्वारा परिवर्तन से विद्वानों को लक्षण करना चाहिये ॥ ३½-८½ ॥

धातुज, पाषाण-निर्मित, मृन्मय, काष्ठ-विनिर्मित—सभी लिंगों में प्रमाण-पुरस्सर, पक्ष-रेखा भी अनिवार्य है *॥ ५½-६ ॥

सहस्र-लिंग :—पुत्रार्थियो के लिये और विद्यार्थियो के लिये पूजोपादेय लिंगो के लिये भी पक्षलेखा हितकारक बतायी गयी है। आठ से अथवा नौ से इसको विभक्त कर लेने पर फिर नीचे दो अंशो को छोड कर इष्ट मनोरथ को देने वाली यह पक्ष-रेखा छै अथवा मात से सम्पन्न होती है। अथवा सोलह भागो मे विभक्त करने पर नीचे दो अंश छोड कर अथवा अन्य अंशो मे छोडकर लिंग मे जितने भी अगुल होते हैं वे यव के तीन अंशो से उन्मित होते हैं। दोनो पक्ष-रेखाओ के अन्तर मे लक्षणोद्धारण करना चाहिये। रेखान्तरो मे यथाशास्त्र-सम्मत प्रमाण से रेखा म स्थान और विस्तार विचक्षणो को करना चाहिये। लक्षणोद्धार लौह-लिंग मे नही करना चाहिये। बाण-लिंगो एव चल-लिंगो के पूजाग के ऊपर से सब तरफ मे समान ग्यारह भाग करके एकानवे (९१) भागो मे शिर का विभाजन करें। असम पदो मे लिंगो की एक हजार एक सख्या होती है। इन लिंगो को सहस्र-लिंग की सज्ञा दी गई है और इसी प्रकार ये सहस्र लिंग बनाये जाते हैं ॥ ७–१४ ॥

मुख-लिंग —ऊपर के तीन भागो को छोड कर एक २ भाग से निर्मित

*टि० श्लोक भ्रष्ट है—केवल तात्पर्य स्वबुद्धि से भावार्थ निकाला है।

करना चाहिये। एक भाग से इसकी ग्रीवा और तदनन्तर दो भागों मे स्कन्ध एवं पाणि-युग्म एवं मुख चारों दिशाओं पर विधान करके इस प्रकार से यह चतुर्-मुखर्लिंग सम्पादित होता है और अर्चित होने पर सब कामनाओं को पूरा करता है। त्रिमुख-लिंग मे तो ललाट आदि अग पद-सहित एक अग से अलग २ बनाना चाहिये और शेष अश से स्कन्ध की रचना होती है। एक-मुख वाले लिंग मे डेढ अग से ललाट आदि की रचना होनी चाहिये। नौ भाग करने पर दोनों पार्श्वों पर दो २ भाग छोड देने चाहिये। यही विधि चतुर्मुख-लिंग म दोनों पार्श्वों पर होती हैं। डेढ २ भाग छोड कर अन्यान्य अग जैसे जटा-जूट धारण किये हुये शिर को आधे चन्द्र मे अलकृत करना चाहिये। पूर्वोक्त मार्ग से शिर की वर्तना करनी चाहिये। एक, दो, तीन, चार मुख वाले लिंगो के विस्तार से मुख-निर्गम होता है। सर्वसमादृत लिंग से मुख-लिंग का विधान नही करना चाहिये। सब मुख-लिंगो का पीठ दो दन्त के प्रमाण से इष्ट होता है। लोहर्लिंग और उसी के समान दारुज-लिंग और उसी के समान पाषाण-लिंग उन के ही विवरण आदि के चार हाथों के प्रमाण से बढा कर एक हजार हस्त प्रमाण आदि से निष्पन्न करना चाहिये। जो निरधार प्रासाद होते है, उनमे ये नवर्लिंग बताये गये हैं। बारह आदि साधार प्रासादो म पचास से एक २ आदि उत्तर हस्तो से पाषाण-लिंग बताये गय है अथवा प्रासाद के गर्भ-प्रमाण से पन्द्रह अशो से उत्तम लिंग (५ और ३) और नवाश पाच मे मध्य-लिंग और कनिष्ठ उसके आधे से होता है। उनके तीन २ के यथा-योग्य अन्तर से विभिन्न प्रभेद होते हैं। पूर्व-प्रतिपादित लिंगों के समान छै अन्य लिंग होते है, उनके भी तीन प्रकार के अवान्तर भेदो से पहले के समान वे सम्पन्न होते है। इस दिशा से काष्ठ लिंगो का कल्पन करना चाहिये। और जो आयस-लिंग है उनके दैर्घ्य के सोलह भाग करके चार भागों के विष्कम्भ से ये निर्मेय है। यह सर्वसम चतुरश्रक नाम वाला छै अशो से सम्पन्न होता है। कर्ण के अर्ध-सूत्र से कोण के लाञ्छित करने पर और शेष के लोप मे वह अष्टकोण हो जाता है। तदनन्तर कर्ण के दोनों अशो की हानि से उसके सात भाग करने से तथा गर्भ-सीमा के अर्ध-सूत्र से लाञ्छित करने पर वृत्त निर्मित क्रमश नीचे के, बीच के और ऊपर के भाग चतुरश्र (चौकोर) आदि होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के लिंगो मे लिंग की लम्बाई समान होती हैं॥ १५—३४½ ॥

लिंग के ब्रह्म-विष्णु-शिव-भाग :—ब्रह्मा और शिव से सम्बन्ध रखने

वाले दोनो भाग विधान करने चाहिये और लिंग का दैर्घ्य पीठानुरूप होना चाहिये। लिंग के विस्तार से दूसरे पार्श्व पीठ-विशिष्ट होते हैं। उसी के समान ब्रह्मा के भाग को लेकर अथवा देकर रुद्र-भाग बनाना चाहिये और उमा के समान ब्रह्म-भाग भी। ऐसा करने पर जो परिहृत आय-दोष होता है, वह बनाने वाले और बनवाने वाले के ऐसा करने पर शिव होता है। ऊपर तीन अंश के दान से बाल-चन्द्रों का वर्तन होता है। कुक्कुटाण्ड-सदृश-लिंग, अपुपी-सम-लिंग आदि लिंगो मे अष्टमांश छत्र-दान से एवं वर्तन से पुण्डरीक, विशाल, श्रीवत्स, शत्रु-मर्दन लिंग बताये गये हैं ॥ ३४½-४० ॥

लक्षणोद्धार-विधान :—लिंगो मे जो लक्षणोद्धार-विधान बताया गया है, वह अब कहा जाता है। लिंग के रुद्र-भाग को तीन भागो मे विभक्त करके दो भागो से लक्षणोद्धार करना चाहिये। शिरोद्धारण अथवा शिरोवर्तन वह इष्ट होता है अथवा आयतानन छै मे अथवा नौ अंश मे करना चाहिये। पक्ष-रेखा से रहित पार्श्वरेखा के तीन भाग से विस्तृत चौकोर पहले के समान अष्टकोण वह वृत्त होता है और छैं कोण छत्र-मस्तक वाला है तथा शत्रुमर्दन-संज्ञक-लिंग छत्र से समलकृत होता है ॥ ४१-४४ ॥

ऐन्द्र-लिंग :—इन्द्र से अर्चित लिंग पूर्व दिशा की ओर विजय-प्रस्थान करने वालो के लिये प्रशस्त माना गया है अथवा शत्रु का स्तम्भन करने की इच्छा रखने वाले के द्वारा इसकी प्रतिष्ठा होती है ॥ ४५ ॥

लोकपाल-लिंग :—इन लोकपाल-लिंगो मे वज्र की आभा वाले, मध्य भाग वाले ऐन्द्र-नामक लिंग मे इसकी पक्ष-रेखा का विधान अपने दैर्घ्य दल के पाच रुद्रांशो से करना चाहिये। मध्य वृत्त मे वह विस्तृत और चौकोर पहले के समान होता है। अपने अग्र-कोण-विवर्जित सात कोणो से युक्त वृत्त का निर्माण करना चाहिये और भी विवरण सापेक्ष्य हैं। अथवा दोनो पक्षो के तीन २ दफे ग्यारह भागो मे विभक्त करके लुप्त अंशो मे उन्नत छत्र इष्ट होता है ॥४६-४९॥

आग्नेय-लिंग :—अग्नि से अर्चित लिंग का निर्माण करके अग्नि की दिशा की ओर योजना करनी चाहिये। इसलिये शत्रु-सतापाभिलाषी राजा इसकी सदैव प्रतिष्ठा करते हैं ॥ ५० ॥

याम्य-लिंग —अपने दैर्घ्य के आधे नौ अंगो के पाच मे विस्तृत कुण्ड का निर्माण करना चाहिये। तीन २ अष्टांगो के विवरण से अन्य निर्माण सापेक्ष्य

है। सब तरफ से नौ भाग करके कोण-गामी तीन २ भागों को छोड कर बिना कोणो के और कोण के क्रमश: वृत्त बनावे। शिर को दश भागो मे विभक्त कर तीन भाग से लोपन दोनो पक्षो का करके दशवें अश से ऊचाई करनी चाहिये। पूर्ववत् लक्षण करना चाहिये और आगे से दण्डाग्राकार बनाकर दक्षिण दिशा मे स्थापना करनी चाहिये। यह वैवस्वत से अर्चित लिंग विजियाभिलापियो अथवा शत्रुओं के वध के लिये स्थापनीय है ॥ ५१ – ५५$\frac{1}{2}$ ॥

टि० खड्ग-प्राभ नैऋत्य लिंग के विवरण भी दिये गये हैं, जो मूल पाठ मे पूर्ण रूप से भ्रष्ट हैं—

नैऋत्य लिंग—यह लिंग खड्ग की अग्र-भाग की आभा के समान प्रशस्त होता है। इस तरह से इस का नाम खड्ग लिंग पडता है और इसकी प्रतिष्ठा नैऋत्य कोण मे करनी चाहिये। तदनन्तर भगवान् नैऋति ने इस की प्रतिष्ठा से दिगीशता प्राप्त की और शाकर-तत्व-योग को प्राप्त किया ॥ ५५$\frac{1}{2}$ –५७ ॥

वारुण-लिंग.—वारूण लिंग के निर्माण विवरण दिये गये है, परन्तु पाठ भ्रष्ट होने कारण विवण अनिर्धार्य है। इस का चिन्ह पाश की अग्र भाग की आभा के समान होता है। इस लिंग की प्रतिष्ठा कर के वरूण ने अपनी दिगीशता प्राप्त की और उसी प्रकार शकर योग को भी प्राप्त किया। यह लिंग शान्त और पुष्टिकारी है ।। ५८—५९ ॥

वायव्य लिंग—भ्रष्ट है—

पहले ही के समान वृत्त विधान बिना दूसरे पर छत्र करना चाहिये। इस का चिन्ह ध्वजा के अग्र भाग के समान होता है। इसी कारण—अपनी दिगीशता और शाम्भव योग को प्राप्त किया। इस लिंग की प्रतिष्ठा मनीषियो को वायव्य कोण मे करनी चाहिय ॥ ६०—६३$\frac{1}{2}$ ॥

एशान्य लिंग—यथा विधान इसका छत्र बनता है और इसका चिन्ह गदा के अग्र-भाग के सदृश होता है और इस को बनाकर अपनी दिशा के अधिपति हुये और इसी के द्वारा शाकर योग और विभूति को प्राप्त किया ॥ ६३$\frac{1}{2}$—६५ ॥

ब्राह्म-लिंग:—छै रुद्रांशो से विस्तृत चौकोर को विभक्त भाग मे तीन भागो को छोड देने से अठकोण (अष्टाश्रि) होता है और पार्श्वों पर वृत्त तो पहले के समान होता है और उस का शिर कुक्कुट के अडे के समान होता है। इस प्रकार शास्त्रोद्दिष्ट प्रमाण से यह कुक्कुट-अड कहलाता है। पूजा-भाग-समाश्रित तीन अश्रि करना चाहिये। शूल के अग्र भाग की प्रतिमा के समान इस ऐश्वर लिंग मे चिन्ह होता है। यह लिंग योग, सम्राज्य और ज्ञान सम्प्राप्तिकारक होता है। ब्राह्म-लिंग मे रौद्र के समान कुछ होता है परन्तु इस का

गिर पद्म कुडमल के समान होता है और ब्रह्मा के इस लिंग म कमल के आकार का चिह्न होता है। इस प्राजापत्य लिंग की प्रतिष्ठा करके प्रजापति ब्रह्मा ने अपना ऐश्वय प्राप्त किया। इस लिये श्रेष्ठ पद की इच्छा रखने वालों को इस की सदैव प्रतिष्ठा करनी चाहिये॥ ६६—७१॥

वष्णव लिंग — वैष्णव लिंग म सब काय रौद्र के ही समान होते है। इस लिंग मे गिर कुंतसन्निभ होता है। *यथा निर्दिष्ट भाग पर वैष्णव लिंग म* चिह्न बनाना चाहिये। पूण क्षत्र मे उत्पन्न होने वाला यह द्विजादिकों के लिये शुभ कहा गया है॥ ७२—७३½॥

द्रव्य भेदेन चल लिंग —शिला द्रव्य का सग्रह कराना चाहिये। यह पक्का हो अथवा बिना पका हुआ हो। अपकव मे वज्र लेपादि से निष्पन्न करना चाहिये। सीसा काच और त्रपु (ताँबा) से वर्जित लोहज लिंग ऐश्वय के लिये होता है और स्वण निर्मित शत्रु च्छेद के लिये सम्पन्न होता है। अथवा लोह लिंग मातृकादि गुह्यक आदि को सिद्ध करने वाला होता है। भिक्षुओं और मोक्षार्थियों के घरो म यह चल लिंग समस्त सम्पदाओं के लिये श्रेष्ठ होता है और शत्रु-नाश के लिये वह वज्र के समान होता है। पद्मराग निर्मित लिंग महा ऐश्वय के लिये होता है और मौक्तिक लिंग सौभाग्य के लिये। *पुष्पराग और महानील लिंग आदि भी अत्यन्त प्रशस्त है। यश और कुल की* सन्तति के लिये होता है और सूयकान्त मणि से निर्मित प्रताप के लिये प्रशस्त माना गया है। स्फाटिक लिंग सवकामना को देने वाला बताया गया। मणि निर्मित लिंग शत्रुनाश करने वाला होता है। शस्यर लिंग शस्य की निष्पत्ति करने वाला होता है। दिव्य सिद्धि देने वाला भी होता है आरोग्य *सम्पत्ति ऐश्वर्य भाजन होते है। उसी प्रकार अन्य मणि जातियां अर्थात्* मणियों से निर्मित विभिन्न जातियों के लिंगों म गुण से फल समझ लेना चाहिये।
॥ ७३½—८२॥

लिंग प्रतिष्ठा विशेषज्ञों का मत है कि वर्ण, अभिधान सस्थान आदि विशेष म लिंग ज्ञान अपेक्षित है। लिंग को पृथ्वी पर अथवा अपनी पीठ पर *नौ अंगुल म ऊंचा ही बनाना चाहिये। यदि वह सस्थान सन्निविष्ट और* सुशोभित होता है तो वह फल-दायक विहित है। समस्त मणि जात लिंगों की दीप्ति सान्निध्य के कारण तथा मानोमान प्रमाण आदि के निर्वाह म विद्वानों को ग्रहण करना चाहिये। पाषाण एक हाथ म नीचे कल्याणकारी होता और प्रासादों म प्रशस्त होता है। इसी तरह इन सब चर लिंगों के भी *विवरण कहे हैं॥ ८३—८८½॥*

शैलज —इन लिगो को भी समझना चाहिये। इन के तीनो भाग वृत्त होने चाहिये और इनकी प्रतिष्ठा कन्दराओ मे होनी चाहिये। क्षेत्र के परिगृहीत देश होने पर, यह राजा का नाश-कारी होता है ॥ ८८½ – ८९ ॥

टि० ८९½ ९३ भ्रष्ट हैं।

लिंग-पीठः - अब इसके बाद यहा पर पीठों का यथावत् वर्णन किया जाता है। मान से, नाम से और वैशिष्ट्य सिद्धि के लिये दिव्य, मानुष आदि लिंग-प्रभेद से परस्पर-प्रभेद भी परकल्प्य है। प्राधान्येन भुक्ति और मुक्ति के लिये इन पीठो का उपदेश किया गया। प्रासाद-गर्भ के प्रमाण से लिंग के समान इन पीठो का भी प्रकल्पन करना चाहिये ॥ ९४ — ९७½ ॥

जहा तक अव्यक्त लिंगो अथवा व्यक्त लिंगो की पीठिकाओ का प्रश्न है वही लिंगानुरूप विधान विहित है ॥ ९७½—९९ ॥

उत्तम आदि पीठो की सिद्धि-सम्पादन के लिये पीठिका यथा-शास्त्र निर्माण करना चाहिये। इन पीठिकाओ की आकृतिया नाना-विध होती है—वृत्ता चतुरश्रा आदि आदि। अब इन सब पीठिकाओ का लक्षण कहा जाता है। ऐन्द्र-लिंग के लिये पीठिका वृत्ता, पृथ्वी-स्तम्भ आदि मे चौकोर और चतुरश्रग्रह जो वर्ण होता है, उसको चतुराश के ... भागो मे बाट कर सात अशो से इस का निर्माण विहित है। पीछे के दोनो भागो पर दोनो पार्श्वों मे बाहर के सूत्र की अवधि तक दो वृत्तो का भ्रमण विचक्षण लोग बनाते हैं। पुन. नाना-विध जो लिंग बताये गये है—उन्ही के अनुरूप पीठिकायें परिकल्पित होती है—

अर्ध चन्द्रा —बारह अंशो को छोड़कर आधे वृत्त का अकन करना चाहिये। इस प्रकार से अर्ध-चन्द्र के आकार वाले इस लिंग की आकृति से उसी नाम की अर्थात् अर्ध-चन्द्रा यह पीठिका होती है। यह याम्य लिंग के लिये विहित है। ॥१००—१११॥

पूर्ण-चन्द्रा –चौकोर क्षेत्र मे दोनो पार्श्वों मे आधे आधे भाग की वृद्धि से और दो सूत्रों के निपातन से स्त्रीमरण, द्वेष और रोग कारी होती है। पूर्ण चन्द्र की आकृति वाली यह वारुणी शान्तिमय पौष्टिक और मृत्यु-नाश मे यह पीठिका होती है॥११२—११४½॥

वारुणी —भ्रष्ट हैं।

नामस्वती तथा याक्षी —छै कोण अथवा वज्र समान आकृति-समालेखन करना चाहिये। इस प्रकार वायु की दिशा मे यह नाभस्वती पीठिका यक्षादि उच्चाटन आदि कर्मों मे काम म लाने योग्य विजय की इच्छा रखने वाले वीरों के लिये प्रशस्त है। यह धन-प्राप्ति के लिये कुबेर मे पूजित तीन मेखला वाली गोल यह याक्षी नाम की पीठिका होती है ॥ ११४½—११६ ॥

पद्मा —खुरक और चार अंशो से जाड्य-कुम्भक का निर्माण करना चाहिये एक से कंठक तदनन्तर एक से कर्णिका का निर्यास फिर छै भागो मे कमल और एक से मेखला के न्यास होते हैं। इस प्रकार से सब कामनाओं को देने वाली यह पद्मा नाम की पीठिका विख्यात होती है ।। ११८ – १२१½ ॥

पयोधरा —सोलह भागो से विभाजित क्षेत्र मे एक भाग से खुरक होता है। चार भागों से जगती, तीन भागो से कुम्भ और एक भाग से कर्णिका फिर तीन भागो से कंठ और पहले के समान निर्गम होता है। व्यक्त लिंगों मे इस प्रकार पयोधरा-नामक पीठिका होती है।। १२१½—१२३½ ॥

वज्राक्षा —जगती तो तीन भागो से, कुम्भ दो से और एक भाग से वेदिका और कण्ठपीठ दो भागो से और फिर एक भाग से दूसरी वेदिका। एक भाग से तदनन्तर दो पीठिकाओ होती है इस प्रकार से छै बांणो की विद्वानों के द्वारा वज्राक्षा नाम की पीठिका बनाई जाती है ॥ १२३½ – १२६½ ॥

चन्द्रकला :—एक भाग से खुरक होता है, दो से जघा। तदनन्तर एक भाग से वेदी और कण्ठक भी तो दो भागो से । इस प्रकार यह चन्द्रकला नामक पीठिका होती है॥ १२६½—१२७ ॥

सवर्ता —पट् मेखला से आगे से ऊपर का कण्ठ एक भाग वाला होता है। शेष क्षेत्र मे निर्गम के अन्तरावकाश मे तीन पट्टिकायें होती है। इस प्रकार से रुद्र भगवान् शिव जी से अर्चित सवर्ता—इस नाम से पीठिका प्रसिद्ध होती है। यह वह पीठिका है, जिस को बनाकर सम्वर्तक आदि ने ऊर्ध्व पद को प्राप्त किया और अव्यय पद को प्राप्त किया ॥ १२८—१३० ॥

नन्द्यावर्ता –पीठ की ऊंचाई के सोलह भाग करके एक भाग से तीन पट्टिकाओं का न्यास करना चाहिये तथा एक भाग से कंठ और दूसरी पट्टिका भी एक भाग की होती है। नन्द्यावर्ता से अर्चित यह नद्यावर्तक नामक पीठिका कीर्तित की गयी है। यह पीठिका लिगों के लिये सर्व साधरणी है और सब प्रकार की सिद्धिया देने वाली है ॥ १३१—१३२ ॥

और बहुत सी अन्य पीठिकायें होती हैं। इनका मान और सद्भाव आनन्त्य कारण से नहीं बताया गया है ॥ १३३ १३४½ ॥

टि० अब मेखला, प्रणाल, ब्रह्म शिलादि-कल्पन के साथ साथ लिङ्ग के सान्निध्य में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों की कहां पर किस ओर प्रतिष्ठा करनी चाहिये तथा अन्य कौन विधान अपेक्षित हैं – ये सब बोधव्य हैं। उनका सारांश यहां दिया जाता है।

ब्रह्मशिलादि कल्पन —खातादि, आवतादि, मेखला, प्रणालादि-पुरस्सर पीठ एवं ब्रह्म-शिला लिङ्गों को जातियों की अनुगामिता-पुरस्सर य सब विधान विहित है। गर्भ-वर्ण के चतुर्थ अंश के प्रमाण से ब्रह्मा की शिला होती है

अथवा अन्य मानानुरूप कर्ण से ब्रह्म-शिला होती है। ब्रह्मा के अश से जितनी ही ब्रह्म-शिला होती है, विद्वानो को उतनी ही कर्म-शिला बनानी चाहिये। ॥ १३४½—१४० ॥

लिङ्ग-सविध-ब्रह्म-विष्ण्वादिको की निवेशन-विधि—यहा पर तीनो देवो को स्थापित करना चाहिये—मध्य मे शिव को, दक्षिण म ब्रह्मा को और वायें पुरुषोत्तम विष्णु को। इन के अन्यथा स्थापन से बडे दोष उपस्थित होते है। अन्य विवरण भी बोधव्य है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश — इन का यह क्रम निवेशन मे होता है। इनके दो दो साथ साथ और अलग २ के निवेश के प्रमाण बताये जाते है। जहा पर उमा-महेश्वर का निवेश अभिप्रेत हो, वहा पर उमा ब्रह्मा और विष्णु के समान विहित है। आकाश मे जो ज्येष्ठ प्रतिमा होती है, वह पैंतालीस हस्तो के प्रमाण से बनानी चाहिये। मध्या प्रतिमा तीन भाग से कम और कनिष्ठ उसके आधे से। यात्रा के हेतु प्रतिमा द्वार के भाग से बनायी जाती है और वह द्वार तीन भागो मे विभाजित कर एक भाग से पीठ का प्रकल्पन करना चाहिये। दो से प्रतिमा बनानी चाहिये। इस प्रकार से ज्येष्ठा प्रतिमा का यह मान हुआ। मध्या प्रतिमा मे द्वार को नौ भागो म विभाजित कर एक भाग को छोड देना चाहिये और शेष भागो को तीन भागो म विभाजित कर एक भाग से पीठ बनाना चाहिये। कनिष्ठा प्रतिमा म द्वार के आठ भाग करके एक छोड कर शेष से निर्मेय हैं। दो से पीठ का निर्माण करना चाहिये अथच अन्य विवरण भी बहुत से हैं, जो ग्रन्थ गलित होने म अविस्तार्य हैं। १४१—१५४ ॥

प्रासाद-गर्भ-अन्य-देवता-गणादि-पिशाचादि-विभाजन-क्रम—प्रासाद-गर्भ के पीछे प्रमाणानुरूप विभाजनोपरान्त पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, गुह्यक तथा अन्य देव एव देविया— विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें, भक्तगण आदि आदि भी प्रासाद पृष्ठ-प्रासाद-कलेवर आदि विभिन्न स्थानो पर स्थाप्य है।' १५५—१५७½ ॥

इन विवरणो स प्रासाद-लिङ्ग तथा प्रासाद-प्रतिमाओ के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-पुरस्सर मानादि-विधानो का वर्णन किया गया। य प्रतिमायें राजाओ की पूज्य हैं तथा जो शिल्पी प्रमाणानुरूप बनाते हैं, वे भी पृथ्वी पर आदर एव श्रद्धा के पात्र होते हैं ॥१५८॥

टि० यह प्रासाद-प्रतिमा स्थापत्य Temple-Sculpture **प्रासाद निवश से सम्बन्धित है। पूज्य प्रतिमायें गर्भ मे स्थाप्या है, अन्य यथोक्त प्रासाद-कलेवर पर स्थाप्या हैं।**

इति दिक्

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों मे विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहां तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियों, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदों का प्रश्न है, वह सब पाठक-जन विषयानुक्रमणी, मूल-परिष्कार एवं वास्तु-शिल्प-पदावली मे परिशीलन करें। अतः इस अनुक्रमणी के बृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदों की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है, परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों मे विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहां तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियों, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदों का प्रश्न है, वह सब पाठक-जन विषयानुक्रमणी, मूल-परिष्कार एवं वास्तु-शिल्प-पदावली में परिशीलन करें। अतः इस अनुक्रमणी के बृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदों की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है, परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

प्रथम-खण्ड

द्वितीय-खण्ड

पृ० सं० २४९—२७२

शास्त्र एवं कला

पुरातत्वीय निदर्शन

ILLUSTRATIONS
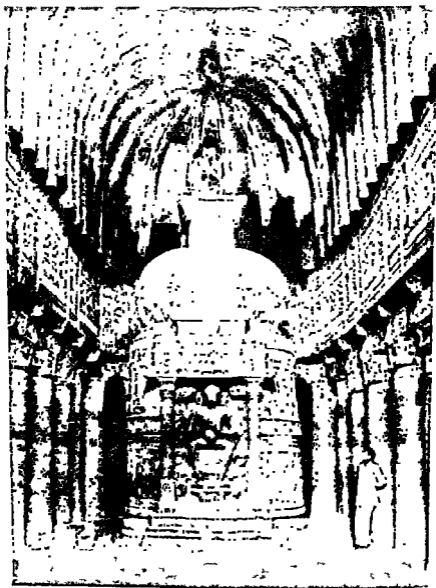
लयन प्रासाद—अजन्ता

गुहाधर– सभामण्डप प्रासाद अजन्ता

गुहराज—कैलाश, एलौरा

छाद्य प्रासाद—दुर्गा मन्दिर आयोहल
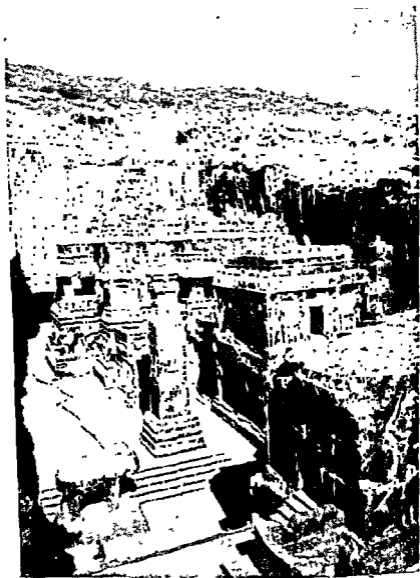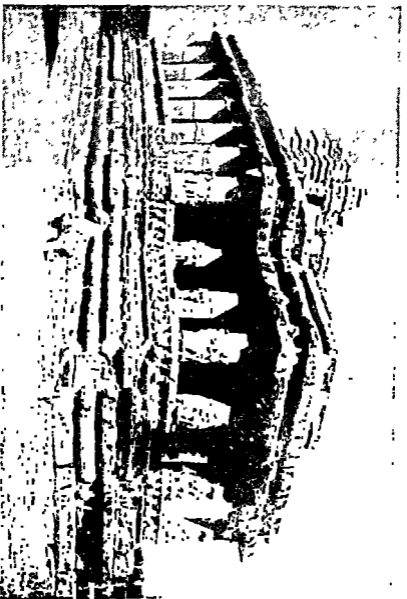
आद्य विमान—द्रौपदी-रथ महाबलि-पुरम्

भौमिक-विमान—कैलाशनाथ, काञ्ची-पुरम्

दक्षिण का मुकुट मणि श्री० वि० बृहदीश्वर तञ्जौर

विजयनगरीय नवीन विन्यास—विट्ठल मंदिर मण्डप
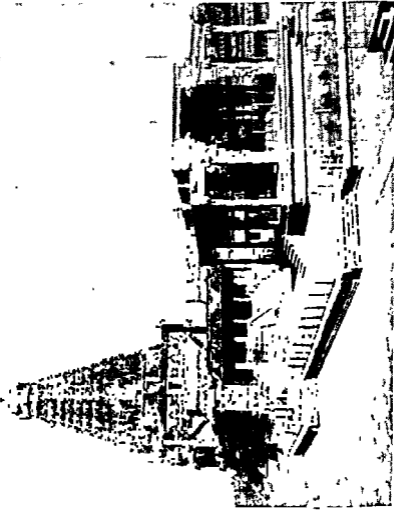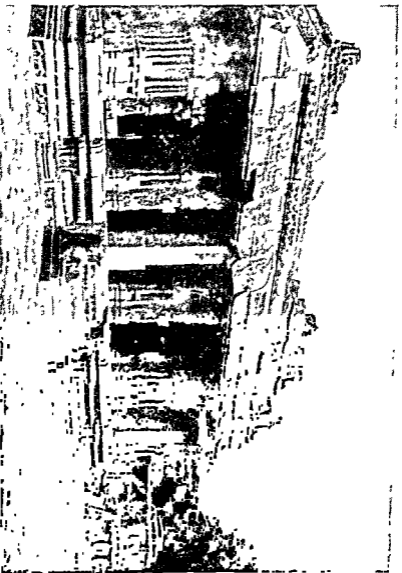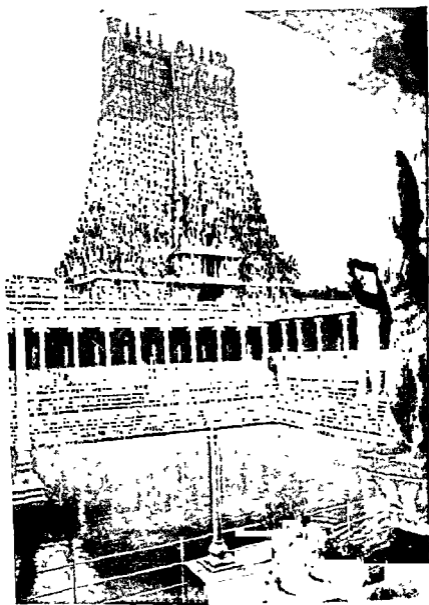
सर्वप्रसिद्ध मौमिक विमान-गोपुर — मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, मदुरा

रामश्वरम का दक्षिणा वरान्द (Corridor)

दाक्षिणात्य विमान निचय का तक्षण म प्रथसान—हैमसीश्वर (होयसलश्वर)—मन्दिर हलविड

उत्तरापथ की महाविभूति—लिङ्गराज भुवनेश्वर

दिव्याकृति—सूर्य मन्दिर, कोणार्क

कन्डरिया (क दरीय) महादव, खजुराहो

नाट शैली का सर्वोत्तम निदर्शन—सूर्य मन्दिर मोधारा गुजरात

काठियावाड़ की सर्वातिशायी कृति—रुद्रमल सिद्धपुर

खानदमारा सर्व-प्रमुख-निदर्शन—शिवालय अम्बरनाथ

भूमिज शैलीक (बंगाल विहार) का प्रमुख निदर्शन—जोरबंगला, विष्णुपुर

बौद्ध स्तूप प्रासाद साँची

बौद्ध—शिखरोत्तम-प्रासाद, बोधगया—गया

जैन-मन्दिर — आबू पर्वत

जैन मन्दिर माला—गिरनार पर्वत

जैन-मन्दिर-नगरी—पालीताना